

सचित्र

# श्रीमद्भाल्मीकि-रामायण

[ हिन्दीभाषानुवाद सहित ]

## अयोध्याकाण्ड पूर्वार्द्ध-२

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, एम० आर० ए०प्स०

---

प्रकाशक

रामनारायण लाल

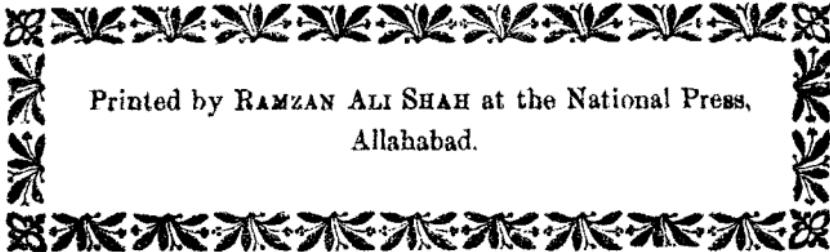
पटिलशर और बुक्सेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २००० ]

[ मूल्य ३ ]



Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press,  
Allahabad.

# अयोध्यकारण-पूर्वार्द्ध

की

## विषय-सूची

प्रथम सर्ग

१-१५

ननिहाल में भरत और शत्रुघ्नि । श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का वर्णन । श्रीरामचन्द्र जो को युवराजपद पर अभिषिक्त करने की महाराज दशरथ की अभिलाषा । तदनुसार समस्त राजाश्रों को अयोध्या में बुलवाना ।

दूसरा सर्ग

१५-२९

महाराज दशरथ का दर्खार । मंत्रियों के साथ महाराज दशरथ का परामर्श तथा महाराज के प्रस्ताव का मंत्रियों द्वारा अनुमोदन एवं श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा ।

तीसरा सर्ग

२९-४०

कुलगुरु वशिष्ठ जी की अनुमति के अनुसार अभिषेक की तैयारियाँ करने के लिये महाराज दशरथ का अपने मंत्रियों को आङ्गा देना । सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के महल में लिवा लाना और महाराज से मिल कर श्रीरामचन्द्र जी का अपने भवन को लौट जाना ।

चौथा सर्ग

४०-५१

महाराज दशरथ की आङ्गा से सुमंत्र का जाकर पुनः श्रीरामचन्द्र जी को लिवा लाना । महाराज दशरथ का श्रीरामचन्द्र जी के प्रति दुःखप्र का वृत्तान्त कहना । वहाँ

से निवृत्त हो श्रीरामचन्द्र जी का अपनी माता कौशल्या के भवन में जाना । वहाँ सीता, सुमित्रा और लक्ष्मण का मिलना और उनसे श्रीरामचन्द्र जी का अपने भावी यौवराज्य पद पर अभिषेक का वृत्तान्त कहना ।

### पाँचवाँ सर्ग

५१-५७

यौवराज्याभिषेक सम्बन्धी पौर्वान्हिक कर्मानुष्ठान तथा पुरवासियों का आनन्दोललास ।

### छठवाँ सर्ग

५८-६४

अयोध्या में देश देशान्तरों से लोगों का आगमन ।

### सातवाँ सर्ग

६५-७३

श्रीरामचन्द्र जी के युवराज-पद पर अभिषिक्त होने का संवाद सुन कर, मन्थरा का दुःखी होना ।

### आठवाँ सर्ग

७४-८३

घुमाफिरा कर मन्थरा द्वारा कैकेयी का मन कुब्धि किया जाना ।

### नवाँ सर्ग

८४-१०१

मन्थरा द्वारा कैकेयी की महाराज के प्रतिज्ञात दो वरों का स्मरण दिलाना । कैकेयी का दुःस्साहस ।

### दशवाँ सर्ग

१०१-११२

दशरथ का अपने शयनागार में जा कर कैकेयी को न देखना । कोपभवन में कैकेयी को महाराज दशरथ का बहुत तरह समझाना ।

### ग्यारहवाँ सर्ग

११२-११९

काममेहित दशरथ से कैकेयी का दो वर माँगना ।

**बारहवाँ सर्ग**

११९-१५१

दशरथ का विलाप और कैकेयी से प्रार्थना ।

**तेरहवाँ सर्ग**

१५१-१५८

कैकेयी का दशरथ की प्रार्थना को अस्वीकार करना  
और महाराज दशरथ का दुःखी होना ।

**चौदहवाँ सर्ग**

१५९-१७६

कैकेयी का बराबर दशरथ से अनुरोध करना । महाराज  
को सोते हुए जान, सुमंत्र का उनको जगाना । कैकेयी के  
कहने से श्रीरामचन्द्र जी को बुलाने के लिये सुमंत्र के  
प्रस्थान का उपक्रम ।

**पन्द्रहवाँ सर्ग**

१७६-१८९

कैकेयी के आज्ञा देने पर भी सुमंत्र जी का महाराज  
दशरथ की आज्ञा की प्रतीक्षा करना और महाराज की  
आज्ञा पाने पर सुमंत्र का श्रीरामचन्द्र जी के भवन में  
प्रवेश ।

**सोलहवाँ सर्ग**

१८९-२०१

“ पिता जी तुमको देखना चाहते हैं ”—सुमंत्र का  
श्रीरामचन्द्र जी से कहना और श्रीरामचन्द्र जी का अपने  
पिता जी के भवन की ओर प्रस्थान ।

**सत्रहवाँ सर्ग**

२०१-२०७

मार्ग में लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा सुनते हुए  
श्रीरामचन्द्र जी का पिता जी के भवन में प्रवेश करना ।

## अठारहवाँ सर्ग

२०७-२१७

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम करने पर महाराज दशरथ का शोकान्वित होना । तब महाराज के शोकान्वित होने के विषय में श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी से कारण पूँछना । उत्तर में कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी की अपना अभिप्राय बतलाना ।

## उन्नीसवाँ सर्ग

२१७-२२७

श्रीरामचन्द्र जी का कैकेयी के दोनों वरों का वृत्तान्त सुन, अपनी माता कौशल्य के भवन में गमन ।

## बीसवाँ सर्ग

२२७-२४१

हवन करती हुई जननी को देख, श्रीराम जी का उनसे अपने वनगमन की बात कहना, जिसे लुन कौशल्या का दुःखी होना ।

## इकीसवाँ सर्ग

२४१-२५९

लक्ष्मण द्वारा महाराज दशरथ की निन्दा किया जाना । लक्ष्मण तथा कौशल्या के बहुत रोकने पर भी, पिता के गौरव के अनुरोध से श्रीरामचन्द्र जी का उन दोनों का कहना न मानना ।

## बाइसवाँ सर्ग

२६०-२६७

“भाष्य का लिखा अमिट है” कह कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को धीरज बँधाना ।

## तेइसवाँ सर्ग

२६७-२७८

उत्तर में लक्ष्मण जी का कहना कि, पुरुषार्थ के सामने भाष्य कोई वस्तु नहीं है और पुरुषार्थ द्वारा श्रीरामचन्द्र जी को वन जाने से रोकने का प्रयत्न करना ।

## चौबीसवाँ सर्ग

२७८-२८७

“ हे पुत्र ! तू जहाँ जायगा वहाँ मैं भी तेरे पीछे चलूँगी ” यह कहती हुई माता कौशल्या को श्रीरामचन्द्र जी का पातिव्रत धर्म की उत्कृष्टता समझा कर कहना कि, स्थियों के लिये पतिपरित्याग से बढ़ कर और कोई निष्ठुर कर्म नहीं है ।

## पचासवाँ सर्ग

२८७-२९९

कौशल्या द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का स्वस्तिवाचन किया जाना ।

## छब्बीसवाँ सर्ग

२९९-३०८

श्रीरामचन्द्र और जानकी जी का परस्पर कथोपकथन और सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी का हितोपदेश और वन में रह कर अपने कर्तव्यानुष्ठान करने का वृत्तान्त कहना ।

## सत्ताइसवाँ सर्ग

३०९-३१५

पति के साथ वन जाने के लिये सीता जी का श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना करना ।

## अहाइसवाँ सर्ग

३१५-३२१

वन में रहने वालों के कष्टों का विशद रूप से वर्णन कर श्रीरामचन्द्र जी का सीता को वन चलने से रोकना ।

## उनतीसवाँ सर्ग

३२२-३२७

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में चलने के लिये चिन्तित एवं उत्सुक सीता को श्रीरामचन्द्र जी का समझाना ।

## तीसवाँ सर्ग

३२८-३४०

सीता का श्रीरामचन्द्र जी की बातों का उत्तर देते हुए कहीं कहीं आक्षेप करना । सीता की शोच्य दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ चलने की सीता की अनुमति प्रदान करना, तब सीता का वनगमन की तैयारी करना और दानादि देना ।

## इकतीसवाँ सर्ग

३४०-३४८

भाई के साथ जाने के लिये लक्ष्मण की श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना; किन्तु प्रथम श्रीरामचन्द्र जी का उस प्रार्थना को असंतुष्ट करना ; किन्तु पीछे से लक्ष्मण की अपने में पूर्ण भक्ति देख, अनुमति देना । तब लक्ष्मण का आयुधादिकों का साथ में लेना । श्रीरामचन्द्र जी का अपनी समस्त वस्तुओं को, लोगों को दे डालना ।

## बत्तीसवाँ सर्ग

३४९-३६०

दान देने के लिये श्रीरामचन्द्र जी के धाङ्घानुसार लक्ष्मण का सुयज्ञ को जाकर लाना । दान पाकर सुयज्ञ का श्रीरामचन्द्र जी को आशीर्वाद देना । तदनन्तर किसी एक श्राति दरिद्र ब्राह्मण का दान मांगने के लिये श्रीरामचन्द्र जी के समीप आना और इच्छित दान पान ।

## तेतीसवाँ सर्ग

३६०-३६९

दानादि कर्मों से निश्चिन्त हो, सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का प्रस्थान करने के पूर्व पिता जी के दर्शन करने को उनके भवन में गमन । श्रीरामादि को, द्वचर्चावर रहित और पैदल गमन करते देख, पुरचासियों का हाहाकार करना ।

## चौंतीसवाँ सर्ग

३६९-३८५

सुमंत्र का दशरथ जी को श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना । श्रीरामचन्द्र जी को देखने के पूर्व दशरथ जी का अपनी सब रानियों को अपने पास बुलवा लेने की सुमंत्र की आज्ञा देना, तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी को अपने पास बुलवाना । फिर श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन के लिये उद्यत देख रानियों सहित महाराज दशरथ का रुद्धन करना ।

## पैतीसवाँ सर्ग

३८५-३९३

उस समय सुमंत्र का कैकेयी से कटु वचन कहना ।

## छत्तीसवाँ सर्ग

३९३-४०२

श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन जाने के लिये चतुर्दिनिणी सेना तैयार करवाने की महाराज की सुमंत्र की आज्ञा । तब एक अङ्गूष्ठीन राज्य को लेने के लिये अनिच्छा प्रकट कर, कैकेयी का दशरथ को असमझोपाख्यान सुनाना ।

## सैतीसवाँ सर्ग

४०२-४१२

श्रीरामचन्द्र जी का अपने साथ सेना ले जाना अस्वीकार करते हुए वनवासोपयोगी वद्धकल, खन्ता आदि वस्तुओं के लिये प्रार्थना करना और कैकेयी का उन वस्तुओं को ला कर उनको देना । चौर वद्धकल पहनने में अपदु जानकी को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उनका पहनाया जाना देख, अन्तः-पुरवासिनी खियों का विलाप करना । तब कुलगुरु वशिष्ठ का कैकेयी को फटकारना ।

## अड्डतीसवाँ सर्ग

४१२-४१७

अन्तःपुर-निवासिनी ख्यियों के विलाप को सुन अत्यन्त दुःखी महाराज दशरथ का कैकेयी की प्रार्थना कर स्वयं विलाप करना । तदनन्तर पुत्रशोक से कातर माता कौशल्या की रक्षा करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी की महाराज दशरथ से प्रार्थना ।

## उनतालीसवाँ सर्ग

४१७-४२८

श्रीरामचन्द्र जी के बचन सुन, महाराज दशरथ का विलाप करना । महाराज की आङ्गा पाकर श्रीरामचन्द्र जी को ले जाने के लिये सुमंत्र का रथ लाना । महाराज की आङ्गा से कोठारी का सीता जी को बस्त्र भूषण दे देना । कौशल्यादि साँसों का सीता जी को धर्मोपदेश । सीता जी का, साँसों के कथन का अनुमोदन करना । श्रीरामचन्द्र जी का माताश्रों से बनगमन की आङ्गा लेना ।

## चालीसवाँ सर्ग

४२८-४४१

सुमित्रा का लक्ष्मण जी को उपदेश चिंशेष । सुमंत्र के लाये हुए रथ पर श्रीरामलक्ष्मण सीता का सवार हो कर बनगमन । रथ के पीछे पुरवासियों का दौड़ना । श्रीराम-चन्द्र जी का रथ के पीछे पीछे आते हुए पिता तथा मंत्रियों को लौटाना ।

## इकतालीसवाँ सर्ग

४४२-४४७

श्रीरामचन्द्रादि के बनगमनानन्तर अयोध्या के मनुष्यों तथा पशुपक्षियों की शोकावस्था का वर्णन ।

## व्यालीसवाँ सर्ग

४४७-४५६

श्रीरामचन्द्र के पीछे जाते हुए शोकान्वित ज़मीन पर गिरते पड़ते हुए महाराज दशरथ का कैकेयी के प्रति तिरस्कारपूर्ण वचन कहना । वन में होने वाले कष्टों की स्मरण कर, कौशल्या का कैकेयी के साथ कथोपकथन । दुःखी महाराज दशरथ का कौशल्या के भवन में जाकर रहना ।

## तेतालीसवाँ सर्ग

४५६-४६२

पलङ्ग पर लेटे हुए एवं शोकाकुल महाराज से कौशल्या जी का पूँछना कि, मैं अपने पुत्र को अब फिर कब देखूँगी और कौशल्य का प्रलाप ।

## चौवालीसवाँ सर्ग

४६२-४७०

पुत्रशोक से विकल कौशल्या जी को सुमित्रा जी का धीरज बँधाना ।

## पैतालीसवाँ सर्ग

४७१-४८०

श्रीरामचन्द्र जी का प्रजावर्ग को लौटाने के लिये प्रयत्न करना । पुरवासियों सहित श्रीरामचन्द्र जी का तमसा नदी के तट पर पहुँचना ।

## छियालीसवाँ सर्ग

४८०-४८८

तमसातटवर्ती वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी के साथ वार्तालाप । सन्ध्योपासन करने के बाद सुमंत्र और लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी के लेटने के लिये पत्तों का बिढ़ौना तैयार करना । आयोध्या को लौटा कर भेजने के लिये, सोते हुए पुरवासियों को छोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी का आगे बढ़ना ।

## सैतालीसवाँ सर्ग

४८९-४९३

श्रीरामचन्द्र जी को न देख, तमसा तीर पर पड़े हुए पुरवासियों का निर्दा किन्दा करते हुए प्रलाप। श्रीरामचन्द्र जी का पता न लगने पर पुरवासियों का अयोध्या को लौट जाना।

## अढ़तालीसवाँ सर्ग

४९४-५०३

अयोध्या पहुँचने पर पुरवासियों द्वारा कैकेयी की निन्दा किया जाना और श्रीरामचन्द्र जी के गुणों की प्रशंसा में परस्पर संवाद।

## उननचासवाँ सर्ग

५०३-५०७

अपने राज्य की सीमा को पार कर, रास्ते में जन पदवासियों के मुख से दशरथ और कैकेयी की निन्दा सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी का सरयूतट पर पहुँचना।

## पचासवाँ सर्ग

५०८-५२१

दक्षिण की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी का अयोध्या से विदा माँगना। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी का गङ्गातट-बर्ती शुद्धवेरपुर में पहुँचना और वहाँ गुह से भेट होना और गुह द्वारा अपना सत्कार किया जाना।

## इक्यावनवाँ सर्ग

५२२-५२८

सीता जी और श्रीरामचन्द्र जी के सेते समय, “मैं पहरा ढूँगा”—यह कहते हुए गुह से लक्ष्मण जी का वार्तालाप।

## बावनवाँ सर्ग

५२९-५५३

नाच में सवार होने के पूर्व अपने विरह में विकल, सुमंत्र को विविध वाक्यों से धीरज बैधा, श्रीरामचन्द्र जी का उनको

अयोध्या को लौटाना । बनवासेवित जटा बाँधना । गुह की  
लायी हुई नाव पर बैठ, श्रीरामचन्द्रादि का गङ्गा के उस  
पार जाना ।

### त्रेपनवाँ सर्ग

५५४-५६२

वटवृक्ष के नीचे बैठे हुए श्रीरामलक्ष्मण का संवाद ।  
लक्ष्मण को वहाँ से लौटाने का प्रयत्न करते हुए श्रीराम-  
चन्द्र जी के प्रति लक्ष्मण जी की उक्ति ।

अयोध्याकाण्ड के पूर्वार्द्ध की विषय-सूची  
समाप्त हुई ।

---



॥ श्रीः ॥

## श्रीमद्वारामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्वारामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं । ]

### श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—\*—

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।  
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकाकित्तम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिमुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।  
शृणवन्नरामकथानादं कौ न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।  
अतृप्सस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्पयम् ॥ ३ ॥

गोपदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।  
रामायणमहामाजारलं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं धीरं जानकीशोकनाशनम् ।  
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं  
जितेन्द्रियं बुद्धिमत्ता वरिष्ठम् ।  
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं  
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उद्धुद्धुच्य सिन्धोः सलिलं सलीलं

यः शोकवहि जनकात्मजायाः ।

आदाय तंनैव ददाह लङ्घां

नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाठलाननं

काञ्जनार्दकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं

भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकोर्तनं

तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलेचनं

मारुति नमत राक्षसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं

सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं

दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रमेयं

सीतापतिं रघुकुलान्वयरत्नदीपम् ।

आज्ञानुबाहुमरविन्ददलायताक्षं

रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

बैदेहीसहितं सुग्रुमतले हैमे महामण्डपे

मध्येपुष्पकमासने मरणमये धीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाच्यति प्रपञ्चनसुते नत्त्वे मुनिभ्यः परं  
व्याख्यान्तं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥१३॥

— : \* : —

### माधवसम्पदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं गणिवर्णं च नुभूजम् ।  
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविद्वनोपगान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं वन्दे तद्वक्तपवरो हि यः ।  
श्रीमदानन्दतोर्याख्यो गुहस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।  
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गौयते ॥ ३ ॥

सर्वविद्वनप्रगमनं सर्वसिद्धिकरं एगम् ।  
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीषुपदं रामं स गारिष्ठनिवारकम् ।  
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुहगन्दितम् ॥ ५ ॥

अस्ममं भङ्गरहितपञ्जडं विमलं सदा ।  
आनन्दतोर्यमनुजं भजे तापत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यद्गुभावादेऽमूर्खोऽपि वाग्मी  
जडमतरपि जन्मुक्तायने प्राज्ञमाजिः ।

सकलवचनचेतोदेवता भासनी सा  
मम वनसि विश्वां सविर्विं मानसे च ॥ ७ ॥

मिद्याविद्रान्तुदर्शनविद्वनविवृत्याः ।  
जयनीयोख्यतरणिमीसतां ना हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वक्यैर्मनैरखण्डतैः ।  
 गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीयेवाक् ॥ ६ ॥

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षसम् ।  
 आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकेर्मुनिसिहस्य कवितावनचारिणः ।  
 शुश्रवन्नामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।  
 अतृप्तस्तं मुर्नि वन्दे प्राचेतसमकल्पषम् ॥ १२ ॥

गोष्ठपदीकृतवारीशं मशकोकृतराक्षसम् ।  
 रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अञ्जनानन्दनं धीरं जानकीशोकनाशनम् ।  
 कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं  
 जितेन्द्रियं बुद्धिमत्ता वरिष्ठम्  
 वातात्मजं वानरयूथमुख्यं  
 श्रीरामदूतं शरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं  
 यः शोकवह्नि जनकात्मजायाः ।  
 आदाय तेनैष ददाह लङ्घां  
 नमामि तं प्राञ्छलिराञ्छनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्छनेयमतिपाटलाननं  
 काञ्छनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवार्सिनं  
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं  
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।  
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं  
मारुतिं नमत राज्ञसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेदे परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।  
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।  
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं  
सममधुरोपनताथेवाक्यबद्धम् ।  
रघुवरचरितं मुनिग्रणीतं  
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे  
मध्ये पुष्पकमाप्ने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।  
अग्रे वाचर्याति प्रभञ्जनसुते तत्वं मुनिभ्यः परं  
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ २२ ॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः  
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।  
धूतावद्यं सुवचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः  
सानाथ्यं नेव विद्यर्थिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥ २३ ॥

भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं  
लीलारत्नं जलधिदुहितुदेवतामौलिरत्नम् ।

चन्तारलं जगति भजतां सत्सरोजद्युरलं  
कौसल्याया लसतु मम हन्मण्डले पुत्ररङ्गम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाभेदिमन्थमानसमन्दरम् ।  
कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।  
नानावीरसुवर्णानां निरुषाश्मायितं वभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तश्चाय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।  
उत्तुङ्गवाकरङ्गाय मध्यदुग्धाव्यये नमः ॥ २७ ॥

बाल्मीकिर्गौः पुनीयान्नो महीधरपदाध्रया ।  
यद्दुग्धसुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरङ्गाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।  
विहरन्तो महीयांसः प्रोयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीवं हयग्रीवं हयग्रीवेति यो वरेत् ।  
तस्य निःसरते वाणो जहुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—\*—

### स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।  
सच्चवदनं ध्यायेत्सर्वविष्णवोपशान्तये ॥ १ ॥

वागोशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपकमे ।  
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्भिर्यका चतुर्भिः स्फटिकमणिमयोमक्षमालां दधाना  
हस्तनैकेन पद्मं सितमपि च शुक्रं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्कुस्फटिकमणिभा भासमानासमाना  
सा मे वाग्देवतेयं निवपतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराज्ञम् ।  
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मोकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मोकेमुनिर्षिंहस्य कवितावनन्नारिणः ।  
शृगवन्नामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्मततं रामचरितामृतमाग्रम् ।  
अतृपस्तं मुनि वन्दे प्रावेतसपकल्पयम् ॥ ६ ॥

गोप्यदीकृतवारीशं मगर्कीकृतराज्ञम् ।  
रामायणमहामाज्ञारत्नं वन्देऽनिजात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जननन्दनं चीरं जानकीशोकनाशनम् ।  
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं  
यः शोकवद्विजनकात्मजायाः ।  
आदाय तेनेव ददाह लङ्घां  
नमामि तं प्राञ्जनिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमनिपाटनाननं  
काञ्जनद्रिकमनोयविग्रहम् ।  
पारिजाततरुमूलवार्षिनं  
भावयामि पश्माननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकौर्तनं  
तत्र तत्र कृतमत्काञ्जलिम् ।

बाध्यवारिपरिपूर्णलोचनं  
मारुति नमत रात्रसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं  
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।  
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं  
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कण्जिलिसम्पुटैरहरहः सम्यक् पिवत्यादरात्  
वाल्मीकिर्वदनार्चनवन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।  
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसेषद्रवं  
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥ १३ ॥  
तदुपगतसमाससन्धियोगं  
सममधुरोपनतार्थवाक्यवद्धम् ।  
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं  
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।  
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥  
श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्पोलसङ्कल्पम् ।  
काण्डग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।  
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥  
वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे  
मध्येषुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।  
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं  
व्याख्यानं भरतार्दाभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १८ ॥

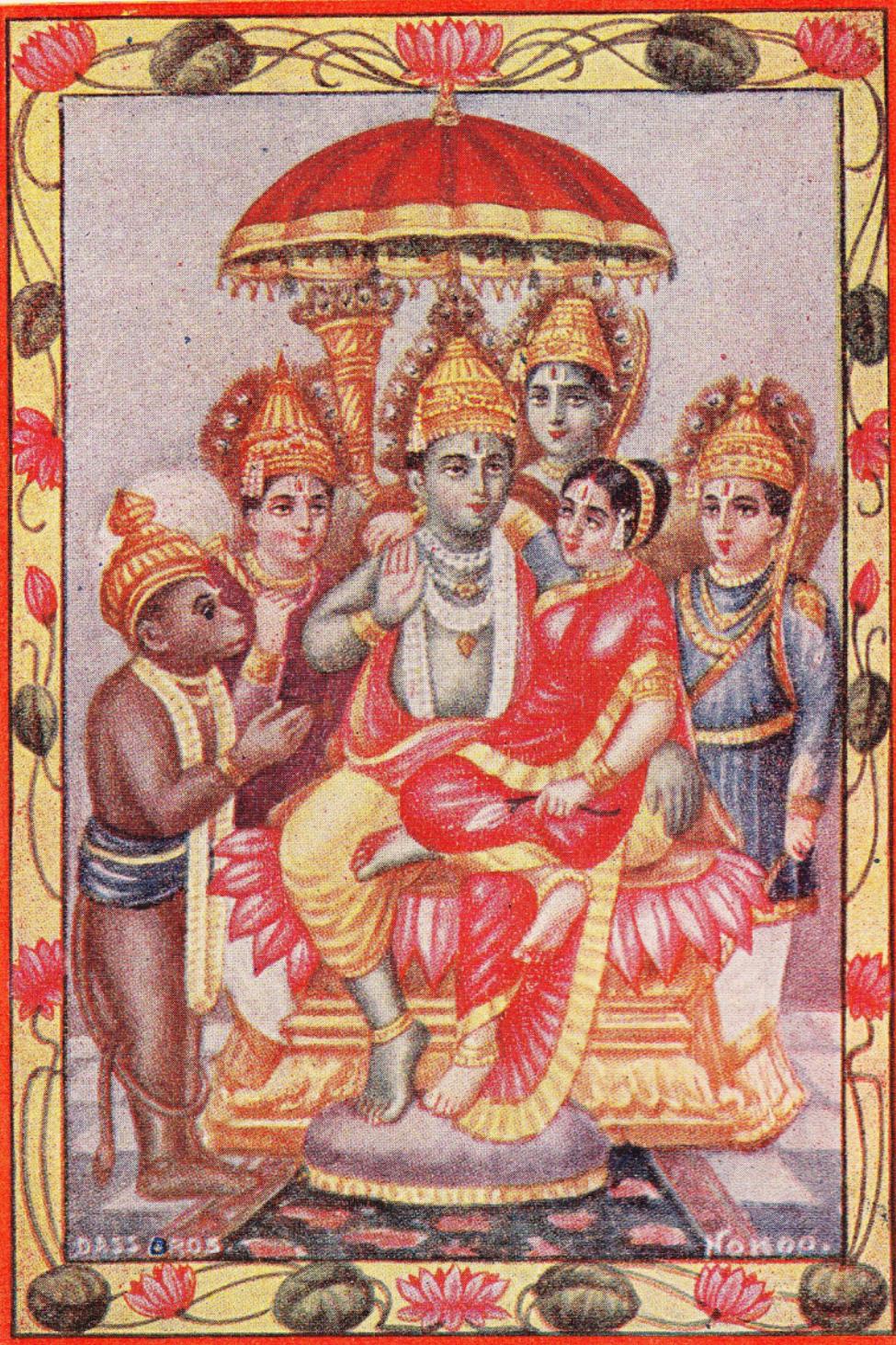
वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः  
 शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्विवादिकोणेषु च ।  
 सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाम्बवान्  
 मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामलम् ॥११॥

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय  
 देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।  
 नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो  
 नमोऽस्तु चन्द्राकर्मरुद्रगणेभ्यः ॥ २० ॥









आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

# श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—१०—

## अर्योध्याकारणः

गच्छता मातुलकुलं भरतेन महात्मना\* ।

शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो' नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥

महात्मा भरत जो ननिहाल जाते समय जितेन्द्रिय शत्रुघ्न जी को बड़े प्रेम से अपने साथ ले गये ॥ १ ॥

स तत्र न्यवसद्भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः ।

मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥

भरत जी अपनी ननिहाल में शत्रुघ्न सहित बड़ी खातिरदारी के साथ रहते थे । उनके मामा अश्वपति, दोनों भाइयों पर पुत्र के समान स्नेह रखते और सब प्रकार से उनका मन रखते थे ॥ २ ॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः ।

भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥

\* पाठान्तरे—“ तदाऽनघः ” ।

१ नित्यशत्रुघ्न—नित्यशत्रुघ्नोऽनेन्द्रियाणि, तान् हन्तीति शत्रुघ्नः ।  
इन्द्रियनिप्रहवान् । ( गो० )

सब प्रकार से सन्तुष्ट रखे जाने पर भी दोनों ओर भाइयों को (प्रायः) अपने बृद्ध पिता महाराज दशरथ की याद आया ही करती थी ॥ ३ ॥

राजाऽपि तौ महातेजाः सस्पार प्रोषितौ<sup>१</sup> सुतौ ।  
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रचरुणोपमौ ॥ ४ ॥

महातेजस्वी महाराज दशरथ भी महेन्द्र और चरुण के समान, परदेशगत राजकुमारों को (अक्सर) स्मरण किया करते थे ॥ ४ ॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्वत्वारः पुरुषर्घभाः ।  
स्वशरीराद्विनिर्वत्ताश्वत्वार इव वाहवः ॥ ५ ॥

यद्यपि अपने शरीर से निकली हुई चार बाँहें की तरह चारों श्रेष्ठ राजकुमार महाराज दशरथ को प्यारे थे ॥ ५ ॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः ।  
स्वयंभूरिव भूतानां वभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥

तो भी उन चारों में महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी पर महाराज दशरथ का अत्यन्त अनुराग था, क्योंकि वे ब्रह्मा के समान, सब प्राणियों से बढ़ कर अतिशय गुणवान् थे ॥ ६ ॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः ।  
अर्थितो मानुषे लोके जगे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> प्रोषितौ—देशान्तरगतौ । (गो०)

( श्रीरामचन्द्र जी के अतिशय गुणवान् होने का कारण यह था कि, ) श्रीरामचन्द्र जी स्वयं सनातनपुरुष विष्णु भगवान् थे जो देवताओं के अनुरोध से, नैसर्गिक गर्व से सारे जगत का विनाश करने वाले रावण का नाश करने को अवशीर्ण हुए थे ॥ ७ ॥

कौशल्या शुश्रुभे तेन पुत्रैणामिततेजसा ।

यथा वरेण देवानामदितिर्ब्रपाणिना ॥ ८ ॥

ऐसे अपार तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी को प्राप्त कर कौशल्या जो वैसे ही सुशोभित हुई थीं, जैसे अदिति इन्द्र को पा कर शोभा को प्राप्त हुई थीं ॥ ८ ॥

स हि वीर्योपपञ्च रूपवाननसूयकः ।

भूमावनुपमः सुनुर्गौर्णदशरथोपमः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त रूपवान्, महावीर्यवान्, निन्दारहित और उपमारहित इस पृथिवीतल पर एक राजपुत्र थे । अर्थात् उनकी जोड़ का दूसरा कोई न था । वे पिता के समान गुणशाली थे ॥ ९ ॥

स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।

उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥

वे सदा प्रशान्त चित्त रहते, सदा सब से कोसल वचन बोलते, यदि उनसे कोई कठोर वचन बोलता तो भी वे उत्तर में कोई कड़बी बात न कहते थे ॥ १० ॥

कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति ।

न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया<sup>१</sup> ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> आत्मवत्तया — वशीकृतमनस्कतयेत्यर्थः । ( गो० )

थोड़े भी उपकार को वे बहुत मानते थे, वे अपकार करने वाले के सैकड़ों अपकारों को भी मन में नहीं रखते अर्थात् भूल जाते थे । अर्थात् वे अपने मन पर इतना अधिकार रखते थे ॥ ११ ॥

**शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः ।**

**कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥**

जब उनको अख्याशक्ति के अभ्यास से अवकाश मिलता, तब वे उस अवकाश काल में सदाचारी, ज्ञानी और वयोवृद्ध सज्जन जनों के पास बैठ कर बातचीत करते थे । ( अर्थात् उनको अच्छे लोगों का संग ही अच्छा लगता था ; कुसंग एसन्द न था ) ॥ १२ ॥

**बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।**

**वीर्यवान् च वीर्येण महता स्वेन गर्वितः ॥ १३ ॥**

वे स्वयं बड़े बुद्धिमान्, कोमल वचन बोलने वाले, पहिले बोलने वाले, और प्रिय बोलने वाले थे । वे स्वयं बीर हो कर भी वीरता के गर्व में प्रत्यक्ष न थे ॥ १३ ॥

**न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः ।**

**अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्जते ॥ १४ ॥**

वे कभी मिथ्या भाषण नहीं करते थे और विद्वानों पर्वं वृद्ध-जनों का सम्मान करने वाले थे । अपनी प्रजा के लोगों को जैसा वे चाहते थे, प्रजा भी उनको वैसा ही चाहती थी । अर्थात् श्रीराम-जी का अपनी प्रजा में जैसा अनुराग था, वैसा ही प्रजा का भी उनमें अनुराग था ॥ १४ ॥

सानुक्रोशो<sup>१</sup> जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः ।

दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं<sup>२</sup> प्रग्रहवाङ्शुचिः ॥ १५ ॥

वे दयालु, क्रोध को जीतने वाले और ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले थे । वे दीनों पर विशेष कृपा किया करते थे । वे सामान्य और विशेष धर्म को जानने वाले थे, वे सदा नियमानुसार चलने वाले और सदा पवित्र रहने वाले थे ॥ १५ ॥

कुलेचित्मतिः क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते ।

मन्यते परया कीर्त्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

वे अपने इच्छाकुलानुरूप दया, दात्तिर्य, तथा शशांगत-वत्सलता आदि कर्त्तव्यकर्मों के पालन में निपुण थे, दुष्टों का निग्रह कर और प्रजापालन कर अपने क्षात्रधर्म को बहुत मानते थे । अपने वर्ण और अपने आश्रम के धर्म के पालन को कीर्तिप्राप्ति ही का साधन नहीं, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी साधन मानते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि रतो विद्वान् विरुद्धकथाख्यचिः ।

उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

न तो थोथे कामों के करने में उनकी रुचि थी और न उनको फूहर वातें तथा धर्मविरुद्ध वातें कहना सुनना ही पसंद था । वादविवाद करते समय, अपने पक्ष के समर्थन में, उनको बृहस्पति की तरह युक्तियां सूझा करती थीं । अर्थात् वे अपने पक्ष की भली भाँति युक्तियों से पुष्ट कर सकते थे ॥ १७ ॥

<sup>१</sup> सानुक्रोशः—सदयः । ( गो० ) <sup>२</sup> प्रग्रहवान्—नियमवान् । ( गो० )

<sup>३</sup> आश्रेयसि—निष्कलेकर्मणि । ( गो० )

अरोगस्तस्तु वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित् ।

लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः? ॥ १८ ॥

निरोग, तरुण, सुवक्ता, रूपवान्, देशकाल के जानने वाले और आदमी को एक बार देखते ही उसके मन का भाव ताङ जाने वाले, वे निःसन्देह एक महात्मा पुरुष थे ॥ १८ ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ।

बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतःप्रियः ॥ १९ ॥

दशरथनन्दन श्रोरामचन्द्र जी श्रेष्ठ गुणों से युक्त थे और उनके इन गुणों के लिये ही उनको प्रजा के लोग बाहिर रहने वाले अपने प्राण के समान, प्यार करते थे ॥ १९ ॥

सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ।

इष्वस्त्रे<sup>१</sup> च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

वे साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और यथाविधि व्रत कर के स्नातक हुए थे ( अर्थात् गुरुगृह से साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ और व्रताचरण कर उन्होंने समावर्तन किया था अर्थात् लौटे थे ) इसीलिये वे तत्वतः अर्थात् ठीक ठीक साङ्ग वेद के ज्ञाता थे । वाणविद्या में वे अपने पिता से चढ़ बढ़ कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः<sup>२</sup> साधुरदीनः सत्यवाण्डजुः ।

द्वद्वैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

१ विनिर्मितः—निश्चितः । ( गो० ) २ इष्वः—अमंत्रकाः शराः ।

( गो० ) ३ कल्याणाभिजनः—कल्याणः शोभनः अभिजनो येन स तथा । तत्रहेतुः—साधुरिति । निर्देश इत्यर्थः । ( गो० )

वे कल्याण के जन्मस्थान, साधु, अदीन, सत्यवादी और सीधे थे । वे धर्म और अर्थ के जानने वाले एवं वृद्ध द्विजों द्वारा सुशिक्षित हुए थे ॥ २१ ॥

**धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान् ।**

लौकिके समयाचारे कृतकल्पे विशारदः ॥ २२ ॥

वे धर्म, अर्थ, काम के तत्त्व को जानने वाले, विलक्षण स्मृति और प्रतिभा वाले, लोकाचार और सामयिक धर्म में निपुण थे । अर्थात् लौकिक आचार विचार का विधान करने में वे बड़े चतुर थे ॥ २२ ॥

**निभृतः<sup>१</sup> संवृताकारो<sup>२</sup> गुप्तमन्त्रः सहायवान् ।**

अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

उनका स्वभाव अति नम्र था । वे अपने मन की बात और गूढ़ विचारों को अपने मन में ढ्रिपा कर रखने की सामर्थ्य रखते थे । वे सहायवान् थे अर्थात् गूढ़ विचारों में उन्हें जासूसों से पूर्ण सहायता मिलती थी, अथवा उनके सहायक भी अनेक थे । उनका क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं जाता था । वे त्याग और संग्रह के समय के जानने वाले थे । ( अर्थात् वे जान लेते थे कि, कब हमें कोई चीज़ देनी चाहिये और कब लेनी चाहिये । ) ॥ २३ ॥

**दृभक्तिः स्थिरप्रज्ञो<sup>३</sup> नासद्ग्राही न दुर्वचाः ।**

निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

१ निभृतः—विनीतः । ( गो० ) २ संवृताकारः—हृदिस्थितकर्तव्यार्थव्यञ्जकेन्द्रिताकारगोपनचतुरः । ( गो० ) ३ स्थिरप्रज्ञो—विस्मृतिहीनः । ( रा० )

देवता और गुरु में निश्चल भक्ति रखने वाले। वात को कभी न भूलने वाले, बुरी वस्तु को न लेने वाले और दूसरे को उत्तेजित या उद्धिष्ठ करने वाले वचन न बोलने वाले, निरालस्य, अप्रमादी, और अपने तथा दूसरों के दोषों के ज्ञानने वाले थे ॥ २३ ॥

**शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः ।**

**यः १ प्रग्रहानुग्रहैर्यथान्यायं विचक्षणः ॥ २५ ॥**

वे शास्त्रों के ज्ञानने वाले, उपकार के मानने वाले पुरुषों के तारतम्य को समझने वाले थे अर्थात् भले बुरे लोगों को पहचान लिया करते थे। वे मित्र का निर्वाह करने एवं स्वीकार की हुई वात का पालन करने में समर्थ थे अर्थात् जो कह देते उसको करते भी थे ॥ २५ ॥

**सत्संग्रहग्रहणे स्थानविनिग्रहस्य च ।**

**आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित् ॥ २६ ॥**

वे जिष्ठों अथवा परिवार वर्ग के पालन में और दुष्टों के शासन में निपुण थे। वे यह भी जानते थे कि, कहाँ पर दुष्टों का शासन करना चाहिये। वे न्यायपूर्वक धनोपार्जन के उपायों को और धन का व्यय करना जानते थे ॥ २६ ॥

**श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च ।**

**अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥ २७ ॥**

वे वेद वेदाङ्ग तथा संस्कृत एवं भाषा के काश्य, नाटक अलङ्कार के मर्मज्ञ थे। वे अर्थ तथा धर्म का संग्रह कर सुखी होते थे। अर्थात्

१ प्रग्रह—मित्रादिस्वीकारः । ( गो० )      २ अनुग्रहः—स्वीकृतपरिपालनं । ( गो० )

उनका सुखी होना अर्थ एवं धर्म के संग्रह के अधीन था । और अर्थ धर्म के संग्रह में वे कभी अलसाते न थे ॥ २७ ॥

**वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् ।**

**आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥ २८ ॥**

वे खेलों की सामग्री और बाजे तथा चित्रकारी आदि शिल्प कलाओं की सामग्री के विशेषज्ञ थे और (सञ्चित) धन का विभाग\* करना जानते थे । वे हाथी घोड़ों पर चढ़ने में स्वयं निपुण थे और उन पर चढ़ना सिखाने में भी वे दक्ष थे ॥ २८ ॥

**धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्पतः ।**

**अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥**

वे बड़े बड़े धनुर्विद्याविशारदों में श्रेष्ठ थे । लोग उनको महारथी समझ (उनकी धनुर्विद्या की जानकारी के कारण) सन्मान करते थे । वे अपने ऊपर शत्रु के आक्रमण को प्रतीक्षा नहीं करते थे, किन्तु स्वयं जा कर शत्रु पर आक्रमण करते थे, और आक्रमण के समय केवल सैनिकों से ही युद्ध नहीं करते थे, प्रत्युत शत्रु पर

\* “धर्मायशसेऽर्थाय भात्मने स्वजनायच ।

पञ्चधा विभजन्वित मिहासुत्रच शोभते ॥ ”

अर्थात् सञ्चित द्रव्य का व्यय करते समय उसे पांच महों में बांटे—  
 (१) धर्म के कामों में (२) नामवरी के कामों में (३) धन बढ़ाने के काम में (४) अन्य शारीरिक आवश्यकताओं में और अपने परिवार के पालन पोषण के काम में । जो इस प्रकार सञ्चित अथवा उपार्जित द्रव्य का खर्च करता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है ।

पहला बार स्वयं ही करते थे। वे शत्रु के सैन्यव्यूहों को द्विन्न भिन्न करने और सैन्यव्यूह की रचना में भी निपुण थे ॥ २६ ॥

अप्रथृष्यश्च संग्रामे कुद्धैरपि सुरासुरैः ।

अनसूयो जितक्रोधो न द्वाषो न च मत्सरी ॥ ३० ॥

जब कुद्ध हो वे रणभूमि में खड़े होते, तब सुर असुर कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता था। वे असूया रहित, क्रोध को जीतने वाले, गर्वशून्य, और दूसरों की सम्पत्ति से छेषन करने वाले थे ॥ ३० ॥

न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः ।

एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥

न तो वे कभी किसी को अवज्ञा के पात्र बनते थे, और न उनके ऊपर समय विशेष का प्रभाव ही पड़ सकता था। राजकुमार श्रीराम-चन्द्र जी प्रजा जनों के बीच लोकोत्तर गुणों से युक्त थे ॥ ३१ ॥

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः ।

बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुलयो वीर्येणापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥

और तीनों लोक उनको मानते थे। उनमें, पृथिवी जैसी क्षमा, बृहस्पति जैसी बुद्धि और इन्द्र जैसा पराक्रम था ॥ ३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैः पितुः ।

गुणैर्विरुद्धे रामो दीपैः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार प्रदीप सूर्य अपनी किरणमाला से प्रकाशमान होता है, उसी प्रकार प्रजा की प्रीति और पिता के दुलारे श्रीराम-चन्द्र अपने गुणों से मणित हो, शोभा को प्राप्त होते थे ॥ ३३ ॥

तमेवं व्रतसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् ।

लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी में ऐसे दिव्यगुण, व्रतपालन, एवं अकुणित पराक्रम देख और उनको लोकपालों के समान समझ, पृथिवी ने उनको अपना स्वामी बनाने को मनोकामना की ॥ ३४ ॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।

दृष्टा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परन्तपः ॥ ३५ ॥

अपने पुत्र में ऐसे बहुत से अनुपम गुणों को देख, महाराज दशरथ ने अपने मन में विचारा ॥ ३५ ॥

अथ राज्ञो बभूवैवं वृद्धस्य चिरजीविनः ।

प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥ ३६ ॥

कि राज्य करते करते मैं बूढ़ा हो गया, अब मैं अपने जीते जी क्यों कर श्रीरामचन्द्र जी को राजसिंहासन पर अभिषिक्त कर प्रसन्न होऊँ ॥ ३६ ॥

एषा ह्यस्य परा प्रीतिर्हदि सम्परिवर्तते ।

कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥ ३७ ॥

महाराज दशरथ के मन में यह कामना सदा बनी रहने लगी कि, मैं अपने प्यारे पुत्र श्रीराम जी को राजगद्वी पर बैठा हुआ कब देख सकूँगा ॥ ३७ ॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पनः ।

मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥ ३८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जल वर्षने वाले मेघ की तरह सब प्राणियों पर दया करने वाले हैं और प्रजा के लोगों को वे मुझसे भी अधिक प्यारे हैं ॥ ३८ ॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ ।

महीधरसमो धृत्यां भत्तश्च गुणवत्तरः ॥ ३९ ॥

वे बल एवं पराक्रम में यम और इन्द्र के समान, बुद्धिमानी में बृहस्पति के समान, धैर्यधारण में अन्जल 'पर्वत के समान, और गुणों में मुझसे भी बढ़ कर हैं ॥ ३९ ॥

महीमहिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् ।

अनेन वयसा दृष्ट्वा कथं स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥ ४० ॥

ऐसे अपने पुत्र को इस समूर्ण पृथिवी के राज्यासन पर बैठा देख, मैं इस उत्तर में स्वर्ग कैसे सिधाऊँ ॥ ४० ॥

इत्येतत्विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः ।

शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैर्गुणैः ।

निश्चित्य सचिवैः सार्धं युवराजममन्यत ॥ ४२ ॥

अन्य राजाओं के लिये दुर्लभ, असंख्य श्रेष्ठ एवं उस लोक के लिये लोकोत्तर गुणों से महिंदत, श्रीरामचन्द्र जी को देख, महाराज दशरथ ने मंत्रियों से परामर्श कर, उनको युवराज पद पर अभियक्त करना निश्चित किया ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् ।

संचचक्षे च मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥ ४३ ॥

किन्तु, इसी समय उन्होंने देखा कि, स्वर्ग, आकाश और पृथिवी पर घोर उत्पातों का भय उपस्थित है। साथ ही सूक्ष्मदर्शी राजा ने अपने शरीर के बुढ़ापे को भी देखा ॥ ४३ ॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः ।

लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥ ४४ ॥

उन्होंने इस कार्य से पूर्णचन्द्रमुख श्रीरामचन्द्र का आनुकूल्य और अपनी चिन्ता या शोक की निवृत्ति तथा प्रजा का कल्याण समझा ॥ ४४ ॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च ।

प्राप्तकालेन धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान्नृपः ॥ ४५ ॥

अपनी और प्रजा की भलाई तथा प्रसन्नता के लिये धर्मात्मा महाराज दशरथ ने बड़ी प्रीति के साथ, उपयुक्त समय देख, श्रीराम जी को युवराज पद पर अभिषिक्त करने के लिये त्वरा की ॥ ४५ ॥

नानानगरवास्तव्यानपृथग्जानपदानपि ।

समानिनाय मेदिन्याः प्रधानानपृथिवीपतीन् ॥ ४६ ॥

उन्होंने अनेक नगरों और राष्ट्रों के रहने वाले प्रधान राजाओं को बुलाया ॥ ४६ ॥

तान्वेश्मनानाभरणैर्यथाह प्रतिपूजितान् ।

ददर्शलिंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ ४७ ॥

महाराज दशरथ ने उन सब को श्राद्र पूर्वक भवनों में ठहराया और नाना प्रकार के अलंकार प्रदान कर उनका सत्कार

किया तदनन्तर स्वयं अलंकृत हो, उनसे भेंट की। उनके बीच में बैठे हुए महाराज उसो प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार प्रजापति, प्रजा के बीच में बैठे हुए शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४७ ॥

न तु केक्यराजानं जनकं वा नराधिपः ।

त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥ ४८ ॥

शीघ्रता में केक्यराज और मिथिलाधिपति को यह समाचार नहीं दिया गया, इस कारण कि उनको यह शुभ संवाद पीछे से मिल ही जायगा ॥ ४८ ॥

[ नोट—शीघ्रता तो महाराज दशरथ को थी ही, किन्तु युवराजपद पर अपने ज्येष्ठ राजकुमार को अभिषिक्त करने का मामला उनका ख़ास था, नाते रिश्टेदारों से ऐसे बहु मामलों में पूँछने की या सलाह मशवरा करने की आवश्यकता भी नहीं हुआ करती। इस अवसर पर वे ही बुलाये गये थे, जिनसे राजसम्बन्धी मामलों से सम्बन्ध था । ]

अथेष्वविष्टे नृपतौ तस्मिन्परबलाद्दने ।

ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः ॥ ४९ ॥

जब शत्रुदर्पदलनकर्ता महाराज दशरथ (राजसभा में आ कर) राजसिंहासन पर बैठ गये, तब अन्य राजागण तथा प्रजाप्रति-निविगण दरबार में आ आ कर उपस्थित होने लगे ॥ ४९ ॥

अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च ।

राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः ॥ ५० ॥

वे राजा लोग महाराज के दिये हुए मिज्ज प्रकार के आसनों पर (अर्थात् जो जिस आसन के योग्य था वह उसी प्रकार

के आसन पर ) बिठाया गया । वे सब महाराज के सिंहासन की ओर मुख कर के बड़ो नम्रता से अथवा राजदरवार के नियमों के अनुसार बैठे ॥ ५० ॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्वृपैः

पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः ।

उपेषष्विष्टैर्वृपतिर्वृतो वभौ

सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥ ५१ ॥

इनि प्रथमः सर्गः ॥

चिनयी नृपतियों तथा जनपदवासी प्रधान प्रधान लोगों से सम्मानित हो, सभा में बैठने पर, महाराज दशरथ वैसे ही सुशोभित मालूम पड़ते थे, जैसे इन्द्र, देवताओं के बीच शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का पहिला सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

द्वितीयः सर्गः

[ नोट—इस दूसरे सर्ग में रामराज्याभिषेक का सर्वसमतत्व प्रदर्शित किया गया है । ]

ततः परिषदं<sup>१</sup> सर्वामामन्त्र्य<sup>२</sup> वसुधाधिपः ।

हितमुद्धर्षणं<sup>३</sup> चैवमुवाच प्रथितं<sup>४</sup> वचः ॥ १ ॥

१ परिषद—पौरज्ञानपदसमूहं । ( गो० ) २ आमन्त्र्य—अभिमुखी

कृत्य । ( गो० ) ३ उद्धर्षण—उत्कृष्टहर्षजनकं । ( रा० ) ४ प्रथितं—सर्व-

जनभाव्यं यथाभवति तथोवाच । ( रा० )

तदनन्तर भूपति महाराज दशरथ ने सब पुरवासियों को अपने सामने बिठा, ऐसे उच्च स्वर से, जिससे सब को सुनाई पड़े, अत्यन्त हर्षीत्पादक वचन कहे ॥ १ ॥

**दुन्दुभिस्वनकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना ।**

**स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥**

बोलने के समय महाराज का बोल परम उच्च स्वर के साथ ऐसा जान पड़ता था, मानों नगाड़ा वज रहा हो, अथवा मेघ गरज रहा हो ॥ २ ॥

**राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च ।**

**उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥**

राजाओं से बोलने योग्य अति सुन्दर एवं उपमारहित रस से भरी वाणी से महाराज दशरथ, राजाओं से बोले ॥ ३ ॥

**विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम् ।**

**पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥ ४ ॥**

जिस प्रकार हमारे पूर्वज नरेन्द्रों ने पुत्रवत् इस विशाल राज्य का पालन किया है, यह तो आप लोगों को विदित है ही ॥ ४ ॥

**श्रेयसा योक्तुकामोऽस्मि सुखार्हमखिलं जगत् ।**

**मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता ॥ ५ ॥**

**प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ।**

**इदं शरीरं कृत्सनस्य लोकस्य चरता हितम् ॥ ६ ॥**

सो मैं इस समय भी इह्वाकु प्रभृति नरनाथों द्वारा पालित इस राज्य में समस्त जगत की सुख सम्पत्ति बढ़ाने के लिये, एक

योजना करना चाहता हूँ । मैंने भी अपने पूर्वजों के पथ का अनु-  
सरण कर और सदा सावधान रह कर, यथाशक्ति प्रजा की रक्षा  
की । सब प्रजाजनों के हित की कामना से यह मेरा शरीर ॥५॥६॥

पाण्डुरस्यातपत्रस्य छ्यायायां जरितं मया ।

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूषि जीवतः ॥ ७ ॥

इस श्वेताराजद्रव के नीचे रह कर जराजीर्ण हो गया है । इस  
समय मेरी अवस्था साठ हज़ार वर्ष की हो चुकी है ; अतः मैं बहुत  
श्रायु भोग चुका हूँ ॥ ७ ॥

जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ।

राजप्रभावजुष्टां हि दुर्वहामजितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वी धर्मधुरं वहन् ।

सोऽहं विश्रमिच्छामि रामं कृत्वा प्रजाहिते ॥ ९ ॥

सञ्चिकृष्टानिमान्सर्वानुमान्य द्विर्जर्षभान् ।

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैर्ज्येष्ठो ममात्मजः ॥ १० ॥

मैं अब चाहता हूँ कि, इस बृद्ध शरीर को विश्राम दूँ । जिस  
भार को अजितेन्द्रिय पुरुष नहीं उठा सकते, उस लोक के भारी  
धर्मभार को ढोते ढोते मैं थक गया हूँ । इस लिये अब मैं प्रजा  
के हित के लिये उपस्थित ब्राह्मणों की सम्पत्ति से अपने जैसे सब  
गुणों से युक्त ज्येष्ठ पुत्र को प्रजापालन का भार सौंपा चाहता  
हूँ ॥ ८ ॥ १० ॥

पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरञ्जयः ।

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतांवरम् ॥ ११ ॥

मेरे ज्येष्ठ पुत्र श्रोरामचन्द्र पराक्रम में इन्द्र के समान शत्रुओं का नाश करने वाले हैं। पुर्य नक्षत्र युक्त चन्द्रमा को तरह धर्मात्मा ॥ ११ ॥

यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रीतः पुरुषपुज्ञवम् ।

अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाललक्ष्मणाग्रजः ॥ १२ ॥

श्रोरामचन्द्र को मैं युवराजपद पर कल प्रातःकाल ही स्थापित करना चाहता हूँ। क्योंकि वे पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। लक्ष्मण के बड़े भाई और कान्तिमान् श्रोरामचन्द्र तुम्हारे योग्य रक्षक हैं ॥ १२ ॥

त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ।

अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्त्ये तामिमां महीम् ॥ १३ ॥

मेरा तो विश्वास है कि, यह देश हो क्या, त्रैलोक्य मण्डल भी इनको पा कर सनाथ होगा; अतः इनको शीघ्र राज्यभार सौंप कर मैं भूमण्डल का कल्याण करना चाहता हूँ और ॥ १३ ॥

गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ।

यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार रामचन्द्र को राज्यशासन के कार्य में नियुक्त कर, मैं स्वयं चिन्ता रूपी क्लेश से निवृत्त होना चाहता हूँ। यदि मैंने यह विचार अच्छा और योग्य किया हो ॥ १४ ॥

भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्य द्विचिन्त्यताम् ॥ १५ ॥

यदि मेरा कहना ठोक हो तो आप लोग इसमें सम्मति दें। अथवा जो करना उचित हो सो बतलाइये। यद्यपि मुझे श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना अति प्रिय है, तथापि यदि इससे बढ़ कर और कोई हित को बात हो तो उसे सोच विवार कर आप लोग बतलावें॥ १५॥

अन्या मध्यस्थचिन्ता हि विमर्दभ्यधिकोदया ।

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दननुपा नृपम् ॥ १६ ॥

क्योंकि मध्यस्थों द्वारा पूर्वोपर का विवेचन होने के पश्चात् जो बात स्थिर होती है—वही उत्तम होती है। महाराज दशरथ के ये वचन सुन, सब राजा लोगों ने वैसे ही प्रसन्नता प्रकट की॥ १६॥

वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ।

स्तिर्घोऽनुनादो संज्ञे तत्र हर्षसमीरितः ॥ १७ ॥

जनौघोद्गुष्टसन्नादो विमानं कम्पयन्निव ।

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाङ्गाय सर्वशः ॥ १८ ॥

जैसे वरसते हुए बादल को देख मेर प्रसन्नता प्रकट करते हैं। उस समय सामन्त राजाओं ने तथा अन्य उपस्थित जनों ने प्रसन्न हो, “वाह वाह” “ठोक, बहुत ठोक” कह कर, इतनी ज़ोर से आनन्द प्रकट किया कि, जान पड़ा मानों राज-सभा-भवन काँप रहा हो। धर्मतिमा महाराज दशरथ का आशय सब लोग समझ गये॥ १७॥ १८॥

ब्राह्मणा जनमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ।

समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतागतवृद्धयः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ब्राह्मण, सामन्त राजा लोग और नगर के प्रधान प्रधान लोगों ने बाहर से आये हुए विशिष्ट जनों से मिल कर, आपस में परामर्श किया और जब सब एकमत हो गये तब, ॥ १९ ॥

ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ।

अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव ॥ २० ॥

विचार कर वृद्ध महाराज दशरथ से बोले—हे राजन् ! आप हज़ारों वर्ष राज्य करते करते बहुत बूढ़े हो गये हैं ॥ २० ॥

स रामं युवराजानभिषिञ्चस्य पार्थिवम् ।

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् ॥ २१ ॥

अतएव हे राजन् ! अब आप श्रीरामचन्द्र जी को युवराजपद पर अभिषिक कर दीजिये । क्योंकि हम लोगों की इच्छा है कि, महाबाहु एवं महाबली श्रीरामचन्द्र जी ॥ २१ ॥

गजेन महताऽज्यान्तं रामं छत्रावृताननम् ।

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् ॥ २२ ॥

एक बड़े हाथी पर बैठ कर और सिर के ऊपर राजछत्र लगाये हुए चलें और हम यह ( शुभ दूश्य ) देखें । महाराज दशरथ उन सब के ये वचन सुन कर और उनके मन का अभीष्ट जानने के लिये ॥ २२ ॥

अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ।

श्रुत्वैव वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ ॥ २३ ॥

अजान मनुष्य की तरह उनसे पूँछने लगे । आप लोग जो मेरे कहते ही श्रीराम जी को अपना रक्षक बनाने को तैयार हो गये ॥ २३ ॥

राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः ।

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति ॥ २४ ॥

सो इससे मेरे मन में एक संशय उत्पन्न हो गया है । अतः आप अपने अभिप्राय को स्थष्ट कहिये । जब मैं धर्म से पृथिवी का पालन कर ही रहा हूँ, तब फिर क्यों ॥ २४ ॥

भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम् ।

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह ॥ २५ ॥

आप लोग मेरे पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ? ( क्या मैं राज्यशासन ठीक ठीक नहीं कर रहा या मुझसे कोई भूल हुई है ? ) अयोध्यावासी तथा अन्य बाहिर के सामन्त, बुद्धिमान् महाराज दशरथ से बोले ॥ २५ ॥

बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते ।

गुणान्गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः ॥ २६ ॥

प्रियानानन्दनान्कृत्सनान्प्रवक्ष्यामोऽयं ताज्ञशृणु ।

दिव्यैर्गुणैः शक्समो रामः सत्यपराक्रमः ॥ २७ ॥

हे राजन ! ( यह बात नहीं है, अर्थात् आप शासन भी ठीक ही ठीक कर रहे हैं और आपसे कोई भूल भी नहीं हुई ; किन्तु हमारे

इस प्रकार के निश्चय पर पहुँचने का कारण यह है कि, ) आपके राजकुमार में बहुत से बड़े अच्छे अच्छे गुण हैं ( अर्थात् आपमें राज्य का शासन भलीभांति करने ही का एक गुण है ) बुद्धिमान् और देवरूप श्रीरामचन्द्र के प्रिय और आनन्ददायक गुणों को हम कहते हैं, सुनिये । दिव्य गुणों से सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी इन्द्र के समान हो रहे हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

इक्ष्वाकुभ्योपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ।  
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यधर्मपरायणः ॥ २८ ॥

हे राजन् ! अतएव वे सब इक्ष्वाकुवंशी राजाओं से अधिक हैं ( अर्थात् आप हो नहीं किन्तु आपके पूर्ववर्ती समस्त राजाओं से भी अधिक चढ़ दढ़ कर हैं ) । वे इस लोक में एक ही सत्पुरुष और सत्यधर्म-परायण हैं ॥ २८ ॥

साक्षाद्रामाद्विनिर्वृत्तोऽ धर्मश्चापि श्रिया सह ।  
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः ॥ २९ ॥

बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ।  
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः ॥ ३० ॥

इन्हीं श्रीरामचन्द्र जी से गोभायमान धन और धर्म प्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है । प्रजाओं को सुख देने में या सुखी करने में श्रीरामचन्द्र जी चन्द्रमा के समान हैं ( अर्थात् जैसे चन्द्रमा, अपनी अमृतश्रावी किरणों से सब अन्न फल फूलादि परिपक्व कर प्रजा को पुष्ट करता है ; वैसे ही यह रामचन्द्र प्रजा को आनन्दित और पुष्ट करते हैं ) । श्रीराम जी ज्ञान करने में पृथिवी के समान, बुद्धि में बृहस्पति के

तुल्य, पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के समान हैं। श्रीराम जी धर्मज्ञ हैं, सत्यवादी हैं, शीलवान हैं, ईर्ष्या रहित हैं ॥ २६ ॥ ३० ॥

**क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्षणः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ।  
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः ॥ ३१ ॥**

श्रीरामचन्द्र जी क्षमावान हैं, कुपित और दुःखियों को सान्त्वना प्रदान करने वाले हैं, प्रिय बैलने वाले हैं, कोई थोड़ा भी उपकार करे तो उसे बहुत बड़ा कर के मानने वाले हैं, जितेन्द्रिय हैं, कौमल स्वभाव वाले हैं, जो बात एक बार कह देते हैं, उसे महान् सङ्कट पड़ने पर भी नहीं बदलते, सदा कल्याण रूप हैं, और किसी की भ निन्दा नहीं करते ॥ ३१ ॥

**प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ।**

**बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता ॥ ३२ ॥**

श्रीरामचन्द्र जी प्राणिमात्र से प्रिय और सत्य बैलने वाले हैं, तथा बहुदर्शी और वृद्ध ब्राह्मणों के उपासक हैं ॥ ३२ ॥

**तेनास्येहातुला कीर्त्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ।**

**देवासुरमनुष्याणां सर्वात्मेषु विशारदः ॥ ३३ ॥**

इसीसे श्रीरामचन्द्र जी की अतुलकीर्ति, यश और तेज बढ़ता जाता है। क्या देवता, क्या असुर, और क्या मनुष्य, सब से बे सब शख्तों के चलाने रोकते और चलाये हुए अस्त्रों को लौटा लेने में चढ़ बढ़ कर निपुण हैं ॥ ३३ ॥

**सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गेदवित् ।**

**गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ ३४ ॥**

श्रीराम जो जितनी विद्याएँ हैं, उन सब के नियमों के पारदृष्ट हैं, ( अर्थात् सब विद्याओं का नियमपूर्वक भली भाँति अध्ययन किये हुए हैं ) साङ्गेपाङ्ग सम्पूर्ण वेद के जानने वाले हैं, गानविद्या में वे अद्वितीय हैं ॥ ३४ ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ।  
द्विजैरभिविनीतश्च<sup>१</sup> श्रेष्ठैर्धर्मर्थदर्शिभिः ॥ ३५ ॥

सकल कल्याणों के आश्रय स्थल हैं, अथवा उत्तमकुलोत्पन्न हैं, साधु प्रकृति के हैं, सदा प्रसन्न चित्त रहने वाले हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं, ब्राह्मणों द्वारा सुशिक्षित हैं, श्रेष्ठ हैं और धर्मर्थ के प्रतिपादन में कुशल हैं ॥ ३५ ॥

यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ।  
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते ॥ ३६ ॥

फिर वे जब कभी श्रीलक्ष्मण जी के साथ ग्राम या नगर को जीतने के लिये रण में जाते हैं, तब वे शत्रु को जीते बिना नहीं लौटते ॥ ३६ ॥

संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा ।  
पैरान्स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ॥ ३७ ॥

पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ।  
निखिलेनानुपूर्व्याच्च पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ ३८ ॥

और संग्राम से रथ या हाथों पर बैठ कर, जब वे लौटते हैं, तब पुरखासियों से स्वजनों की भाँति उनके पुत्रों का, अग्नि ( अग्नि

<sup>१</sup> अभिविनीतः—सर्वतः सुशिक्षितः । ( गो० )

होत्रादि ) का, खियों का तथा दास और शिष्यों का क्रम से उसी प्रकार कुशल पूँछते हैं ; जैसे पिता अपने और स पुत्रों से कुशल पूँछता है ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

शुश्रूषान्ते च वः शिष्याः कच्चित्कर्मसु दंशिताः<sup>१</sup> ।  
इति नः पुरुषव्याघ्रा सदा रामोऽभिभाषते ॥ ३९ ॥

हे महाराज ! हम लोगों से श्रीरामचन्द्र जी सदा पूँछा करते हैं कि, तुम्हारे शिष्य यथाविधि तुम्हारी सेवा शुश्रूषा करते हैं कि, नहीं ? अपने काम में सदा तत्पर रहते हैं कि, नहीं ? ॥ ३६ ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ।  
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥ ४० ॥

जब कभी कोई मनुष्य दुखी होता है, तब उसके दुख से आप दुखी होते हैं और जब किसी के कोई उत्सव होता है, तब वे आप पिता को तरह मन्तुष्ट होते हैं ॥ ४० ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।  
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी वडे सत्यवादी, महाधनुर्दर, वृद्धसेवी, जितेन्द्रिय, ( मिलते ही ) स्वयं प्रथम हँस कर बोलने वाले और सब प्रकार से धर्मसेवी हैं ॥ ४१ ॥

सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विग्रहकथारुचिः ।  
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ ४२ ॥

<sup>१</sup> दंशितः—सबद्वाः । ( गो० )

वे अच्छे कामों को सदा करने वाले हैं, लड़ाई भगड़े की बातें कहने सुनने में उनका रुचि ही नहीं है। वे वार्तालाप करते समय उत्तरोत्तर युक्तियों से काम लेने में वृहस्पति के समान हैं ॥ ४२ ॥

**सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ।**

**रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ॥ ४३ ॥**

सुन्दर भौंह, बड़े बड़े रक्त नेत्र वाले श्रीराम जी साक्षात् विष्णु के तुल्य हैं। श्रीरामचन्द्र जी शौर्य, वीर्य व पराक्रम में लोगों का अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४३ ॥

**प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ।**

**शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं किंनु महीमिमाम् ॥४४॥**

वे प्रजा के पालन करने में सदा तत्पर रहते हैं और राजसी-भोगों में संलग्न न होने वाले हैं अथवा उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल नहीं हैं। श्रीरामचन्द्र जी तीनों लोकों का राज्य करने की सामर्थ्य रखते हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्य क्या चीज़ है ? ॥ ४४ ॥

**नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थेऽस्ति कटाचन ।**

**हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्ये नच कुप्यति ॥ ४५ ॥**

इनका क्रोध और इनकी प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती। ये मारने योग्य को मारे बिना नहीं रहते और न मारने योग्य पर कभी क्रुद्ध भी नहीं होते ॥ ४५ ॥

**युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ।**

**दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसञ्जननैर्णणाम् ॥ ४६ ॥**

जिस पर ये प्रसन्न होते हैं, उसको सब ही कुछ देते हैं। ये यम नियमादि पालन में कष्टसहिष्णु हैं। सब प्रजाजनों के प्रीतिपात्र हैं, और स्वजनों में प्रीति उत्पन्न कराने वाले हैं ॥ ४६ ॥

गुणैर्विशुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ।

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ४७ ॥

इन गुणों से श्रीरामचन्द्र जी किरणों द्वारा सूर्य की तरह शोभा देने वाले हैं। इन सब गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को, ॥ ४७ ॥

लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ।

वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघव ॥ ४८ ॥

लोकपालों की तरह पृथिवी अपना पति बनाना चाहती है। हे महाराज ! आप वडे भाग्यवान् हैं, ऐसे कल्याणमूर्ति श्रीराम जी आपके पुत्र हैं ॥ ४८ ॥

दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव काश्यपः ।

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः<sup>१</sup> ॥ ४९ ॥

वडे सौभाग्य ही से मरीच के पुत्र काश्यप की तरह गुणवान् ये आपके पुत्र हैं। ( सो वे राज्याल्ह हों, यह तो वडे सौभाग्य की बात है । ) जगप्रसिद्ध श्रीराम जी के बल, आरोग्य और दीर्घजीवन के लिये ॥ ४९ ॥

देवासुरमनुष्येषु गन्धर्वेषूरगेषु च ।

आशंसन्ते<sup>२</sup> जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा ॥ ५० ॥

१ विदितात्मनः—प्रसिद्धशीलस्य । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयते ।

देवता, असुर, ऋषि, गन्धर्व, नाग, तथा अयोध्या नगरी के निवासी तथा कोशलराज्य भर के समस्त लोग प्रार्थना करते हैं ॥ ५० ॥

आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ।

स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः ॥ ५१ ॥

सर्वान्देवान्मस्यन्ति रामस्यार्थे यशस्विनः ।

तेषामायाच्चितं देव त्वत्प्रसादात्समृध्यताम् ॥ ५२ ॥

बाहिरी और राजधानी के रहने वाले स्त्री पुरुष, बूढ़े जवान सब लोग सुबह शाम एकाग्र मन से सब देवताओं से यशस्वी श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना के लिये प्रार्थना किया करते हैं । उन सब की प्रार्थना आप पूरी करें ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिवर्हणम् ।

पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

हम लोग, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को, जो नील कमल के सदृश श्याम हैं, और शत्रुनाशक हैं, युवराज के आसन पर बैठा देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते

सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।

हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं

मुदाभिषेकतुं वरद त्वर्महसि ॥ ५४ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे वरद ! अब हम लोगों की यह प्रार्थना है कि, आप विष्णु के समान, सब लोकों के हितकारी, उदार अपने पुत्र श्रीराम जी को प्रसन्न मन से यौवराज्य पद पर शीघ्र अभिषिक्त कर दीजिये ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का दूसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

### तृतीयः सर्गः

—: \* :—

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।

प्रतिगृह्णाब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार हाथ जोड़ कर वे लोग जो प्रार्थना कर रहे थे, उसको आदर पूर्वक सुन कर महाराज दशरथ उनसे प्रिय व हित-कर वचन बोले ॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमपीतः प्रभावश्चातुलो मम ।

यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छुथ ॥ २ ॥

आहा ! मैं बहुत प्रसन्न हूँ, मेरे बड़े भाग्य हैं, जो आप लोग मेरे प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को युवराज बनाना चाहते हैं ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्च्य तान्राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत् ।

वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार उन लोगों का मधुर वचनों से सम्मान कर, महाराज दशरथ उनके ही सामने, वशिष्ठ, वामदेवादि ब्राह्मणों से बोले ॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्टिकाननः ।  
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

इस श्रेष्ठ और पवित्र चैत्रमास में, जिसमें चारों ओर बन पुष्टियों से सुशोभित हो रहे हैं, श्रीरामचन्द्र जो के, यौवराज्य पद पर अभिषेक करने की आप लोग सब तैयारियाँ कीजिये ॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत ।  
शनैस्तस्मिन्प्रशान्ते च जनघोषो नराधिपः ॥ ५ ॥

जब यह कह कर महाराज चुप हो गये, तब लोगों ने बड़ा आनन्दघोष किया । महाराज दशरथ, धोरे धीरे उस जनघोष के शान्त हो जाने पर ॥ ५ ॥

वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत् ।  
अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥

तदद्य भगवान्सर्वमाज्ञापयितुमर्हति ।  
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥

मुनिप्रवर वशिष्ठ जी से बोले, हे भगवन् ! श्रीराम जी के अभिषेक के लिये जो जो कृत्य करने हों और जो सामान चाहिये, उसके लिये आज्ञा कीजिये । विप्रप्रवर वशिष्ठ जी ने यह सुन कर ॥ ६ ॥ ७ ॥

आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान्युक्तान्कृताङ्गलीन् ।  
सुवर्णादीनि रवानि बलीन्सर्वैषधीरपि ॥ ८ ॥

उन मंत्रियों को जो महाराज के सामने हाथ जोड़े हुए थे,  
आज्ञा दी कि, तुम लोग सुवर्णादि रत्नावलि (देवोपहार की  
वस्तुएँ) और सब अपधियाँ ॥ ८ ॥

शुक्रमाल्यानि लाजांश्च पृथक् च मधुसर्पिषो ।

अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥

चतुरङ्गवलं चैव गजं च शुभलक्षणम् ।

चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥

शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् ।

हिरण्यशृङ्गमृष्टभं समग्रं व्याघ्रचर्मं च ॥ ११ ॥

उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारं महीपतेः ।

यच्चान्यत्किञ्चिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ १२ ॥

सफेद पुष्प की मालाएं, लाजा (धान की खींचे), अलग अलग  
पात्रों में शहद व शो, कोरे वस्त्र, रथ, सब आयुध, चतुरङ्गणी  
सेना, शुभ लक्षण वाले हाथों, दो चँवर, सफेद ध्वजा और सफेद  
छत्र, सुवर्ण के सौ कलश, जो अग्नि के समान चमकदार हैं,  
सुवर्ण से मढ़े हुए सींग वाले बैल, अखण्डित व्याघ्र चर्म, तथा  
अन्य जो कुङ्क चाहिये सेा सब एकत्र कर, कल सर्वे महाराज की  
अग्निशाला में ला कर रखो ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च ।

चन्दनसाग्निभरच्यन्तां धूपैश्च ग्राणहारिभिः ॥ १३ ॥

रनिवास के और नगर के सब द्वारों का चन्दन, माला और  
अच्छी सुगन्धित धूप से पूजन किया जाय ॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद्धिक्षीरोपसेचनम् ।

द्विजानां शतसाहस्रे यत्प्रकामपलं भवेत् ॥ १४ ॥

सब प्रकार के सुन्दर, मीठे और आरोग्यकारी अन्न, दही, दूध, के बने हुए पदार्थ तैयार किये जायें, जिससे एक लक्ष ब्राह्मण भोजन कर तृप्त हो सकें ॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् ।

घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १५ ॥

यह भोजन कल सबेरे ही ब्राह्मणों को सत्कार पूर्वक दिया जाय । उनको धी, दही तथा लावा ( खीले ) और दक्षिणा भी इतनी दी जाय कि, उन्हें फिर अन्यत्र कहीं माँगने की आवश्यकता न रहे ॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् ।

ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥ १६ ॥

सूर्य उदय होते ही कल स्वस्तिवाचन होगा । अतएव ब्राह्मणों के पास ( आज ही ) निमंत्रण भेज दिया जाय और उनको बैठाने के लिये आसनों का प्रबन्ध कर दिया जाय ॥ १६ ॥

आवध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिन्ध्यताम् ।

सर्वे च तालावचरा<sup>१</sup> गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥

कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु वृपवेशमनिः ।

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्षाः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> तालावचरा—नर्तकादयः । ( गो० )

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक् ।

दीर्घासिवद्वा योधाश्च सन्नद्वा मृष्टवाससाः ॥ १९ ॥

जगह जगह बंदनवारे बाँध दी जायें, और सड़कों पर छिड़काव करवा दिया जाय । सफरदाइयों सहित नाचने वाली वेश्याएँ सज्जधज कर राजभवन को दूसरी छोटी पर उपस्थित रहें । राजधानी में जितने देवमन्दिर तथा चौराहे हैं, उन सब में, खाने पीने योग्य पदार्थ, दक्षिणा और अन्य पूजन की सामग्री यथा फूल आदि, अलग अलग भेज दी जायें । विशाल खड़ुधारी शूर योद्धा, सुन्दर पोशाकें पहिन कर, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

महाराजाङ्गणं सर्वे प्रविशन्तु महोदयम्<sup>१</sup> ।

एवं व्यादिश्य विप्रौ तौ क्रियास्तत्र सुनिष्ठितौ ॥ २० ॥

महाराज के आँगन में जहाँ कि महोत्सव होगा, उपस्थित हों । इस प्रकार वशिष्ठ और वामदेव मंत्रियों को आज्ञा दें तथा सब कामों का ठीकठाक कर, ॥ २० ॥

चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद च ।

कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥

और जो वस्तुएँ और अपेक्षित थीं उनको मँगवाने की आज्ञा दें और जो काम करवाना था उसको आरम्भ करवा, महाराजा के पास जा कर इन सब बातों की सूचना दी ॥ २१ ॥

यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विर्जर्षभौ ।

ततः सुमन्त्रं द्युतिमानराजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

<sup>१</sup> महोदयम—महोत्सवविशिष्ट मङ्गलम् । ( रा० )

जब उन दोनों द्विजश्रेष्ठों ने महाराज से हर्षित हो कहा कि, “ठीक है,” तब महातेजस्वी महाराज ने सुमंत्र से कहा ॥ २२ ॥

**रामः कृतात्मा<sup>१</sup> भवता शीघ्रमानीयतामिति ।**

स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥

रामं तत्रानयाच्चके रथेन रथिनांवरम् ।

अथ तत्र समासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥

कि तुम जा कर सुशिक्षित श्रीरामचन्द्र को श्रीघ्र यहाँ ले आओ । महाराज की आज्ञा पा और “जो आज्ञा” कह, सुमंत्र तुरन्त रथ में सवार करा योद्धाओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी को महाराज के पास ले आये ॥ २३ ॥ २४ ॥

**प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः ।**

**म्लेच्छाचार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥**

उस समय महाराज के पास पूर्व, उत्तर, पश्चिम, और दक्षिण के राजा लोग, म्लेच्छ, आर्य और वन तथा पर्वतों के रहने वाले राजागण ॥ २५ ॥

**उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा इव वासवम् ।**

**तेषां मध्ये स राजर्षिर्मृतामिव वासवः ॥ २६ ॥**

राजसभा में इस प्रकार बैठे थे कि, जिस प्रकार देवतागण इन्द्र की सभा में बैठते हैं । उस समय राजर्षि दशरथ उन राजाओं के बीच वैसी ही शोभा को प्राप्त हो रहे थे, जैसी शोभा देवताओं के बीच इन्द्र की होती है ॥ २६ ॥

<sup>१</sup> कृतात्मा—सुशिक्षितवृद्धिः । (गो०)

प्रासादस्थो रथगतं ददर्श्यान्तमात्मजम् ।

गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं पत्तमातङ्गगामिनम् ।

चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥

रूपैदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ।

घर्माभितसाः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

इतने में कोठे पर बैठे हुए महाराज ने गन्धर्वराज के समान सुन्दर, प्रसिद्ध पराक्रमी, आजानुवाहु, महावली, मत्त गजराज के समान चालवाले, चन्द्रमुख, अतीव प्रियदर्शन, रूप और उदारता गुण से देखने वाले के मन को हरण करने वाले, तथा जिस प्रकार धाम से तप्त प्राणी ऐव के दर्शन कर प्रसन्न होते हैं ; उसी प्रकार अपने दर्शन से प्रजा को प्रसन्न करने वाले, अपने पुत्र श्रीराम जी को देखा ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ।

अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥

पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ।

स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुङ्गवः ॥ ३१ ॥

आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ।

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥

महाराज दशरथ आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को देखते देखते नहीं अघाते थे । श्रीरामचन्द्र जी को उस उत्तम रथ से उतार

कर महाराज दशरथ के पास जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी के पीछे सुमंत्र हाथ जोड़ कर चले। पितृभक्त श्रीरामचन्द्र जी कैलास पर्वत जैसे ऊँचे राजभवन पर सुमंत्र सहित महाराज से मिलने के लिये चढ़े और उन्होंने महाराज के समीप जा, हाथ जोड़, ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

नाम स्वं श्रावयन्नरामो ववन्दे चरणौ पितुः ।

तं दृष्ट्वा प्रणतं पाश्वे कृताञ्जलिपुरुं नृपः ॥ ३३ ॥

और अपना नाम ले कर पिता के चरणों को प्रणाम किया। महाराज दशरथ ने जब देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े बग़ल में खड़े हुए हैं ॥ ३३ ॥

गृह्णाञ्जलौ समाकृष्य सख्जे प्रियमात्मजम् ।

तस्मै चाभ्युदितं सम्युड्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥

तब महाराज ने उनका हाथ पकड़ और गले से लगा अपने सामने ऊँचे, सुवर्णमय और रत्नजटित ॥ ३४ ॥

दिदेश राजा स्वचिरं रामाय परमासनम् ।

तदासनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥

स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।

तेन विभ्राजता तत्र सा सभाऽभिव्यरोचत ॥ ३६ ॥

एक उत्तम आसन पर बैठने की आज्ञा दी। उस आसन पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी अपनी प्रभा से वैसे ही सुशोभित हुए जैसे सुमेरु पर्वत पर उदयकाल में उज्ज्वल श्रीसूर्य भगवान् सुशोभित होते हैं। वहाँ बैठे हुए श्रीरामचन्द्र से उस सभा को वैसी ही शोभा हुई ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

विमलग्रहनक्षत्रा शारदी घौर्खिन्दुना ।

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥

जैसी चन्द्रमा के उदय होने पर ग्रह नक्षत्र से पूर्ण शारदीय आकाश की होती है । महाराज दशरथ अपने प्यारे पुत्र की ऐसी शोभा देख, वैसे ही परम सन्तुष्ट हुए ॥ ३७ ॥

अलङ्कृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।

स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतांवरः ॥ ३८ ॥

जैसे कोई अच्छे वसन भूषण पहन कर अपना रूप दर्पण में देख कर प्रसन्न होता है । सब पुत्रवानों में श्रेष्ठ महाराज दशरथ मुसक्का कर वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३८ ॥

उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशाः सुतः ॥ ३९ ॥

जैसे कश्यप, इन्द्र से प्रसन्न हो कर बोलते हैं । हे बत्स ! तुम, मेरी बड़ी रानी के अनुरूप ही पुत्र हुए हो ॥ ३९ ॥

उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।

त्वया यतः प्रजाश्रेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥

तुममें सब उत्तम गुण विद्यमान हैं और तुम मुझे अत्यन्त प्यारे हो । तुमने अपने गुणों से सब प्रजाजनों को प्रसन्न कर रखा है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि ॥ ४१ ॥

इस लिये तुम पुष्य नक्षत्र में यौवराज्य पद पर विराजमान हो । यद्यपि तुम स्वभाव ही से सर्वगुणसम्पन्न और विनम्र हो ; ॥ ४१ ॥

गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ।

भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

तथापि स्नेह से प्रेरित हो, मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ । तुमको उचित है कि, विनय को धारण कर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च ।

परोक्षया<sup>१</sup> वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

काम क्रोध से उत्पन्न हुए जो दुर्व्यसन लोगों में उत्पन्न हो जाया करते हैं, उनसे सदा बचो । अपने राज्य की तथा दूसरे राजाओं के राज्य की घटनाओं को अपने जासूसों द्वारा रक्ती रक्ती ऐसे जानते रहो मानों वे घटनाएँ तुम्हारी आँखों के सामने हुई हों ॥ ४३ ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रकृतीश्चानुरञ्जय ।

कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निवयान्वहून् ॥ ४४ ॥

ऐसा वर्ताव करो जिससे सब मंत्रिवर्ग और प्रजाजन प्रसन्न रहें । अन्न के भण्डार तथा अख्य शख्तों के भण्डार को, अन्न तथा अख्य शख्तों के संग्रह से सदा बढ़ाते रहो ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> परोक्षया—चारमुखतः परोक्षानुभवसिद्ध्यावृत्त्यास्वपराध्वताभ्यं विचारेण । ( ३० )

इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।

तस्य नन्दनित मित्राणि लब्ध्वामृतमिवापराः ॥ ४५ ॥

देखो, जो राजा अपनी प्रजा को प्रसन्न रख कर राज्य करता है, उससे उसके मित्र वैसे ही प्रसन्न रहते हैं, जैसे अमृतपान से देवता प्रसन्न होते हैं ॥ ४५ ॥

तस्मात्पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।

तच्छुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥

अतएव हे वत्स ! तुम सावधान हो कर, मैंने जैसा कहा है, तदनुसार आचरण करो । महाराज दशरथ के यह वचन सुन, श्रीराम जी के हितैषी मित्रों ने ॥ ४६ ॥

त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ।

व्यादिदेश प्रियार्थ्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ॥ ४७ ॥

तुरन्त ज्ञा कर यह शुभ संवाद कौशल्या जी को सुनाया । सुनते ही प्रसन्न हो कर प्रमदाओं में श्रेष्ठा कौशल्या जी ने उन सुखद संवाद सुनाने वालों को अशरफियाँ तरह तरह के रत्न ( जटित आभूषण ) और गौएँ देने की आज्ञा दी ॥ ४७ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुद्ध राघवः ।

ययौ स्वं द्युनिमद्वेशम जनौधैः परिपूजितः ॥ ४८ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी, महाराज दशरथ को प्रणाम कर और रथ पर सवार हो अपने भड़कीले से घर की ओर गये । रास्ते में लेगों की भीड़ ने उनका अभिनन्दन किया ॥ ४८ ॥

ते चापि पैरा नृपतेर्वचस्त-  
 च्छुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।  
 नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा  
 देवान्समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥  
 इति तृतीयः सर्गः ॥

पुरवासी भी महाराज की आङ्गा सुन और इसे अपनी इष्ट प्राप्ति समझ ( मनवीता पाया ) और महाराज को प्रणाम कर, अपने अपने धरों को गये और परम प्रसन्न हो देवताओं का पूजन इसलिये किया कि, रामाभिषेक में किसी प्रकार का विघ्न न पड़े ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:\*:—

### चतुर्थः सर्गः

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः ।  
 मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम् ॥ १ ॥

पुरवासियों के चले जाने पर, महाराज दशरथ ने फिर मंत्रियों के साथ परामर्श कर रामाभिषेक के काल के विषय में इस प्रकार निश्चय कर ( मंत्रियों से कहा ) ॥ १ ॥

श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः ।  
 रामो राजीवताम्राक्षो यौवराज्य इति प्रभुः ॥ २ ॥

१ निश्चयम् - रामाभिषेककालविषयम् । ( रा० )

( अगले दिन ) कल हो पुध्य नक्षत्र है, अतः कमललोचन  
मारि पुत्र श्रीरामचन्द्र का युवराजपद पर अभिषेक कल अवश्य  
हो जाना चाहिये ॥ २ ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा ।

सूतमाज्ञापयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

( यह कह मंत्रियों को विदा किया । केवल सुमंत्र के साथ )  
महाराज दशरथ अन्तःपुर में गये और सुमंत्र को आज्ञा दी कि,  
श्रीराम को फिर हमारे पास ले आओ ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य स तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ ।

रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥

सुमंत्र महाराज को आज्ञा को शिरोधार्य कर, श्रीराम जी को  
पुनः बुला लाने के लिये शीघ्र श्रीराम जी के भवन को गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः ।

श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥

जब द्वारपालों ने, श्रीरामचन्द्र जी से उनके बुलाने के लिये  
सुमंत्र के पुनः आने का संवाद कहा, तब श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र के  
पुनः बुलाने के लिये आने का संवाद सुन, मन में शङ्कित हुए ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितं रामो वचनमव्रीत् ।

यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूहृशेषतः ॥ ६ ॥

किन्तु तुरन्त हो सुमंत्र को सामने लाने की द्वारपालों को  
आज्ञा दी और सुमंत्र के सामने आने पर उनसे पूँछा कि आपका  
आगमन जिस कारण हुआ है सो सब कहिये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वा द्रष्टुमिच्छति ।

श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

सुमंत्र ने उत्तर दिया—महाराज आपको देखना चाहते हैं।  
आगे आप जैसा उचित समझें करें ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः ।

प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जी शीघ्रतापूर्वक महाराज दशरथ के  
महल में उनसे फिर मिलने को गये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समजुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः ।

प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आगमन सुन, महाराज दशरथ, उनसे  
कुछ ( गुप्त रूप से ) बातचीत करने के लिये, उन्हें अपने निजगृह  
( खास कमरे ) में ले गये ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान्राघवो भवनं पितुः ।

ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पिता के भवन में प्रवेश करते समय दूर  
ही से महाराज को देख हाथ जोड़ प्रणाम किया ॥ १० ॥

प्रणमन्तं समुत्थाप्य तं परिष्वज्य भूमिपः ।

प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

( फिर जब वे पिता के समीप पहुँचे, तब उन्होंने पृथिवी पर  
गिर कर, प्रणाम किया ) प्रणाम करते हुए, श्रीरामचन्द्र जी

को उठा अपने हृदय से लगा और बैठने को आसन दे, महाराज उनसे बोले ॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुभुक्ता भोगा मयेप्सिताः ।  
अन्नवद्धिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥

हे राम ! हम अब बूढ़े हो गये हैं। हमने बहुत दिनों राज्य कर के मनमाने सुख भोगे तथा अन्न दान पूर्वक विपुल दक्षिणा दे कर, सैकड़ों यज्ञ भी किये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि ।  
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पृथिवी तल पर उपमारहित तुम जैसे सुपुत्र को पा कर मेरा दान देना और वेदाध्ययन करना सार्थक हुआ। अथवा मेरे तुम जैसे अनुपम पुत्र उत्पन्न हुए। हे नरश्रेष्ठ ! मैंने मनमाने दान दिये, यज्ञ किये और वेदाध्ययन भी किया ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीरसुखान्यपि ।  
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

हे वीर ! जहाँ तक सुखभोग हो सकता है मैंने भोगा अथवा अब भोगने के लिये कोई सुख शेष नहीं रहा। मैं देव, ऋषि, पितृ, ब्राह्मण तथा आत्म-ऋणों से मुक्त हो चुका। (यज्ञ, अध्ययन, पुत्रोत्पादन, दान तथा उत्तम उत्तम पदार्थों का भोग ; उक्त ऋणों से कूटने के क्रमागत उपाय हैं।) ॥ १४ ॥

न किञ्चिन्न्यम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात् ।  
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

अब केवल तुम्हारे अभिषेक को छोड़ मुझे अन्य कोई भी काम करना शेष नहीं रहा । अतएव अब मैं जो तुमसे कहता हूँ, उसे तुम करो ॥ १५ ॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिष्ठम् ।

अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

अब प्रजा जनों की यह इच्छा है कि, तुम उनके राजा बनो । हे वत्स ! इसी लिये मैं तुम्हारा युवराज पद पर अभिषेक करता हूँ ॥ १६ ॥

अपि चाद्याशुभान्नाम स्वप्ने पश्यामि दारुणान् ।

सनिर्धार्ता महोल्काश्च पतिता हि महास्वनाः ॥ १७ ॥

( किन्तु इस मेरी चाहना के पूरे होने में मुझे विघ्न पड़ता हुआ देख पड़ता है, क्योंकि ) कुछ दिनों से रात में मुझे बड़े भयङ्कर और अशुभ स्वप्न दिखलाई पड़ते हैं । आकाश से बड़े भीषण शब्द के साथ बज्रपात के साथ डलकापात होते हैं ॥ १७ ॥

अवष्टव्यं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः ।

आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

हे राम ! मेरे जन्म नक्षत्र को बुरे ग्रहों ने बेर रखा है । ज्योतिषियों का कहना है कि, सूर्य, मङ्गल, राहु का जन्म नक्षत्र को बेरना अच्छा नहीं ॥ १८ ॥

[ नोट—आधुनिक कठिपय आलोचकों का मत है कि, भारतवर्ष में प्राचीन काल में फलितज्योतिष का प्रचार नहीं था । फलितज्योतिष भारतवासियों ने मुख्लमानों से सीखा । किन्तु इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में भारतवर्ष में फलितज्योतिष माना जाता था और तत्कालीन राजागण

ज्योतिषियों के बतलाये फलों पर आस्थावान् थे और ज्योतिषियों के बतलाये फल भी मिला करते थे । ]

प्रायेण हि निमित्तानामीदशानां समुद्धवे ।

राजा हि मृत्युमवामोति घोरां वाऽपदमृच्छति ॥ १९ ॥

प्रायः, ऐसा बुरा योग होने पर या तो राजा की मृत्यु होती है, अथवा उस पर कोई भारी विपत्ति पड़ती है ॥ २० ॥

तद्यावदेव मे चेतो न विमुच्चति राघव ।

तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

सो हे राघव ! मैं चेत मैं रहते हुए हो ( अर्थात् जब तक मेरे होश हवास दुर्लस्त है ) तुम्हारा अभिषेक कर देना चाहता हूँ । क्योंकि मनुष्य की मति का कुछ भरोसा नहीं ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगतः पुष्यात्पूर्वं पुनर्वसु ।

श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् ।

श्वस्त्वाऽहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परन्तप ॥ २२ ॥

ज्योतिषियों ने बतलाया है कि, आज पुनर्वसु नक्षत्र है, कल पुष्य नक्षत्र आवेगा और पुष्य नक्षत्र अभिषेक के लिये अच्छा है । मैं तुम्हारे अभिषेक के लिये व्यग्र हो रहा हूँ । अतः मेरी इच्छा है कि, कल ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय ॥ २१ ॥ २२ ॥

तस्मात्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना ।

सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

अतः आज ही से तुम सखीक नियन्त्रानुसार व्रत उपवास करके पथर की चौकी पर कुश विद्धा कर शयन करना ॥ २३ ॥

सुहृदश्वाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः ।

भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

आज सावधानता पूर्वक चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करना, तुम्हारे मित्रों का कर्तव्य है। क्योंकि ऐसे कार्यों में अनेक प्रकार के विघ्न होने की सम्भावना बनी रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः ।

तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

भरत इस समय अपने मामा के घर है, सुतरां उसके लौटने के पूर्व ही तुम्हारा अभिषेक हो जाय, मेरी यही इच्छा है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः ।

ज्येष्ठानुवर्तीं धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥

क्योंकि यद्यपि तुम्हारे भाई भरत सज्जन हैं, वडे भाई के कथना-नुसार चलने वाले हैं, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं ॥ २६ ॥

किन्तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः ।

सतां तु धर्मनित्यानां कुतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

तथापि मेरी समझ में मनुष्यों का मन चञ्चल हुआ करता है और धार्मिक पवं साधु पुरुषों का मन भी ( सदा तो नहीं, किन्तु कभी कभी कारण विशेष उपस्थित होने पर ) चलायमान हो जाता है ॥ २७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वेषाविन्यभिषेचने ।  
ब्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद्गृहम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ ने कहा—अतएव कल तुम्हारा अभिषेक होगा श्वेष । अपने भवन को जाओ । पिता की ऐसी आज्ञा पा और पिता को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी अपने भवन को गये ॥ २८ ॥

प्रविश्य चात्मनो वेशम राज्ञोद्दिष्टेऽभिषेचने ।  
तत्क्षणेन च निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

अपने घर पर पहुँच कर श्रीरामचन्द्र जी ने चाहा कि, जानकी जी से वे सब नियम जो महाराज ने बतलाये हैं और कर्त्तव्य हैं, बतला दें, किन्तु वहाँ सीता जी को न पा कर वे तुरन्त वहाँ से अपनी माता के भवन में चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।  
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जा कर देखा कि, माता कौशल्या जी रेशमी वस्त्र पहने हुए, देवमन्दिर में बैठी हुई और मौनव्रत धारण किये हुए श्रीराम जी के अभ्युदय के लिये (अथवा राजलक्ष्मी की प्राप्ति के लिये) प्रार्थना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।  
सीता च नायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम जी के अभिषेक का वृत्तान्त सुन सुमित्रा जी व लक्ष्मण जी पहले ही से वहाँ पहुँच चुके थे । कौशल्या जी ने यह संवाद

सुन सीता जी को भी बुलवा लिया था और वे भी उस समय उनके पास बैठी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन्काले हि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।

सुमित्रयाऽन्वास्यमान सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्येण पुत्रस्य यौवराज्याभिषेचनम् ।

प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

जिस समय श्रीराम जी वहाँ पहुँचे, उस समय कौशल्या जी, पुत्र का पुष्य नक्षत्र में अभिषेक किये जाने का संवाद सुन, आँख मुँद कर पुराणपुरुष नारायण का ध्यान कर रही थीं और सुमित्रा जी, लक्ष्मण जी और जानकी जी उनके पास बैठी हुई थीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

तथा सन्नियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।

उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं तदा ॥ ३४ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी वहाँ पहुँचे और माता को प्रणाम कर और हर्षित कर कहने लगे ॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।

भविता श्वोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥

हे मा ! पिता जी ने मुझे प्रजापालन कार्य करने को आज्ञा दी है । सो मुझे कल ही पिता की आज्ञा से राज्यभार ग्रहण करना होगा ॥ ३५ ॥

सीतयाऽप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।

एवमृत्विगुपाध्यायैः सह मामुक्तवान्पिता ॥ ३६ ॥

आप की वह सोता को भी चाहिये कि आज रात में मेरे साथ उपवास करें, क्योंकि वशिष्ठादि ऋषियों की सम्मति से पिता जी ने यही कहा है ॥ ३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वेभाविन्यभिषेचने ।  
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्रैव कारय ॥ ३७ ॥

सो प्रातःकाल के अभिषेक सम्बन्धी मङ्गल स्नानादि जो कर्म करने हों, जनकनन्दिनी के साथ वे सब मुझसे करवाइये ॥ ३७ ॥

एतच्छुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।  
हर्षवाष्पकलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

यह सुन कर, चिरकाल से रामराज्याभिषेक की प्रतोक्ता करने वाली कौशल्या, नेत्र में आनन्द के आँसुओं को भर श्रीरामचन्द्र जी से यह बोली ॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।  
ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्द्य ॥ ३९ ॥

हे वत्स राम ! तुम चिरजीवी हो । तुम्हारे बैरी नष्ट हों और तुम राजलक्ष्मी पा कर मेरे और सुमित्रा के इष्ट वन्धुओं को हर्षित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मयि जातोसि पुत्रक ।  
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

हे वत्स ! तुम अच्छे नक्षत्र में उत्पन्न हुए हो जो तुमने अपने गुणों से अपने पिता महाराज दशरथ को प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अमोघं<sup>१</sup> बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।

येयमिद्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

मैंने इतने दिनों तक पुराणपुरुष कमलनयन नारायण के जो व्रतोपवास किये, वे सब आज सफल हुए, जो यह इद्वाकुवंश की राज्यश्री तुमको अब प्राप्त होने वाली है ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरमब्रवीत् ।

प्राञ्जलिं प्रह्मासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माता की ये बातें सुन, श्रीरामचन्द्र जी अपने भाई लक्ष्मण जी से, जो हाथ जोड़े विनीत भाव से खड़े थे, मुस्कया कर बोले ॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुन्धराम् ।

द्वितीयं मेन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरूपस्थिता ॥ ४३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथिवी का पालन करो, क्योंकि तुम मेरे एक दूसरे आत्मा हो । इसीसे यह राज्यलक्ष्मी तुम्हारे पास आयी है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुड्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टानराज्यफलानि च ।

जीवितं च हि राज्यं च त्वद् मभिकामये ॥ ४४ ॥

हे सौमित्रे ! तुम यथेष्ट रूप से राज्य फल भेगो । मैं तुम्हारे ही लिये अपना जीवन और राज्य चाहता हूँ ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।

अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च जगाम स्वं निवेशनम् ॥४५॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी से यह कह और दोनों माताओं ( अर्थात् कौशल्या और सुमित्रा ) को प्रणाम कर और उनसे बिदा हो, जानकी सहित अपने गृह में आये ॥ ४५ ॥

अयोध्याकागड़ का चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

### पञ्चमः सर्गः

—०—

संदिश्य रामं नृपतिः श्वेभाविन्यभिषेचने ।

पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ राम से यह कह कि, कल तुम युवराज पद पर अतिषिक किये जाओगे, पुरोहित वशिष्ठ जी को बुला, उनसे बोले ॥ १ ॥

गच्छोपवासं काङ्कुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।

श्रीयशोराज्यलाभाय वध्वा सह यतत्रतम् ॥ २ ॥

हे तपोधन ! आप श्रीरामचन्द्र के पास जा कर उनके मङ्गल, यश और राज्य की प्राप्ति के लिये, उनसे पत्ती सहित, उपवास करने को कहिये ॥ २ ॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदांवरः ।

स्वयं वसिष्ठो भगवान्ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

वेद जानने वालों में श्रेष्ठ भगवान् वशिष्ठ जी “बहुत अच्छा” कह कर स्वयं ही रामचन्द्र जी के घर गये ॥ ३ ॥

उपवासयितुं रामं मन्त्रवन्मन्त्रकोविदः ।

ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुदृढव्रतः ॥ ४ ॥

वशिष्ठ जी महाराज ब्राह्मणों के चढ़ने योग्य (दो धोड़ों के) रथ में बैठ व्रतधारी एवं मन्त्र के जानने वालों में प्रवीण श्रीरामचन्द्र को व्रत कराने के लिये गये ॥ ४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।

तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्वेत वादल के समान सफेद रङ्ग के, श्रीरामचन्द्र जी के भवन में वशिष्ठ जी पहुँचे और तीन छोड़ियों तक रथ ही में बैठे हुए चले गये ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमः ।

मानयिष्यन्स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वशिष्ठ जी का आगमन सुन, श्रीरामचन्द्र जो, बड़े हर्ष के साथ अति शीघ्रता से स्वागत करने योग्य मुनिराज का स्वागत एवं अभ्यर्थना करने को, अपने घर से निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणश्च रथाभ्यार्शं मनीषिणः ।

ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥ ७ ॥

और उचित रीति से उनका आदर करने के लिये, शीघ्रता पूर्वक वशिष्ठ जी के पास पहुँच और उनका हाथ पकड़, उनको रथ से स्वयं नीचे उतारा ॥ ७ ॥

स चैनं प्रश्रितं<sup>१</sup> दृष्ट्वा संभाष्याभिप्रसाद्य च ।

प्रियाहौं हर्षयन्नराममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

तब महर्षि वशिष्ठ जी श्रीरामचन्द्र जी का भाव देख और उनसे कुशल प्रश्न पूँछ, तथा प्रसन्न हो, उनको आनन्दित कर कहने लगे ॥ ८ ॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवाप्स्यसि ।

उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

हे राम ! तुम्हारे पिता तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं, कल तुम युवराज पद पाओगे । आज सीता सहित उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।

पिता दशरथः प्रीत्या ययाति नहुषो यथा ॥ १० ॥

जिस प्रकार प्रसन्न हो कर राजा नहुष ने राजा ययाति को राज्य दिया था, उसी प्रकार महाराज दशरथ कल सबेरे युवराज पद पर तुमको अभिषिक्त करेंगे ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतत्रतम् ।

मन्त्रवित्कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः ॥ ११ ॥

यह कह कर वेदमन्त्रवित् मुनिराज ने नियतव्रत श्रीरामचन्द्र और सीता जी से उस रात्रि को उपवास करवाया ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> प्रश्रितं—विनीतं । (गो०)   <sup>२</sup> संभाष्य—कुशलप्रर्भकृत्वा । (गो०)

ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुर्चितः ।

अभ्यनुज्ञाप्य काकुतस्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने राजगुरु वशिष्ठ जी का भली भाँति पूजन किया । राजगुरु उसे अहण कर और बिदा हो, श्रीरामचन्द्र के घर से चले गये ॥ १२ ॥

सुहृद्दिस्तत्र रामेऽपि सुखासीनः प्रियंवदैः ।

सभाजितोऽ विवेशाथ तानुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी भी अपने सच्चे इष्टमित्रों के साथ आनन्द से बैठे हुए बातचीत करते रहे और फिर उनसे सम्मानित हो, तथा उन्हीं सब लोगों के कहने से घर के भीतर गये ॥ १३ ॥

प्रहृष्टनरनारीकं रामवेशम् तदा वभौ ।

यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के घर में प्रसन्नचित्त नरनारियों की भीड़ लग गयी और उनके वहाँ एकत्रित होने से राजभवन की वैसी ही शोभा हुई, जैसी शोभा विकसित कमलों से भरे हुए सरो-वर की मतवाले पक्षियों से होती है ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्यातेचस्माद्रामनिवेशनात् ।

निःसृत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

वशिष्ठ जी ने राजभवन सदृश श्रीरामभवन से निकल कर देखा कि, सब सङ्कें मनुष्यों से उसाठस भरी हुई हैं ॥ १५ ॥

१ सभाजितः—पूजितः । ( रा० ) २ प्रख्यं—सदृशं । ( रा० )

बृन्दबृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।  
बभूवुरभिसंवाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्या की त्रारों ओर की सङ्कें श्रीरामचन्द्र के अभिषेकोत्सव को देखने के लिये उक्तगिठत लोगों की भीड़ से भरी हुई थीं। आने जाने का रास्ता तक नहीं रह गया था ॥ १६ ॥

जनबृन्दार्पिसङ्घर्षस्वनवतस्तदा ।  
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ १७ ॥

मनुष्यों के दल के दल मारे हर्ष के कोलाहल करते हुए सङ्कों पर चले जाते थे, उस समय उनका वह आनन्द परिपूर्ण कोलाहल ऐसा जान पड़ता था मानों समुद्र गरज रहा हो ॥ १७ ॥

सित्कर्संमृष्टरथ्या च तदहर्वनमालिनी ।  
आसीदयोध्या नगरी समुच्छ्रुतगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन अयोध्यापुरी की सब सङ्कें स्वच्छ और छिड़की हुई थीं। उनकी दोनों ओर बड़ी लंबी लंबी पुष्पमालाएँ बन्दन-बार की तरह लटक रही थीं और प्रत्येक घर ध्वजापताकाओं से सुशोभित था ॥ १८ ॥

तदा ह्योध्यानिलयः सखीबालाबलो जनः ।  
रामाभिषेकमाकाङ्गनाकाङ्गदुदयं रवेः ॥ १९ ॥

नगरी के खी पुरुष आबालबुद्ध श्रीराम जी का अभिषेक देखने की आकांक्षा से यही चाह रहे थे कि, सूर्य कब उदय हो अर्थात् सबेरा जल्द हो ॥ १९ ॥

प्रजालङ्घारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।

उत्सुकोऽभूजनो दृष्टुं तमयोध्यामहेत्सवम् ॥ २० ॥

प्रजा जनों के अलङ्घार रूप और आनन्द को बढ़ाने वाले उस महोत्सव को देखने के लिये सब लोग उत्सुक हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तं जनसंवाधं राजमार्गं पुरोहितः ।

व्यूहनिव जनौधं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

सइकों पर लोगों की भोड़ को बचाते हुए धीरे धीरे, राजपुरोहित वशिष्ठ जी राजमहल में पहुँचे ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरूपं सः ।

समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव वृहस्पतिः ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जी श्वेत मेघ के शिखर के समान महल की अटारी पर चढ़ कर, महाराज दशरथ से वैसे ही मिले, जैसे वृहस्पति जी इन्द्र से मिलते हैं ॥ २२ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।

प्रच्छ स च तस्मै तत्कृतमित्यभ्यवेदयत् ॥ २३ ॥

वशिष्ठ जी को आते देख महाराज अपना आसन छोड़ खड़े हो गये और जिस लिये उनको रामचन्द्र जी के पास भेजा था सो पूँछा । उत्तर में मुनि ने जो वहाँ हुआ था सो सब कह सुनाया ॥ २३ ॥

तेन चैव तदा तुल्यं<sup>१</sup> सहासीनाः सभासदः ।

आसनेभ्यः समुत्तस्थु पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

<sup>१</sup> तुल्यं—तुल्यकालम् । ( १० )

महाराज के सिंहासन से उठते ही, वहाँ पर जो दरबारी थे ;  
वे भी उसी समय अपने अपने आसनों को छोड़ उठ खड़े हुए और  
वशिष्ठ जी का सम्मान किया ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौधं विसृज्य तम् ।  
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

गुरु से पूँछ और दरबारियों को बिदा कर, महाराज दशरथ  
अन्तःपुर में उसी प्रकार चले गये जिस प्रकार सिंह अपनी गुफा में  
चला जाता है ॥ २५ ॥

तदउत्तरूपं प्रमदाजनाकुलं  
महेन्द्रवेशमप्रतिमं निवेशनम् ।  
विदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः  
शशीव तारागणसङ्कुलं नभः ॥ २६ ॥  
इति पञ्चमः सर्गः ॥

इन्द्रभवन सदृश गृह में, जो भूषणों से अलंकृत युवतियों से  
भरा हुआ था, महाराज दशरथ ने प्रवेश किया और वे वहाँ ऐसे  
शोभित हुए जैसे तारानाथ (चन्द्रमा) तारों सहित आकाश  
मण्डल में सुशोभित होता है ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पांचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## षष्ठः सर्गः

—०—

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः<sup>१</sup> ।

सह पत्न्या विशालाक्ष्या \*नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥

उधर वशिष्ठ जी के चले जाने बाद, श्रीरामचन्द्र जी और विशालाक्षी सीता दोनों स्नान कर ( अर्थात् शरीर की शुद्धि कर ) शुद्ध मन से श्रीरङ्गनाथ की उपासना में लग गये ॥ १ ॥

प्रगृहा शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्तदा ।

महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितेऽनले ॥ २ ॥

हविषपात्र को नमस्कार कर विधि पूर्वक, श्रीरामचन्द्र जी ने श्रीरङ्गनाथ के प्रीत्यर्थ, ( अथवा नरायण मंत्र से ) जलते हुए अग्नि में धी की आहुतियाँ दीं ॥ २ ॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम्<sup>२</sup> ।

ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर हवन करने से बचे हुए हविष्यान्न को भक्षण कर, और अपने मङ्गल के लिये प्रार्थना कर और श्री रङ्गनाथ भगवान का व्यान करते हुए, कुशासन पर, ॥ ३ ॥

वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः ।

श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥

<sup>१</sup> नियतमानसः—मनःशुद्धि । ( गो० )    <sup>२</sup> आशास्य प्रार्थ्य । ( रा० )

३ आत्मनःप्रियं—राजयाभिषेकाविघ्नरूपं । ( रा० )

\* नारायणहृति श्रीरङ्गनाथकड़चयते । ( गो० )

मौन धारण कर, शुद्ध मन से, जानकी जी सहित, राजकुमार श्रीरङ्गनाथ जी के मन्दिर में (जो उनके भवन में बना हुआ था) से गये ॥ ४ ॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः ।

अलङ्कारविधिं कृत्स्नं कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥

फिर जब एक पहर रात शेष रही, तब वे उठे और नौकर चाकरों को, सारे भवन को साफ कर, सजाने की आज्ञा दी ॥ ५ ॥

तत्र शृण्वन्मुखा वाचः सूतैमागधैवन्दिनाम् ।

पूर्वां सन्ध्यामुपासीनो जजाप यतमानसः ॥ ६ ॥

सूत, मागध और बंदीजनों की सुखदायक वाणियों को सुनते हुए प्रातःसन्ध्योपासन कर एकाग्रचित्त से गायत्री का जप करने लगे ॥ ६ ॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् ।

विमलक्ष्मैमसंवीतो वाचयामास च द्विजान् ॥ ७ ॥

सन्ध्योपासन और जप के उन्होंने सूर्यान्तर्वर्ती नारायण की स्तुति कर उनको प्रणाम किया । तदनन्तर नये रेशमी वस्त्र पहन और ब्राह्मणों को बुलवा कर, उनसे स्वस्तिवाचन और पुण्याहवाचन करवाया ॥ ७ ॥

तेषां पुण्याहयोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तदा ।

अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥

१ सूताः—पैराणिकाः । (रा०) २ मागध—वंशावलीकीर्तकाः । (रा०)

३ बन्दिनः—स्तुतिपाठकाः । (रा०) ४ सन्ध्या—सन्ध्याधिदेवतां सूर्यं । (गो०)

ब्राह्मणों के पुण्याहवाचन का गम्भीर एवं मधुर शब्द, नगाङों के शब्द से मिल अयोध्या में प्रतिष्ठनित होने लगा ॥ ८ ॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेहा सह राघवम् ।

अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥

अयोध्यावासी जन, सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को ( अभि-  
षेकार्थ ) उपवासादि नियमों का पालन करते हुए सुन, परमानन्दित  
हुए ॥ ९ ॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ।

प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥

जब प्रातःकाल हो गया, तब सब पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी  
का राज्याभिषेक सुन, नगर सजाने के लिये कदली स्तम्भादि  
गाड़ने लगे ॥ १० ॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च ।

चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वद्वालकेषु च ॥ ११ ॥

अयोध्या में जितने वडे हिमालय के शिखरों के समान ऊँचे  
ऊँचे देवमन्दिर थे व जितने चौराहों पर, चौक ( हाट बाट ) में,  
सड़कों पर और गलियों में ऊँचे ऊँचे मकान थे ॥ ११ ॥

नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च ।

कुटुम्बिनां समृधेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥ १२ ॥

तथा अनेक प्रकार की सौदागरी की वस्तुओं से भरी व्यव-  
साइयों की जितनी दुकानें थीं, जितने कुटुम्बीजनों के समृद्ध और  
भरे पूरे घर थे ॥ १२ ॥

सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च ।

ध्वजाः समुच्छ्रुताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा ॥१३॥

तथा जितने सभाभवन थे, तथा जितने ऊँचे ऊँचे वृक्ष थे, न सब पर रंग विरंगी ध्वजा पताकाएँ फहराने लगीं ॥ १३ ॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् ।

मनःकर्णसुखा वाचः शुश्रुतुश्च ततस्ततः ॥ १४ ॥

अयोध्या में जगह जगह नट नर्तकों का मन को प्रसन्न करने वाला और कर्ण-मधुर गाना वजाना होने लगा और लोग सुनने लगे ॥ १४ ॥

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चकुर्मिथो जनाः ।

रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

उस दिन हाट बाट, घर द्वार, भीतर बाहर, जहाँ सुनो वहीं लोग श्रीरामाभिषेक ही को आपस में चर्चा करते सुन पड़ते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः ।

रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेव मिथः कथाः ॥ १६ ॥

घरों के द्वारों पर खेलती हुई बालकों की डोलियों में भी आपस में श्रीरामाभिषेक ही की चर्चा हो रही थी ॥ १६ ॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः ।

राजमार्गः कृतः श्रीमान्पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

उस दिन रामाभिषेक के उपलक्ष में (राज्य की ओर ही से नहीं, बल्कि प्रजा की ओर से भी) लोगों ने पुष्प, धूप और तरह

तरह की सुगन्ध से वासित कर राजमार्ग को अच्छी तरह सजाया था ॥ १७ ॥

प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्क्या ।

दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

यह विचार कर कि, कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के जलूस के उधर से निकलते समय कहीं रात न हो जाय—लोगों ने रोशनी करने के लिये सड़कों पर अलग अलग सर्वत्र दीपबृक्ष अर्थात् पनशाखाएँ गाड़ रखी थीं या भाड़ फनूस टांग रखे थे ॥ १८ ॥

अलङ्कारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः ।

आकाङ्क्षाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार नगर को सजा कर नगरवासी श्रीरामचन्द्र जी के युवराजपद पर अभिषेक किये जाने की प्रतीक्षा करने लगे ॥ १९ ॥

समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च ।

कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

भुण्ड के भुण्ड लोग एकत्र हो चबूतरों पर और बैठकों में बैठ, आपस में महाराज दशरथ की चर्चा चला उनकी प्रशंसा कर रहे थे ॥ २० ॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।

ज्ञात्वा यो वृद्धमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २१ ॥

वे कहते थे कि, अहो ! देखो, इद्वाकु-कुलनन्दन महाराज दशरथ वडे महात्मा हैं, जो अपने को वृद्ध हुआ जान, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक ( स्वयं ) कर रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः ।

चिराय भविता गोपा दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

हम सब लोगों पर ( महाराज ने ) यह बड़ा अनुग्रह किया जो श्रीरामचन्द्र हम लोगों के राजा हो रहे हैं । भगवान् बहुत दिनों तक अपनी प्रजा का सब हाल जानने वाले और प्रजारक्षक श्रीरामचन्द्र को हम लोगों का राजा बनाये रखें ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान्धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः ।

यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्माख्यपि राघवः ॥ २३ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी सरल स्वभाव, परमविज्ञ, धर्मात्मा, और भाइयों पर कृपा रखने वाले हैं । वे अपने भाइयों पर सरल स्वभाव से जैसा स्नेह रखते हैं, वैसा ही स्नेह उनका हम लोगों के ऊपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः ।

यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

पापरहित और धर्मात्मा महाराज दशरथ की बड़ी उम्र हो । उन्होंके अनुग्रह से आज हम श्रीरामचन्द्र को राज्याभिषिक्त देख सकेंगे ॥ २४ ॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुस्तदा ।

दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥

रामराज्याभिषेक का संवाद सुन जो लोग बाहर से आ कर अयोध्या में एकत्र हुए थे, उन लोगों ने पुरवासियों की कही हुई येदाते सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् ।  
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे लोग चारों ओर के देशों से श्रीराम जी की अयोध्यापुरी में श्रीरामाभिषेकोत्सव देखने को आये थे । उन बाहिरी लोगों के आगमन से अयोध्यापुरी में बड़ी भारी भीड़ हो गयी थी ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्धिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः ।  
र्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥ २७ ॥

पूर्णमासी के दिन जिस प्रकार समुद्र गरजता है, उसी प्रकार का कोलाहल, आज अयोध्यापुरी में, बाहिर से आये हुए और चलते फिरते हुए लोग सुन रहे थे ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं  
दिद्धुभिर्जनपदैरूपागतैः ।  
समन्ततः सस्वनमाकुलं वभौ  
समुद्रयादाभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥  
इति षष्ठः सर्गः ॥

उस दिन अमरावती के समान अयोध्यापुरी को देखने के लिये जो लोग बाहिर से आये हुए थे, उन लोगों से उस पुरी की शोभा वैसी ही हो गयी जैसी शोभा समुद्र की जलजन्तु (मत्स्य, कच्छ, नक्ष) से होती है ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

संग्रहः

---

ज्ञातिदासी<sup>१</sup> यतोजाता<sup>२</sup> कैकेय्यास्तु सहोषिता ।  
प्रासादं चन्द्रसङ्काशमारुरोह यद्वच्छया ॥ १ ॥

रानी कैकेयी की जाति की एक दासी थी जो उसके साथ उसके मायके से आयी थी और सदा उसके साथ रहती थी । (और जिसका नाम मन्थरा था, उस रात को, जिस दिन दरवार में श्रीरामचन्द्र जी के युवराज पद पर प्रतिष्ठित करने की घोषणा महाराज दशरथ ने की थी ) वह अकस्मात् चन्द्रमा के समान सफेद अटारी को छूत पर चढ़ी ॥ १ ॥

सित्कराजपथां रम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।  
अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्वैक्षत ॥ २ ॥

उस अटारी पर चढ़ मन्थरा ने देखा कि, अयोध्या की सड़कों पर छिड़काव किया गया है और जगह जगह कमलपुष्पों की मालाएँ लटक रही हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वराहाभिर्वज्जैश्च समलंकृताम् ।  
वृतां छन्नपथैश्चापि शिरःस्नातजनैर्वृताम् ॥ ३ ॥

---

१ ज्ञातिदासी—कैकेयाः ज्ञातीनां बन्धूनां दासी ॥ ( वि० ) २ यतो-  
जाता — यत्रकुत्रचित् जाता । ( वि० )

ऊँचे मकानों पर बहुमूल्य ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं। सड़कों के गड्ढे आदि पाट कर, वे चौरस कर, दी गयी हैं, लोगों के आने जाने में भीड़भाड़ न हो, अतः बड़े चौड़े चौड़े रास्ते बनाये गये हैं, जो सिर से स्नान किये हुए ( अर्थात् तेल उपठन लगा कर स्नान किये हुए ) दर्शकों से भरे हुए हैं ॥ ३ ॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् ।  
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनिस्वनाम् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को भेंट में देने के लिये माला लड्डू ( आदि शुभ वस्तुएँ ) लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण घूम रहे हैं। देवमन्दिरों के द्वार ( कलई आदि से ) सफेद पोते गये हैं; जहाँ देखो वहाँ बाजे बज रहे हैं ॥ ४ ॥

संप्रहृष्टजनाकीर्णं ब्रह्मघोषाभिनादिताम् ।  
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

सब लोग उत्सव में मत्त हैं, चारों ओर वेदध्वनि हो रही है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या, हाथो, घोड़े, गौ, बैल तक आनन्द में भर हर्षध्वनि कर रहे हैं ॥ ५ ॥

प्रहृष्टमुदितैः पैरैरुच्छ्रुतध्वजमालिनीम् ।  
अयोध्यां मन्थरा दृश्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

अयोध्यावासी आनन्दमग्न हो घूम रहे हैं। बड़ी बड़ी लंबी पताकाएँ फहरा रही हैं और मालाएँ बँधी हुई हैं। इस प्रकार

की सजी हुई अयोध्यायुद्ध के देव मन्थरा को बड़ा आश्र्य हुआ ॥ ६ ॥

प्रहर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौपवासिनीम् ।

अविदूरे स्थितां दृष्टा धात्रीं प्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

अति हर्षित और सफेद रेशमी वस्त्र पहिने हुए श्रीरामचन्द्र की धात्री ( उपमाता ) से, जो पास ही खड़ी थी, मन्थरा पूँछने लगी ॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षणार्थपरा सती ।

राममाता धनं किं तु जनेभ्यः संप्रथच्छति ॥ ८ ॥

आज हर्ष में भरी मालदार सती राममाता कौशल्या लोगों को धन क्यों बांट रही है ? ॥ ८ ॥

अतिमात्रप्रहर्षेऽयं किं जनस्य च शंस मे ।

कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टे महीपतिः ॥ ९ ॥

अयोध्यावालियों के अत्यानन्दित होने का कारण क्या है ? महाराज भी अत्यन्त प्रसन्न है—सो वे क्या काम करवाने वाले हैं ? ॥ ९ ॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परथा मुदा ।

आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवश्रियम् ॥ १० ॥

मन्थरा के इस प्रकार पूँछने पर वह धात्री जो मारे आनन्द के फूल कर कुप्पा हो गयी थी, श्रीरामचन्द्र की महतो राज्यश्री लाभ का समाचार कुबड़ी मन्थरा से कहने लगी ॥ १० ॥

श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम् ।

राजा दशरथो रामभिषेचयितानऽघम् ॥ ११ ॥

उसने कहा कल प्रातःकाल होते ही पुष्य नक्षत्र में जितक्रोध एवं पुण्यात्मा श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ युवराजपद पर स्थापित करेंगे ॥ ११ ॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रमर्षिता ।

कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

धात्री के ये वचन सुन कुब्जी डाह में भर कैलास पर्वत के शिखर के समान ऊँचे महल से उतरी ॥ १२ ॥

सा दद्वमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी ।

शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

वह पापिन क्रोध में जली भुनी ( शयनागार में जा कर ) सोती हुई कैकेयी ( को जगा कर उस ) से बोली ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।

उपप्लुत<sup>१</sup>मधौघेन<sup>२</sup> किमात्मानं न बुध्यसे ॥ १४ ॥

हे मूढे ! उठ, पड़ी पड़ी क्या सोती है ? तेरे लिये तो बड़ा भारी भय आ उपस्थित हुआ है । क्या तू अपने दुःख को भी नहीं समझती ॥ १४ ॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विक्त्थसे ।

चलं<sup>३</sup> हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> उपप्लुत—उपहतं । ( गो० ) <sup>२</sup> अघौघेन—अघं दुःखं । ( गो० )

<sup>३</sup> चलं—क्षीणमित्यर्थः । ( गो० )

हे सुन्दरी ! तू अपने जिस सौभाग्य के बल पर भूली हुई है,  
वह तेरा भाग्य ग्रीष्म ऋतु में नदी के साते की तरह अब जीण  
हो चला है ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्या परुषं वचः ।

कुञ्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ॥ १६ ॥

पापिन कुञ्जा के क्रोध से भरे ऐसे दुख वचन सुन कैकेयी  
को बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीकुञ्जां कच्छित्क्षेमं न मन्थरे ।

विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने उससे कहा—हे मन्थरे ! बतला कुशल तो है ? तूने  
क्यों अपना चेहरा इतना उदास कर रखा है और तू क्यों इतनी  
दुखी हो रहो है ? ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेया मधुराक्षरम् ।

उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥

कैकेयी के ऐसे सहानुभूतिपूर्ण वचन सुन, बात कहने में  
निपुण मन्थरा ने बिगड़ कर कहा ॥ १८ ॥

सा विषण्णतरा भूत्वा कुञ्जा तस्या हितैषिणी ।

विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥ १९ ॥

उसने अपना चेहरा बड़ा ही उदास बना कर और अपने  
को कैकेयी की परमहितैषिणी जनाते हुए तथा श्रीरामचन्द्र  
जी के विषय में भेदबुद्धि उत्पन्न कर, झगड़ा कराने को  
कहा ॥ १९ ॥

अक्षय्यं सुमहदेवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।

रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेध्यति ॥ २० ॥

हे देवी ! अब तु महारे सत्यानाश का समय आ पहुँचा है ।  
देखो, महाराज दशरथ रामवन् को युवराज बनाया चाहते  
हैं ॥ २० ॥

साऽस्म्यगाथे धये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।

दह्नमानाऽनलेनेव त्वद्वितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

सो मैं अथाह भय में झूँझी और दुःख एवं शोक से पूर्ण, मानों  
आग से जलाई हुई, तेरे हित के लिये यहाँ आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्वेत् ।

त्वद्वृद्धौ यम वृद्धिथ भवेदव्र न संशयः ॥ २२ ॥

हे कैकेयी ! तेरे दुःख से तो मैं दुःखी होती हूँ और तेरे सुख  
से मैं सुखी होती हूँ । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।

उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३ ॥

देख, तू बड़े राजकुल की बेटी है, और महाराज दशरथ  
को पट्टानी हो कर भी राजनीति की कुटिल चालें क्यों नहीं  
समझती ॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्षणवादी च दासणः ।

शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसन्धिता ॥ २४ ॥

तेरा पति दिलाने को तो बड़ा सत्यवादी बना हुआ है, किन्तु  
भीतर से महा धूर्त है । वह बोलता मधुर है, किन्तु मन उसका

बड़ा कठोर है । तू मन की साफ है—इसीसे तेरे ऊपर यह विपक्षि  
आयो है ॥ २४ ॥

**उपस्थितं प्रयुज्ञानस्त्वयि सान्त्वयनर्थकम् ।**

**अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५ ॥**

महाराज जब तेरे पास आते हैं, तब झूँठी बातें बना और  
समझा बुझा कर तुझे अपने वश में कर लेते हैं । परन्तु देख, महा-  
राज, कौशल्या ही के पुत्र को सर्वस्व दे कर, उसे ही सब की  
स्वामिनी बनाना चाहते हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।

**काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६ ॥**

देखो उस दुष्टात्मा ने भरत को तो तुम्हारे माता पिता के घर  
भेज दिया और वह ( अब ) निष्कण्टक राजसिंहासन पर कल  
प्रातःकाल श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना चाहता है ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।

**आशीविष इवाङ्गेन वाले परिहृतस्त्वया ॥ २७ ॥**

तूने पति के धोखे से अपने शत्रु को वैसे ही अपनी गोद में  
विठा रखा है, जैसे कोई छो ( पुत्र के धोखे से ) सर्प को गोद  
में रख ले ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्यात्सर्पे वा शत्रुर्वा प्रत्युपेक्षितः ।

**राजा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८ ॥**

जिस प्रकार सर्प वा शत्रु की उपेक्षा करने वाले पालन कर्ता  
के साथ सर्प शत्रुव्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार आज  
दशरथ ने तेरे और तेरे पुत्र के साथ किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन वाले नित्यसुखोचिते ।

रामं स्थापयता राज्ये सानुवन्था हता ह्यसि ॥२९॥

इस पापी झूठमूठ समझाने बुझाने वाले राजा ने, रामचन्द्र को राजसिंहासन पर बिठा कर, पुत्रवान्धवादि सहित तुझे, जो नित्य सुख भोगने योग्य है, मानों मार डाला है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव ।

त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥

हे अजीव बुद्धि वाली ! ऐसी विपत्ति पूर्ण घटना को सुन कर भी उपेक्षा सी करने वाली ऐ कैकेयी ! देख अब भी समय है । अतएव जो कुछ तुझे अपनी भलाई के लिये करना हो सो तुरन्त कर डाल और अपने पुत्र को, अपने को और मुझे बचा ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना ।

उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थरा के वचन सुन, सुन्दरी कैकेयी शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह हर्ष में भर, शय्या से उठ बैठी ॥ ३१ ॥

अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता ।

एकमाभरणं तस्यै कुञ्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

और अत्यन्त हर्षित और आश्चर्ययुक्त हो, कैकेयी ने अपना एक बहुमूल्य उत्तम गहना, कुञ्जा को दिया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुञ्जायै प्रमदेत्तमा ।

कैकेयी मन्थरां दृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥

१ विस्मयदर्शने—आश्चर्यवहज्ञानयुक्ते । ( गो० )

## अयोध्याकाण्ड



रानी कैकेयी और मंथरा



युवतियों में श्रेष्ठ कैकेयी, अपना आभूषण मन्थरा को दे कर और उसकी ओर देख कर उससे बोली ॥ ३३ ॥

इदं तु मन्थरे महामारुण्यासि परमं प्रियम् ।

एतन्मे प्रियमारुण्यातं भूयः किं वा करोमि ते ॥ ३४ ॥

हे मन्थरे ! यह तो तूने बड़े ही हर्ष का समाचार सुनाया । इस सुखसंबाद को सुनाने के बदले, बतला और मैं तेरा क्या उपकार करूँ ? अर्थात् और क्या दूँ ॥ ३४ ॥

रामे वा भरते वाऽहं विशेषं नोपलक्षये ।

तस्मात्तुष्टाऽस्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्यति ॥ ३५ ॥

मैं राम और भरत में कोई विशेष भेद नहीं देखती—अतः महाराज यदि श्रीरामचन्द्र को राज्य देते हैं, तो मुझे उनके इस कार्य से सन्तोष है ॥ ३५ ॥

न मे परं किञ्चिदितस्त्वया पुनः

प्रियं प्रियाहें सुवचं वचो वरम् ।

तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं ।

परं वरं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

हे प्रिये ! इस ( रामराज्याभिषेक सूचक ) वचन—रूपी असृत से बढ़ कर दूसरो कोई वस्तु मुझे प्रिय नहीं है । अतएव ( इस पारितोषिक के अतिरिक्त) और जो कुछ तू मांगे सो कह, अभी तुझे मैं देती हूँ ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## अष्टमः सर्गः

— : \* : —

मन्थरा त्वभ्यसूयैनामुत्सृज्याभरणं च तत् ।

उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

कैकेयी का यह वचन सुन और अनादर के साथ उस आभूषण को फेंक कर मन्थरा बड़े क्रोध और दुःख के साथ कहने लगी ॥ १ ॥

हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि वालिशे ।

शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवलुध्यसे ॥ २ ॥

हे मूर्खों ! तू शोक की जगह हर्षित क्यों होती है ? क्या तुझे यह नहीं सुझ पड़ता कि, तू शोकसागर में झूंझी जा रही है ॥ २ ॥

मनसा प्रहसामि त्वां देवि दुःखर्दिता सती ।

यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्येदं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

मुझे तो मन ही मन तेरी दुर्द्धि पर हँसो आता है कि, अत्यन्त दुःखी होने का कारण उपस्थित होने पर भी तू शोक न कर, प्रसन्न हो रही है ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राङ्मा प्रहर्षयेत् ।

अरेः सपनीपुत्रस्य दृद्धिं मृत्योरिचागताम् ॥ ४ ॥

भुझे तेरी दुर्द्धि पर तरस आता है, क्या कोई भी समझदार स्त्री अपनी सौत के पुत्र की, अपने लिये मृत्यु के समान उन्नति देख, प्रसन्न हो सकती है ? ॥ ४ ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्यम् ।

तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्वि जायते ॥ ५ ॥

जिस प्रकार राज्य पर रामचन्द्र का स्वत्व है, उसी प्रकार भरत का भी है। इसीलिये राम को भरत का डर है और यह ठीक भी है, क्योंकि जो जिससे डरता है, उसको उसका डर रहता ही है। मुझे यही सोच कर बड़ा खेद है। ( क्योंकि जब राम राजा होंगे, तब वे अपने भय के कारण भरत को अवश्य ही दूर कर देंगे अर्थात् मरवा डालेंगे ) ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महेष्वासो रामं सर्वात्मना गतः ।

शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

( राम को भरत ही का इतना आरी खटका क्यों है ? लक्ष्मण और शत्रुघ्न भी तो राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं ? इसके समाधान में मन्थरा कहती है ) लक्ष्मण जी सब प्रकार से श्रीरामचन्द्र के अनुबर्ती अर्थात् आश्रिता कारी हैं अर्थात् लक्ष्मण चूं नहीं कर सकते । शत्रुघ्न जी उसी प्रकार भरत के सर्वथा अनुबर्ती है जिस प्रकार लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के । ( अतः जब भरत जी को श्रीराम मारेंगे तब शत्रुघ्न भी उनका साथ देने पर अवश्य मारे जायंगे । अतः श्रीरामचन्द्र जी के प्रतिस्पर्धी केवल भरत हैं ) ॥ ६ ॥

प्रत्यासञ्जकपेणापि भरतस्यैव भामिनि ।

राज्यक्रमो विप्रकृष्टस्तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

फिर उत्पत्ति के क्रमानुसार भरत ही को राज्य मिलना चाहिये । यदि राज्यक्रम का त्याग किया जाय तो, इस क्रम से भी राज्य भरत ही को मिलना उचित है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः<sup>१</sup> ।  
भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी राजनीति-विशारद हैं । परम चतुर तथा समयानुसार तुरन्त कार्य करने वाले हैं । अतः भरत को रामचन्द्र जी से भय समझ—मैं भयभीत हूँ काँप रही हूँ । ( अर्थात् राम चतुर हैं और भरत बुद्ध हैं, अतः भरत को राम सहज में पराजित कर सकते हैं । ) ॥८॥

सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते ।  
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

इस समय तो कौशल्या का भाव्य जागा है, जिसके पुत्र रामचन्द्र का युवराजपद पर प्रातःकाल पुष्य नक्षत्र में ब्राह्मण लोग अभिषेक करवावेंगे ॥ ९ ॥

प्राप्तां सुमहतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम् ।  
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

तुझे उस कौशल्या के सामने, जो सब पृथिवी की स्वामिनी होगी, और जिसके सब शत्रु मारे जायंगे, हाथ जोड़ कर दासी की तरह खड़ा रहना पड़ेगा ॥ १० ॥

एवं चेत्वं सहास्माधिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि ।  
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> प्राप्तिकारिणः—अविलंबेनकाले चितकर्तव्यार्थकारिणः । ( गो० )

इस तरह केवल तु ही नहीं प्रत्युत तेरी अधीन रहने वाली  
मुझे भी कौशल्या की दासी और भरत को राम का ठहलुआ  
बन जाना पड़ेगा ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ।

अप्रहृष्ट भविष्यन्ति स्तुषास्ते भरतक्षये<sup>१</sup> ॥ १२ ॥

इससे राम जी की स्त्री तथा उसकी सखियाँ परमानन्दित  
होंगी और भरत को राज्य न मिलने से अथवा उनका प्रभाव नष्ट  
होने पर तेरी पुत्रवधू को भी बड़ा दुःख होगा ॥ १२ ॥

तां दृष्टा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः ।

रामस्यैव गुणान्देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थरा को इस प्रकार बड़ी प्रसन्नता के साथ ऐसे वचन कहते  
( अर्थात् राम की निन्दा करते ) हुए देख, देवी कैकेयी श्रीराम-  
चन्द्र के गुणों का बखान कर कहने लगी ॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुरुभिर्दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्गुच्छः ।

रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र अत्यन्त धर्मज्ञ, गुरुओं से सुन्दर शिक्षा पाये हुए,  
बड़े कृतज्ञ, सत्यवादी, परम पवित्रता से रहने वाले और महाराज के  
ज्येष्ठ पुत्र हैं। अतएव सब प्रकार से वे ही यौवराज्य पाने के योग्य  
हैं ॥ १४ ॥

भ्रातृन्भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति ।

सन्तप्यसे कर्थं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

रामचन्द्र दीर्घायु हों, वे अपने भाइयों और नौकर चाकरों का वैसे ही पालन करेंगे जैसे पिता अपने पुत्रों का पालन करता है। अतएव हे मन्थरे ! तू रामचन्द्र के अभिषेक का समाचार सुन, क्यों जली भुनी जा रही है ? ॥ १५ ॥

**भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् ।**

**पितृपूतामहं राज्यं प्राप्नुयात्पुरुषर्षभः ॥ १६ ॥**

भरत भी श्रीरामचन्द्र जी के राजसिंहासन पर बैठने के सौ वर्ष बाद अवश्य अपने पितृपूतामहादिकों का राज्य पावेंगे ॥ १६ ॥

**सा त्वमभ्युदये प्राप्ते वर्तमाने च मन्थरे ।**

**भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ॥ १७ ॥**

हे मन्थरे ! तू इस उत्सव के समय जिससे सब का कल्याण होगा, क्यों जली जाती है ? ॥ १७ ॥

**यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।**

**कौसल्यातोऽतिरिक्तं च सोऽनुशुश्रूषते हि माय् ॥१८॥**

मुझको जैसे भरत प्यारे हैं, वैसे ही राम भी हैं। ने तो कौशल्या से बढ़ कर मेरी ही सेवा शुश्रूषा करते हैं ॥ १८ ॥

**राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्था ।**

**मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रतंस्तु राघवः ॥ १९ ॥**

यदि राम ही राज्य पावेंगे तो भी वह राज्य भरत ही का है, क्योंकि रामचन्द्र अपने समान ही अपने भाइयों को भी मानते हैं ॥ १९ ॥

कैकेया वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।

दीर्घमुच्छणं विनिश्चस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

कैकेयी की ये वार्ते सुन मन्थरा बहुत दुःखी हैं और लंबी सांस ले कैकेयी से यह बोली ॥ २० ॥

अनर्थदर्शिनी मौख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।

शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

अनर्थ का अर्थ समझने वाली अरी मूर्खा ! शोक के महासागर में बूँड़तो हुई भी तू अपने को नहीं समझती ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्यानु यः सुतः ।

राजवंशात् कैकेयी भरतः परिहास्यते ॥ २२ ॥

जब रामचन्द्र राजा होंगे तब उनके पीछे उनका पुत्र राजा होगा (या भरत ?) भरत तो राज्य से वञ्चित ही रहेंगे । अथवा भरत राजवंश से भ्रष्ट हो जायेंगे ॥ २२ ॥

न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।

स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

राजा के जब पुत्र कहीं राजसिंहासन पर नहीं बैठते, और यदि कहीं बैठाये जाते होते तो वहाँ अनर्थ होता ॥ २३ ॥

तस्माज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।

स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

हे कैकेयी ! इसी लिये राजा लोग बड़े पुत्र को राज्यशासन का भार सौंपते हैं । (ही उस दशा में जब वहाँ बैठा गुणवान

नहीं होता और ) छोटा बेटा गुणवान् होता है तो वह भी राजा होता है । किन्तु राज्य दिया पक हो को जाता है ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।

अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

( सो राम के राजा होने पर ) तेरा पुत्र भरत सब प्रकार से सब सुखों से वञ्चित हो, अनाथ दुःखियों की तरह राजवंश से अलग कर दिया जायगा ॥ २५ ॥

साऽहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुध्यसे ।

सपत्रिवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमिच्छसि ॥ २६ ॥

अतः मैं तो तुझे तेरी भलाई बतलाने के लिये आयी हूँ, किन्तु तू कुछ समझती बूझती ही नहीं । यदि तू समझती बूझती होती तो क्या सौत की बढ़ती सुन, मुझे गहना पुरस्कार में देती ? ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।

देशान्तरं वा नयिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

मैं यह निश्चय पूर्वक कहती हूँ कि, राम अकण्टक राज्य पा कर, भरत को या तो देश निकाला देंगे अथवा उनको जान ही से मार डालेंगे ॥ २७ ॥

बाल एव हि मातुल्यं भरते नायितस्त्वया ।

सन्निकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ॥ २८ ॥

पास रहने से पेड़ादि स्थावर पदार्थों पर भी लोगों की ममता ही जाती है—सो तूने तो भरत को लड़कपन ही से ननिहाल भेज

दिया है ( अर्थात् स्वेह पास रहने से होता सो भरत तेरे पास रहे नहीं—अतः तुझे भरत की ममता है ही नहीं ) ॥ २८ ॥

भरतस्याप्यनुवशः शत्रुघ्नोऽपि समागतः ।

लक्ष्मणश्च यथा रामं तथासौ भरतं गतः ॥ २९ ॥

साथ साथ रहने के कारण ही शत्रुघ्न भी भरत के साथ चले गये । क्योंकि जैसे लक्ष्मण राम के अनुयायी हैं वैसे ही शत्रुघ्न भरत के अनुयायी हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीविभिः ।

सन्निकर्षादिषीकाभिर्माचितः परमाद्यात् ॥ ३० ॥

सुना है कि, कोई बृक्ष था जिसे बनजारे काठना चाहते थे । समीपवर्ती होने के कारण उसे इषीका नाम के काँटेदार पेड़ों ने बचाया था ( किन्तु तुमने अपना पुत्र न बचाया ) ॥ ३० ॥

गोपा हि रामं सौमित्रिलक्ष्मणं चापि राघवः ।

अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

लक्ष्मण, राम की रक्षा करेंगे और रामचन्द्र लक्ष्मण की । इन दोनों का भ्रातृत्व अर्थात् प्रीति अश्विनीकुमारों की तरह प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किञ्चित्करिष्यति ।

रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः ॥ ३२ ॥

अतएव रामचन्द्र लक्ष्मण का कभी कुछ भी अनिष्ट न करेंगे । किन्तु भरत का अनिष्ट करने में वे कभी न चूकेंगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । ( अर्थात् रामचन्द्र भरत को मारे बिना न रहेंगे । ) ॥ ३२ ॥

तस्माद्राजगृहादेवि वनं गच्छतु ते सुतः ।

एतद्धि रोचते महां भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

इसलिये मेरी समझ में तो इसीमें तुम्हारी भलाई है कि, भरत जी ननिहाल से भाग कर, वन में बले जाय । ( क्योंकि मारे जाने की अपेक्षा तो वन में रहना ही अच्छा है । यदि जीते रहे तो कभी दिन बहुरंगे ही । मन्थरा का यह व्यङ्ग वचन है ) ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति ।

यदि चेद्ग्रहतो धर्मातिपत्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

और यदि कहों भरत धर्म से अपने पिता का राज्य पावें, तो इससे तुम्हारे भाई वंदो का भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः ।

समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

भरत केवल तुम्हारे सुख के लिये ही बालक हैं, किन्तु राम के वे स्वाभाविक शत्रु हैं । अतः जब राम की बढ़ती होगी, तब भरत उनके वश में पड़ कैसे जीवेंगे ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम् ।

प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

हे कैकेयी ! इसलिये तू सिंह से झपटे हुए हाथियों के यूथ-पति ( मुखिया ) की तरह रामचन्द्र से भयभीत भरत की रक्षा कर ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया ।

राममाता सप्तकी ते कथं वैरं न यातयेत् ॥ ३७ ॥

तू अपने सौभाग्य के अभिमान में भर पहले जो जो दुर्व्यवहार कौशल्या के साथ कर चुकी है, उन सब का बदला राममाता कौशल्या ( राम के राजा होने पर ) क्या तुझसे न लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति  
प्रभूतरवाकरशैलपत्तनाम् ।  
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं  
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

हे भामिनी । समुद्र, पर्वत और नगरों सहित पृथिवी का राज्य जब श्रीरामचन्द्र जी पावेंगे, तब ( याद रख ) तू अपने पुत्र भरत के सहित अनादर की यातना पावेगी अर्थात् तुझे और तेरे पुत्र भरत की पद पद पर अनादर की यातना भुगतनी पड़ेगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति  
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति ।  
अतो हि सञ्चिन्तय राज्यमात्मजे  
परस्य चैवाद्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

इति अष्टमः सर्गः ॥

यह भी याद रख कि, राम के राज्य पाने पर भरत निश्चय ही मारे जायेंगे । इसलिये जैसे बने वैसे ऐसा कोई उपाय कर, जिससे राम बन में निकाले जायं और भरत राज्य पावें ॥ ३९ ॥

अयोध्याकाण्ड का आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## नवमः सर्गः

—: ० :—

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना ।

दीर्घमुष्णं विनिश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब मन्थरा ने कैकेयी को इस प्रकार पट्टी पढ़ायी, तब मारे क्रोध के कैकेयी का मुख लाल हो गया । वह दीर्घ स्वाँस ले मन्थरा से बोली ॥ १ ॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् ।

यौवराज्ये च भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये ॥ २ ॥

मैं आज ही राम को तुरन्त वन में भेजती हूँ और झटपट भरत का युवराजपद पर अभिषेक करवाती हूँ ॥ २ ॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन मन्थरे ।

भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

हे मन्थरे ! अब इस समय कोई ऐसा उपाय सोच जिससे भरत को ही राज्य मिले और राम को किसी प्रकार न मिले ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।

रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिन मन्थरा, रामचन्द्र जी का सर्वनाश करने को कैकेयी से बोली ॥ ४ ॥

हन्तेदानीं प्रवक्ष्यामि कैकेयि श्रूयतां च मे ।

यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

हे कैकेयी ! सुन मैं तुझे अभी यह उपाय बतलाये देती हूँ  
जिससे केवल तेरे पुत्र भरत ही को राज्य मिले ॥ ५ ॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगृहसे ।

यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

हे कैकेयी ! तूने जो बात मुझसे कई बार कही है, उसे क्या तू  
भूल गयी या मुझसे कहलाने के लिये ही तू उसे छिपा रही  
है ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।

श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चापि विमृश्यताम् ॥ ७ ॥

ऐ यथेच्छ विलासिनि ! यदि यह बात मेरे मुँह से सुनने की  
तेरी इच्छा है, तो सुन, मैं कहती हूँ और सुन कर वही तू कर ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।

किञ्चिदुत्थाय शयनात्स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

मन्थरा के ये वचन सुन कैकेयी अपनी सेज से कुछ उठ कर  
बोली ॥ ८ ॥

कथय त्वं ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।

भरतः प्रणुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

हे मन्थरे ! जिस उपाय से भरत तो राज्य पावें, और राम को  
किसी प्रकार प्राप्त न हो—वह उपाय मुझे बतला ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तया देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।

रामार्थमुपहिंसन्ती कुञ्जा वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

जब कैकेयी ने यह कहा, तब पापिनी मन्थरा, राम का सर्वनाश करती हुई कहने लगी ॥ १० ॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।

अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साहृकृत् ॥ ११ ॥

एक समय जब तुम्हारे पति देवासुर संग्राम में सब राजर्षियों सहित इन्द्र की सहायता करने गये थे, तब तुझे भी अपने साथ ले गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान्प्रति ।

वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥

हे कैकेयी ! दक्षिण में दण्डक वन के पास वैजयन्त नामक एक पुर था, वहाँ के राजा तिमिध्वज थे ॥ १२ ॥

स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।

ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्कैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

वे सैकड़ों माया जानते थे और शम्बर के नाम से विख्यात थे और उन्हें देवता नहीं जीत सके थे । उन्हींने इन्द्र के साथ युद्ध छेड़ा ॥ १३ ॥

तस्मिन्महति संग्रामे पुरुषान्क्षतविक्षतान् ।

रात्रौ प्रसुप्तान्नन्ति स्म तरसाऽसाद्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

उस महा संग्राम में जो लोग, ज्ञत विद्वत अर्थात् धायल होते थे, उनको रात को सोते समय विस्तरों पर से खींच कर बरजारी राक्षस ले जाते थे और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा ।

असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः<sup>१</sup> ॥ १५ ॥

वहाँ पर महाराज दशरथ ने उन असुरों के साथ घोर युद्ध किया । राज्ञों ने भी महाराज को बहुत घायल कर डाला । अर्थात् सारा शरीर क्षेत्र डाला ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।

तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

जब राजा मूर्च्छित हो गये, तब तूरणक्षेत्र से उनको बाहिर ले आयी और जब वहाँ भी उन पर प्रहार होने लगे तब वडे यत्न से तूने अपने पति की रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।

स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ ॥ १७ ॥

हे शुभदर्शने ! उस समय तेरे पति ने ( महाराज दशरथ ने ) तुम्ह पर प्रसन्न हो, तुम्हको दो वर दिये और कहा जो इच्छा हो ॥ १७ ॥

गृह्णीयामिति तत्तेन तथेत्युक्तं महात्मना ।

अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा ॥ १८ ॥

से माँग । तब तूने कहा था कि, अच्छा जब आवश्यकता होगी माँग लूँगो । मैं तो ये सब बातें जानती न थी, तू ही ने वहाँ से लौट कर मुझे बतलायी थीं ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> शकलीकृतः—सर्वाङ्गेषुविक्षतः ( रा० )

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।  
रामाभिषेकसम्भारान्नियृह्व विनिवर्तय ॥ १९ ॥

तेरी प्रीति के अनुरोध से ये बातें मैंने अपने मन में रख क्लौडी थीं । अब तू आग्रह पूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियों को खकवादे ॥ २६ ॥

तौ वरौ याच भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।  
प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश ॥ २० ॥

और उन वरों में से, एक से तू भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से श्रीरामचन्द्र जी का १४ वर्ष के लिये वनवास माँग ले ॥ २० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।  
प्रजाभावगतस्नेहः<sup>१</sup> स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

इन चौदह वर्षों में जब तक रामचन्द्र वनवास में रहेंगे, तब तक सब प्रजा जनों का तुम्हारे पुत्र के प्रति अनुराग बढ़ जाने से, तुम्हारे पुत्र का राज्य अटल हो जायगा ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते ।  
शेष्वानन्तर्हितायांत्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

हे अश्वपति की बेटी ! ( इन वरों को पाने के लिये ) तू अभी मैले कपड़े पहिन कर, बिना बिङ्गौने बिङ्गाये और कौपभवन में जा कर, क्रुद्ध हो ज़मीन पर लेट जा ॥ २२ ॥

१ प्रजाभावगतस्नेहः—प्रजानां भावं अभिप्रायं गतःप्राप्तः स्नेहोयस्य स-  
तथोक्तः । ( गो० ) २ अव्यवहितायाम्—आस्तरनरहितायाम् । ( शि० )

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः ।

रुदती चापि तं दृष्टा जगत्यां<sup>१</sup> शोकलालसारै<sup>२</sup> ॥ २३ ॥

जब महाराज दशरथ आवें तब तू न तो उनको और देखना और न कुछ बातचीत करना—केवल शोकातुर हो रोती हुई, ज़मीन पर लोटा करना ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः ।

त्वत्कुते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि, अपने पति को तू बहुत ही प्यारी है—यहाँ तक कि, वे तेरे लिये आग में भी कूद सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् ।

तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

महाराज दशरथ न तो तुझे क्रुद्ध कर सकते हैं और न क्रुद्ध देख ही सकते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि वे तेरे लिये अपने प्राण तक दे सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः ।

मन्दस्वभावे<sup>३</sup> बुद्ध्यस्व सौभाग्यबलं<sup>४</sup> मात्मनः ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ तेरा कहना कभी नहीं टाल सकते। हे आलसिन! ज़रा अपने सौन्दर्य के बल को परीक्षा तो कर देख ॥ २६ ॥

१ जगत्यां—भूमौ । ( शि० ) २ शोकलालसा—शोकव्यासे । ( शि० )

३ मन्दस्वभावे—अलसस्वभावे । ( गो० ) ४ सौभाग्यबलं—सौन्दर्यबलं । ( गो० )

मणिमुक्तासुवर्णं च रत्नानि<sup>१</sup> विविधानि च ।

दद्यादशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

परन्तु ( स्मरण रखना ) जब महाराज कितनी ही मणियाँ, मोती, सोना, और तरह तरह की वहुमूल्य वस्तुएँ देना चाहें तब तू कहीं लोभ में मत फँस जाना ॥ २७ ॥

यौ तौ दैवासुरे युद्धे वरौ दशरथोऽददात् ।

तौ स्पारय महाभागे सोऽर्थो मा त्वामतिक्रमेत् ॥ २८ ॥

किन्तु जो दो वरदान महाराज ने तुझे देवासुर संग्राम में देने कहे हैं, तू उन्हींका उन्हें स्मरण कराना और अपना काम निकालने के लिये भली भाँति यत्त करना, भूलना मत ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः ।

व्यवस्थाप्य<sup>२</sup> महाराजं त्वमिमं दृष्टुया वरम् ॥ २९ ॥

जब महाराज दशरथ, स्वयं तुझे भूमि से उठा कर वरदान देने को उद्यत हों तब उनको सौंगन्द खिला कर ( अर्थात् सत्यपाश से जकड़ कर ) ये वर मांगना कि, ॥ २९ ॥

रामं प्रत्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च ।

भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः ॥ ३० ॥

हे नृपश्रेष्ठ ! रामचन्द्र को १४ वर्ष के लिये वन में भेजो और भरत को पृथिवी का राजा करो । अर्थात् भरत को राज्य दो ॥ ३० ॥

१ रत्नानि—श्रेष्ठवस्तुनि । ( गो० ) २ व्यवस्थाप्य—शपथैः सत्यस्यापयित्वा । ( रा० )

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।

रुद्रश्च<sup>१</sup> कृतमूलश्च<sup>२</sup> शेषं स्थास्यति ते सुतःः ॥ ३१ ॥

रामचन्द्र के चौदह वर्ष तक वन में रहने से भरत का राज्य छूँढ हो जायगा ( अर्थात् प्रजा जनों के मन पर वे अपना प्रभाव जमा लेंगे ) और सदा भरत जी ही राजा बने रहेंगे अर्थात् भरत के राज्य को जड़ जम जायगी ॥ ३१ ॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् ।

एवं सेत्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थस्तव भामिनी ॥ ३२ ॥

हे भामिनी ! तू दशरथ से राम का वनवास माँग—इसीसे तेरे पुत्र के सब काम बन जायगे ॥ ३२ ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति ।

भरतश्च \*हतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

( इतने दीर्घकाल तक ) वनवासी होने पर राम की प्रीति लोगों के मन से निकल जायगी और फिर प्रजा उनको न चाहेगी और भरत जी का कोई शत्रु भी न रह जावेगा और वे शत्रु रहित राजा होंगे । ( अर्थात् अवाधित राज्य मिलेगा ) ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति ।

तेन कालेन पुत्रस्ते रुद्रमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

१ रुद्रः—प्रसिद्धः । ( गो० ) २ कृतमूलः—स्ववशीकृतमूलबलहृत्यर्थः । ( गो० )

\* पाठान्तरे “ गतामित्रस्तव ”

जब तक रामचन्द्र वन से लौटेंगे, तब तक भरत के राज्य की नींव अटल हो जायगी ॥ ३४ ॥

**संगृहीतमनुष्यश्च सुहङ्गिः सार्धमात्मवान् ।**

**प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥**

अच्छ्री प्रकार प्रजा का पालन कर उन्हें प्रसन्न कर लेने पर, इष्टमित्रों सहित ( राजसिंहासन पर ) भरत जी की जड़ जम जायगी । अतः जब महाराज तुझे वर देने लगें, तब तू महाराज से निर्भय हो ॥ ३५ ॥

**रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्ण विनिवर्त्य ।**

**अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥**

और आग्रहपूर्वक रामचन्द्र के अभिषेक की तैयारियाँ रुकवा देना । ( अन्त में ) मन्थरा की इन अनर्थ भरी बातों को, कल्याण-युक वचनों के रूप में कैकेयी ने ग्रहण किया । अर्थात् मन्थरा की बुरी सलाह को कैकेयी ने भली समझ तदनुसार काम करना स्वीकार किया ॥ ३६ ॥

**हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमव्रवीत् ।**

**सा हि वाक्येन कुञ्जायाः किशोरी<sup>१</sup>वेत्पथं गता ॥ ३७ ॥**

कैकेयी, मन्थरा की बातें सुन कर प्रसन्न और सन्तुष्ट हुई और द्वे बच्चे वाली घोड़ों की तरह पराधीन हो कुपथ को अवलंबन कर कहने लगी अथवा हर्षयुक्त हो अति विश्वास के साथ कैकेयी मन्थरा से बोली । उस समय कैकेयी मन्थरा की बातों में आ ऐसी

<sup>१</sup> वीतसाध्वसा—विगतमया । ( गो० ) २ किशोरी—बड़वा । ( गो० ) ; निष्ठकिशोरत्वविशिष्ट । ( शि० )

हो गयी थी जैसे घोड़ी आतुर हो अपने बच्चे के पास जाने के लिये कुपथ में जाने से कोड़े से पीटी जाने पर भी, नहीं रुकती ॥ ३७ ॥

[ उक्त श्लोक में “ किशोरी ” शब्द प्रयुक्त हुआ है । “ रामाभिरामी ”, “ भूषण ” और “ विषमपदव्याख्या ” नामक टीकाओं में “ किशोरी ” का अर्थ घोड़ी कर कैकेयी की उपमा वत्सवत्सला उत्पथगामिनी घोड़ी से दी गयी है, किन्तु पं० शिवसदायराम कृत “ शिरोमणि ” टीका में किशोरी का अर्थ नित्य किशोरविशिष्ट करके इसे कैकेयी का विशेषण माना है । यदि शिरोमणि टीकाकार का यह अर्थ मान लिया जाय, तो किशोरी का अर्थ होता है, बालस्वभाव वाली कैकेयी । ( किशोरावस्था का काल १० से १५ वर्ष तक माना जाता है । ) अतः उक्त श्लोक में किशोरी का अर्थ बालिका मान कर समूचे श्लोक का अर्थ यह होगा —

मन्थरा की बातों में बाल-स्वभाव-सुलभ अथवा अवोध बालिका की तरह कैकेयी आ कर, कुमार्गगामिनी हो गयी । वह प्रसन्न हो और उसकी बातों पर विश्वास कर मन्थरा से यह बोली ॥ ३७ ॥

इस अर्थ में एक दोष आता है । वह यह कि नायिकामेद में छिथों की चार अवस्थाएँ मानी गयी हैं । मुख्या, युवा, प्रौढ़ा और वृद्धा । इसी प्रकार पुरुषों की भी पाँच अवस्थाएँ मानी गयी हैं । यथा बाल, पौगङ्ड, किशोर, युवा और वृद्ध । जहाँ पर “ किशोरी ” शब्द का प्रयोग होता है वहाँ किशोर की छी किशोरी का गौण अर्थ में प्रयोग होता है । ]

कैकेयी विस्मयं प्राप्ता परं परमदर्शना ।

कुञ्जे त्वां नाभिजानामि श्रेष्ठां श्रेष्ठाभिधायिनीम् ॥३८॥

अति रूपवती कैकेयी को बड़ा आश्र्वय हुआ ( आश्र्वय इस बात का कि, महाराज ने इतना बड़ा काम उसको जनाये विना कैसे करना निश्चित कर लिया ) और बोली—अथवा हे मन्थरे ! मैं नहीं जानती थी कि, तू सर्वश्रेष्ठ बोलने वाली है या सब से बढ़ कर मेरा हित समझने वाली है ॥ ३८ ॥

पृथिव्यामसि कुञ्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।

त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

इस पृथिवी तल पर जितनी कुबड़ीं स्थिराँ हैं उन सब में तू निश्चय ही सब से बढ़ कर बुद्धिमती है । तू सदा मेरा हित करने वाली है ॥ ३६ ॥

नाहं समववुद्येयं कुञ्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।

सन्ति दुःसंस्थिताः कुञ्जा वक्राः परमदारुणाः ॥४०॥

हे कुञ्जे ! मैं अभी तक महाराज की चाल न समझ सकी थी । इस संसार में जितनी कुबड़ी हैं, वे सब अंग टेढ़े होने के कारण दुष्ट स्वभाव और पापिन होती हैं ॥ ४० ॥

त्वं पद्मिव वातेन सन्नता प्रियदर्शना ।

उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ॥४१॥

किन्तु तुझमें इन बातों का लेश भी नहीं है । क्योंकि जैसे सहज सुन्दर कमलपत्र, पवन के भोके से मुक्त कर टेढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी कोई निन्दा नहीं करता, वैसे ही तेरे अंग टेढ़े होने पर भी तू सुखरूपा होने के कारण निन्दा करने के योग्य नहीं है । तेरा वक्षःस्थल कंधे तक मांस से भरा हुआ और ऊँचा है ॥ ४१ ॥

अधस्ताच्छोदरं शातं<sup>१</sup> सुनाभमिव लज्जितम् ।

परिपूर्णं तु जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

और नीचे की ओर बहुत ही पतला है । मानों छाती की ऊँचाई देख लज्जित हो भीतर धस गया है । तेरी दोनों जंघाएँ भरी हुई और दोनों स्तन बड़े मेंटे और कठोर हैं ॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।

जघनं तव निर्मृष्टं<sup>२</sup> रशनादामशोभितम् ॥ ४३ ॥

हे मन्थरे ! तेरा मुख विमल चन्द्रमा जैसा है । इन्हीं सब कारणों से तू ( कुबड़ी होने पर भी ) बड़ी सुन्दर मालूम पड़ती है । तेरी जंघाएँ साफ अर्थात् बालों रहित हैं और करधनी से भूषित हैं ॥ ४३ ॥

जड़घे भृशमुपन्यस्ते पादौ चाप्यायतावुभौ ।

त्वमायताभ्यां सविथभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥ ४४ ॥

जांघे भारी होने से मानों एक दूसरी से मिली ही जाती हैं । दोनों चरण लंबे से लंबे हैं । हे मन्थरे ! जब तू चौड़ी पिंडुलियों तक रेशमी साड़ी पहिन कर, ॥ ४४ ॥

अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे ।

आसन्याः शम्वरे मायाः सहस्रमुराधिपे ॥ ४५ ॥

मेरे आगे चलती है तब तू राजहंसी की तरह शोभायमान देख पड़ती है । शंवरासुर के पास जो हज़ार मायाएँ थीं ॥ ४५ ॥

१ शान्तं—कृशं । ( गो० ) २ निर्मृष्टं—अत्यन्त शुद्धं, लोमादिरहितं ।  
( रा० )

सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।  
तवेदं स्थगु यदीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥

केवल वे ही नहीं, बल्कि और भी हज़ारों माया तुझमें हैं, (अर्थात् तू उन सब को जानती है ) पहिये के नाह की तरह तेरे इस उठे हुए कूबड़ में ॥ ४६ ॥

मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।

अत्र ते प्रतिमोक्ष्यामि मालां कुञ्जे हिरण्मयीम् ॥ ४७ ॥

बुद्धि और राजनीतिक चालें और चालाकियाँ भरी हुई हैं । सो मैं ऐसा सोने का हार तुझे पहनाऊँगी जो इस कूबड़ पर मूला करेगा ॥ ४७ ॥

अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।

जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टसेन॑ सुन्दरि ॥ ४८ ॥

हे सुन्दरी ! भरत को राज्य मिलने पर तथा रामचन्द्र के वनवासी होने पर मैं तेरे इस मौसिपिण्ड (कूबड़) को उत्तम तपे हुए सुवर्ण के पत्रों से तुरन्त ढक ढूँगी ॥ ४८ ॥

लब्धार्थं च प्रतीता॒ च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।

मुखे च तिलकं चित्रं३ जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥

कार्य की सफलता में विश्वास हो जाने पर तेरे इस कूबड़ पर चन्दन लगाऊँगी और माथे पर पक्के सोने का रत्नजटित तिलक भी पहिनाऊँगी ॥ ४९ ॥

१ सुनिष्टसेन—सुदुतेन । (गो०) २ प्रतीता—सन्तुष्ट । (गो०) ३ चित्र—नाना रत्नखचित्तयानाना वर्ण । (गो०)

कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।  
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

हे मन्थरे ! तेरे लिये मैं सब गहने सोने के बनावाऊँगी । सब गहने व सुन्दर वस्त्र पहिन कर देवता के समान तू जहाँ चाहे वहाँ जा सकेगी ॥ ५० ॥

चन्द्रमाहयमानेन<sup>१</sup> मुखेनाप्रतिमेन च ।

गमिष्यसि गतिं मुख्यां<sup>२</sup> गर्वयन्ती द्विषज्जनम्<sup>३</sup> ॥ ५१ ॥

चन्द्रमा से स्पर्धा करने वाले, उपमारहित अपने मुख के द्वारा तू मेरी सोतों को तिनके के समान समझ, उनके सामने अकड़ कर चलेगी ॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।

पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा भम ॥ ५२ ॥

समस्त आभूषणों से सजी हुई अनेक कुबड़ी खिया, तेरे चरणों की सेवा वैसे ही करेंगी जैसे तू मेरी सेवा करती है ॥ ५२ ॥

प्रशस्यमाना सा कुब्जा कैकेयीमिदमब्रवीत् ।

शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

मन्थरा, इस प्रकार प्रशंसा किये जाने पर वेदी की अग्निशिखा के समान श्वेत शश्या पर लेटी हुई कैकेयी से बोली ॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते ।

उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शयॄ ॥ ५४ ॥

१ आह्वायमानेन—स्पर्धमानेन । ( गो० ) २ मुख्यां—तृणीकृतसर्वजनां । ( गो० ) ३ द्विषज्जनम्—मत्सपत्नीजनं । ( गो० ) ४ अनुदर्शये—प्रतीक्षस्वेत्यर्थः ( गो० )

हे कल्याणि ! जब जल बह गया तब बांध 'बांधने से क्या लाभ हो सकता है ? अतएव उठ कर अपने कार्यसाधन में लग और क्रांधागार में जा महाराज के आने की प्रतोक्ता कर ॥ ५४ ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह ।  
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥

इस प्रकार कुञ्जा द्वारा उत्साहित किये जाने पर, बड़े बड़े नेत्रों-वाली कैकेयी, जिसे अपने सौभाग्य का बड़ा गर्व था, मन्थरा सहित कोपभवन में पहुँची ॥ ५५ ॥

अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना ।  
अवमुच्य वराहाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

वहाँ पहुँचते ही कैकेयी ने कई लाख के मेती के हार को और अन्य मूल्यवान गहनों को उतार कर ज़मीन पर फेंक दिया ॥ ५६ ॥

ततो हेमोपमा तत्र कुञ्जावाक्यवशंगता ।  
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

उस समय सोने के रंग के समान रंगवाली कैकेयी, कुबड़ी की बातों में आ, ज़मीन पर लेट कर मन्थरा से कहने लगी ॥ ५७ ॥

इह वा मां मृतां कुञ्जे नृपायावेदयिष्यसि ।  
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम् ॥ ५८ ॥

हे कुञ्जे ! या तो तुझे महाराज को मेरे यहाँ मरने ही की ख़बर सुनानी पड़ेगी या रामचन्द्र को वन जाना पड़ेगा और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ५८ ॥

न सुवर्णेन मे ह्यर्था न रक्षैर्न च भोजनैः ।

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

मुझे अब न तो गहनों से और न रक्षों से और न स्वादिष्ट  
भोजनों ही से कुछ मतलब है । अगर राम का राज्याभिषेक हुआ  
तो वह, मेरे प्राण का यहाँ अन्त भी है ॥ ५६ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो  
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।

उवाच कुञ्जा भरतस्य मातरं  
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

कैकेयी के इन वचनों को सुन फिर भी पन्थरा बड़े क्रूर वचनों  
से जो रामचन्द्र के लिये अहितकर थे, कैकेयी को उपदेश करने  
लगी ॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो  
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।

अतो हि कल्याणि यतस्य तत्तथा  
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्यते ॥ ६१ ॥

हे कल्याणि ! तू अपने मन में यह निश्चय समझ ले कि, यदि  
रामचन्द्र कहीं राजा हो गये तो तू अपने पुत्र सहित दुःख पावेगी ।  
अतएव ऐसा प्रयत्न करना जिससे भरत ही को राज्य मिले ॥ ६१ ॥

तथातिविद्वा महिषी तु कुञ्जया  
समाहता वागिषुभिर्मुद्दुर्मुद्दुः ।

१ महापराक्रमैः—अतिक्रूरैः । ( ६० )

निधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता

शशंस कुब्जां रुषिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार रानी कैकेयी मन्थरा के वचन रूपी वाणों से बारंबार विद्ध हो, अपने दोनों हाथों को अपने हृदय पर रख, आश्चर्यान्वित हो और क्रोध में भर बैली ॥ ६२ ॥

यमस्य वा पां विषयं गतामिते

निशाम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।

वनं गते वा सुचिराय राघवे

समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

हे कुब्जे ! या तो तू मुझे यम के घर पहुँची हुई देखने का संवाद ही महाराज को जा कर सुनावेगी अथवा दीर्घकाल के लिये रामचन्द्र ही वनवासी होंगे और भरत को राज्य मिलेगा ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्तजो

न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।

न किञ्चिदिच्छामि न चेह जीवितं

न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

यदि रामचन्द्र वन न गये तो मैं न तो शैया पर लेटूँगी, न फूलमाला पहिनूँगी, न चन्दन लगाऊँगी, न आँखों में अंजन आँजूँगी, न अञ्ज और जल ही ग्रहण करूँगी । मुझे ( अब सिवाय भरत के राज्याभिषेक के ) और कोई इच्छा नहीं है । ( यदि यह पूरी न हुई तो ) मैं अब जीना भी नहीं चाहती ॥ ६४ ॥

अथैतदुक्त्वा वचनं सुदारुणं  
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।

असंवृतामास्तरणेन मेदिनी-  
मथाधिशिश्ये पतितेव किञ्चरी ॥ ६५ ॥

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा कर और सब गहनों को उतार,  
कैकेयी विस्तर रहित पृथिवी पर किञ्चरी की तरह लेट गयी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना  
तथाऽवमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।

नरेन्द्रपत्री विमना बभूव सा  
तमोवृता घौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

इति नवमः सर्गः ॥

रानी का मुखमण्डल काधान्धकार से युक्त और शरीर फूल-  
मालाओं और आभूषणों से शून्य उसी प्रकार का जान पड़ने लगा,  
जिस प्रकार का ताराओं से रहित और अन्धकारमय आकाश  
जान पड़ता है ॥ ६६ ॥

अयोध्याकाशड का नवीं सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

दशमः सर्गः

—:o:—

विदर्शिता यदा देवी कुञ्जया पापया भृशम् ।  
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किञ्चरी ॥ १ ॥

अनन्तर पापिनी मन्थरा के भली भाँति समझाने बुझाने से रानी कैकेयी, विष में बुझे तीर से घायल किन्नरी की तरह ज़मीन पर लेट गयी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।  
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

अत्यन्त चतुर रानी कैकेयी मन ही मन अपना कर्तव्य भली भाँति निश्चित कर, उसे धीरे धीरे मन्थरा को बतलाने लगी ॥ २ ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।  
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥

उस समय खिन्नमना कैकेयी मन्थरा की बातों में आ नागिन की तरह लंबी गरम सासे लेती जाती थी ॥ ३ ॥

मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गं मात्मसुखावहम् ।  
सा सुहृद्धार्थकामा च तन्निशम्य<sup>१</sup> सुनिश्चयम् ॥ ४ ॥  
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।  
अथ साऽमर्षिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥

मन्थरा अपनी सखी कैकेयी को अपने वचनानुसार ही कार्य करने में तत्पर जान तथा कार्य को सिद्धि समझ अति प्रसन्न हुई । डाह के मारे कैकेयी भी सब बातों को भली भाँति सोच और निश्चय कर ॥ ४ ॥ ५ ॥

१ मार्गम्—मंथरोक्तं । ( वि० ) २—निशम्य—श्रुत्वा ( गो० )

संविवेशाबला भूमौ निवेश्य श्रुकुटीं मुखे<sup>१</sup> ।

ततश्चित्राणि माल्यान्नि दिव्यान्याभरणानि च ॥६॥

महा क्रोध में भर, भौंहें टेढ़ी कर, भूमि पर लेट रही । रक्षा जटित हार तथा अन्य बढ़िया बढ़िया आभूषण, ॥ ६ ॥

अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।

तया तान्यपविद्धानि मूल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥

अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।

क्रोधागारे निपतिता सा वभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥

कैकेयी ने उतार कर ज़मीन पर कैंक दिये । ज़मीन पर बिखरे पड़े हुए वे बहुमूल्य आभूषण वैसे हो सुशोभित जान पड़ते थे, जैसे आकाश में तारागण सुशोभित होते हैं । मैले वस्त्र पहिने हुए कोप-भवन में पड़ी हुई कैकेयी ॥ ७ ॥ ८ ॥

एकवेणीं हृष्टं वद्धा गतसत्त्वेव किञ्चरी ।

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥

एक वेणी धारण किये हुए, स्वर्गलोक से गिरी हुई किञ्चरी के समान जान पड़ती थी । जब महाराज राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ करने की आज्ञा मंत्रियों को दे, ॥ ९ ॥

उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।

अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान्<sup>२</sup> ॥ १० ॥

१ मुखे श्रुकुटीं निवेशः—क्रोधातिशयेन । ( रा० ) २ जज्ञिवान्—रामाभिषेकः प्रसिद्धः निश्चित इति । इतःपूर्वं कैकेय्यानश्रुतिगोचरहृति ज्ञातवान् । ( रा० )

और समस्त सभासदों को विदा कर रनवास में पहुँचे और सोचा कि, श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होना आज सर्व साधारण में तो प्रसिद्ध हो गया, परन्तु रानियों को इसकी सूचना नहीं हुई ॥ १० ॥

प्रियार्हं प्रियमाख्यातुं विवेशान्तः पुरं वशी ।

स कैकेया गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥

अतएव यह शुभ संवाद अपनी प्यारी रानियों से भी कहें। यह विचार महायशस्वी महाराज दशरथ रनवास में गये। वे सब से प्रथम कैकेयी के सर्वोत्तम भवन में पधारे ॥ ११ ॥

पाण्डुराम्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

शुक बहिणसंघुष्टं क्रौञ्चहंसस्तायुतम् ॥ १२ ॥

चन्द्रमा जैसे राहुयुक्त उजले आकाश में प्रवेश करता है, वैसे ही महाराज दशरथ कैकेयी के भवन में पधारे। उस समय कैकेयी के घर में सुग्ने, मोर, क्रौञ्च, और हंस बोल रहे थे ॥ १२ ॥

वादित्ररवसङ्घुष्टं कुञ्जावामनिकायुतम् ।

लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

कहीं पर बाजे बज रहे थे, जगह जगह कुबड़ी, नाटी, टेढ़ी, मेढ़ी दासियाँ देख पड़ती थीं, कहीं पर लतामगडप बने हुए थे, कहीं पर ऐसे कमरे थे जिनमें सुन्दर तसबीरे लटक रही थीं ( या दीवालों पर चित्र चित्रित थे । ) और जगह जगह चंपा और अशोक के बूज़ ( घर की ) शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १३ ॥

१ वशी—स्वतन्त्रः । ( गौ० ) २ चित्रगृहैः—चित्रयुक्त गृहैः । ( रा० )

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।

नित्यपुष्पफलैर्क्षैर्वापीभिश्चोपशोभितम् ॥ १४ ॥

भवन के भीतर की बेदियाँ हाथीदाँत, चाँदी और सेने की बनी हुई थीं, जगह जगह नित्य फूलने और फलने वाले वृक्ष और बावड़ी, घर की शोभा बढ़ा रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।

विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥

बैठने के लिये हाथीदाँत के काम के चाँदी सेने के पीढ़ा ( कुर्सियाँ ) रखे हुए थे । विविध प्रकार के अन्न, पान, भक्ष्य, भोज्य पदार्थ रखे थे ॥ १५ ॥

उपपन्नं महाहैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।

तत्पविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥

उस घर में अनेक बहुमूल्य गहने रखे थे । ( कहाँ तक वर्णन किया जाय ) उस घर की शोभा स्वर्ग जैसी हो रही थी । महाराज अपने उस भरेपूरे अन्तःपुर में पहुँचे ॥ १६ ॥

न ददर्श प्रियां राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थं मनुजाधिपः ॥ १७ ॥

किन्तु वहाँ उत्तम शश्या पर कैकेयी को न पाया । महाराज वहाँ कामदेव के अत्यन्त सताये हुए और रति की इच्छा से गये थे ॥ १७ ॥

अपश्यन्दयितां भार्या॑ पप्रच्छ॒ विषसाद॒ च ।

न हि तस्य पुरा देवी तां वेला॑ मत्यवर्तत ॥ १८ ॥

उन्होंने कैकेयी का नाम ले पुकारा, किन्तु जब कुछ भी उत्तर न मिला तब वे उदास हो गये। क्योंकि इसके पूर्व महाराज के रति के समय कैकेयी कहीं नहीं जाती थी ॥ १८ ॥

न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।

ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥

और न (आज के पूर्व) महाराज ही कभी शूल्य घर में आये थे। महाराज घर में जा सब से कैकेयी के बारे में पूँछने लगे ॥ १९ ॥

यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपणिताम् ।

प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता रचिताञ्ज़लिः ॥ २० ॥

महाराज ने स्वार्थ में तत्पर (भरत का राज्याभिषेक चाहने वाली) और नादान कैकेयी के बारे में पहले को तरह एक पहरेदारिन से पूँछा। तब उसने हाथ जोड़ और डरते डरते कहा ॥ २० ॥

देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।

प्रतिहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥

हे देव ! देवी जी तो अत्यन्त कुपित हो कोपागार में चली गयी हैं। उस पहरेदारिन के वचन सुन महाराज का मन बहुत बिगड़ गया ॥ २१ ॥

---

१ पप्रच्छ, २ विषसाद—रत्यर्थपच्छ क्वातासीत्येवं । प्रत्युत्तर-भावात् विषसाद च । (गो०) ३ तवेलां—रतिवेलां । (गो०)

विषसाद् पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथेचिताम् ॥ २२ ॥

और वे वहीं बैठ गये । उस समय महाराज की सब इन्द्रियाँ विकल और चञ्चल हो उठीं । ( फिर उन्होंने कौपभवन में जा कर देखा कि ) रानी अनुचित रीति से लेटी हुई है । ( अर्थात् ज़मीन पर बिना कुछ विद्धाये मैली धोती पहने तथा गहने उतार कर पड़ी है ) ॥ २२ ॥

प्रतस इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

स वृद्धस्तरुणीं भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥

यह देख महाराज अति दुःख सन्तप्त हुए । क्योंकि वृद्ध महाराज को वह तरुणावस्था को प्राप्त रासी कैकेयी प्राणों से भी अधिक व्यारी थी ॥ २३ ॥

अपापः पापसङ्कल्पां दर्दश धरणीतले ।

लतामिव विनिष्कृतां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

निष्पाप महाराज ने दुष्ट मनोरथ वाली कैकेयी को कटी हुई लता की तरह अथवा स्वर्ग से ढकेली हुई देवी की तरह ज़मीन पर पड़ी देखा ॥ २४ ॥

किन्नरीमिव निर्धूतां<sup>१</sup> च्युतां<sup>२</sup>मप्सरसं यथा ।

\*मालामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

१ निर्धूता—पुण्यक्षये स्वर्लोकापतताम् । ( रा० ) २ च्युता—स्वर्गात्-परिभ्रष्टाम् । ( रा० )

\* पाठान्तरे “ मायामिव ” ।

कैकेयी पृथिवी पर पढ़ी हुई ऐसी जान पड़ती थी मानों वह पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरी हुई किन्तु री है अथवा स्वर्ग परि-भृष्टा अप्सरा है, अथवा दूट कर गिरी हुई माला है। अथवा फंदे में फँसी हिरनी है ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।

महागज इवारण्ये स्नेहात्परिमर्श ताम् ॥ २६ ॥

अथवा शिकारी के विष्वाण से धायल को हुई हथिनी है, ऐसी हथिनी रूपिणी कैकेयी को महागज रूपी महाराज दशरथ ने बड़े प्यार से देखा ॥ २६ ॥

परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसन्त्रस्तचेतनः ।

कामी कमलपत्राक्षी<sup>१</sup>मुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

वे मन में डरते डरते अपने हाथों से उसका शरीर दुहराने लगे। फिर कामातुर महाराज दशरथ ने उस कमलपत्राक्षी महिला से यह कहा ॥ २७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् ।

देवि केनाभियुक्तासि<sup>२</sup> केन वासि विमानिता<sup>३</sup> ॥२८॥

हमें यह भी नहीं मालूम हुआ कि, हमारे ऊपर तुम क्यों कुछ हो रही हो ? क्या किसी ने तुम्हारी कुछ निन्दा की है या किसी ने तुम्हारा अपमान किया है ? ज़रा बतलाओ तो ॥ २८ ॥

<sup>१</sup> कमलपत्राक्षी—इति कामित्वद्योतनं । (गो०) <sup>२</sup> अभियुक्ता—कृतपराभवा । (रा०) <sup>३</sup> विमानोनिन्दा । (रा०)

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु<sup>१</sup> ।

भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि<sup>२</sup> ॥ २९ ॥

हे कल्याणि ! तुम्हारा इस प्रकार धूल में लोटना हमें बहुत दुःख-दायी हो रहा है । ( हमारे जीते हुए ) तुम जैसी हमारी हित चाहने वाली का इस प्रकार ज़मीन पर लेटने का कारण क्या है ? ॥ २९ ॥

भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनी ।

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥

हे प्राणप्यारी ! तुम प्रेत लगे हुए मनुष्य की तरह क्यों ज़मीन पर लोट रही हो । यदि कोई व्याधि अथवा रोग से पीड़ित हो तो बतलाओ । हमारे यहाँ सब रोगों की चिकित्सा करने वाले और हमारे द्वारा दान मानादि से सन्तुष्ट वैद्य हैं ॥ ३० ॥

सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनी ।

कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥

जो तुझे ( बात की बात में ) नीरोग और सुखी कर देंगे । हे भामिनी ! ज़रा यह तो बतलाओ कि बीमारी क्या है ? ( यदि कोई बीमारी नहीं है ) तो क्या तुम किसी दूसरे को ( पुरस्कार दिला ) प्रसन्न करना चाहती हो ? अथवा किसी पर अप्रसन्न हो उसको दण्ड दिलाना चाहती हो या उसे बरबाद करवाना चाहती हो ॥ ३१ ॥

कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् ।

मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> पांसुषु—धूलिषु । ( रा० ) <sup>२</sup> कल्याणचेतसि—अनपकारिणि । ( रा० )

अथवा किसका उपकार और किसका अपकार किया जाय ?  
तुम रोओ मत, वृथा अपने शरीर को सांसत कर, चेहरा फीका  
मत करो ॥ ३२ ॥

अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् ।  
दरिद्रः को भवेदाद्यो द्रव्यवान्कोऽप्यकिञ्चनः ॥ ३३ ॥

हम तुम्हें राज़ो करने के लिये अवध्य को भी अभी जान से  
मरवा सकते हैं अथवा जिसे वध करने को आज्ञा दी जा चुकी है,  
उसे हम अभी छोड़ भो सकते हैं । यदि किसी धनहीन को धनवान  
अथवा धनवान को निर्धन करवाना चाहती हो (तो भी बतलाओ)  
हम तुरन्त ऐसा भी कर सकते हैं ॥ ३३ ॥

अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः ।  
न ते किञ्चिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥

क्योंकि क्या हम स्वयं और क्या हमारे आश्रित जन सभी तो  
तुम्हारे वशवर्ती हैं अर्थात् आज्ञाकारी हैं । तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध  
कोई काम करने की हममें सामर्थ्य नहीं है ॥ ३४ ॥

आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ।  
बलैमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥

यदि हमें अपने प्राण गँवा कर भी कोई काम तेरी प्रसन्नता के  
लिये करना पड़े तो हम उसे करने को भी तैयार हैं । ज़रा बतला  
तो तेरी इच्छा क्या है ? हमारा तुझमें कितना प्रेम है यह तो तुझे  
मालूम ही है, अतएव जो चाहती हो सो कह, किसी बात की  
शङ्का मत कर ॥ ३५ ॥

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ।  
यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ॥ ३६ ॥

हम अपने पुण्यकर्मों की शपथ खा कर कहते हैं कि, हम जो तू कहेगी वही करेंगे । देख, इस पृथिवीमण्डल पर जहाँ तक सूर्य धूमता है वहाँ तक की सारी पृथिवी हमारे अधिकार में है ॥ ३६ ॥

प्राचीनाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः ।  
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥  
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम् ।  
ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

द्राविड़, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, वङ्गाल, अङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी, और कोशल ये सब देश, जहाँ तरह तरह की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और जो धनधान्य एवं भेड़ों बकरियों से भरे पूरे हैं—हमारे अधीन हैं । इनमें से यदि किसी देश का राज्य चाहती हो तो बतला ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने ।  
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ।  
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव भास्करः ॥ ३९ ॥

हे भीरु ! तू क्यों ज़मीन पर पड़ी कष्ट सहती है । हे सुन्दरी ! उठ, उठ । हे कैकेयी ! ठीक ठीक बतला, तुझे किस बात का डर है । हम उस डर को अभी उसी प्रकार दूर कर देंगे, जिस प्रकार सूर्य देव, कुहरे को दूर कर देते हैं ॥ ३९ ॥

तथेत्का सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ।  
परिपीडियितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

इति दशमः सर्गः ॥

इस प्रकार महाराज द्वारा मनायी जाने पर, कैकेयी कुछ कुछ शान्त हुई, किन्तु महाराज को पीड़ित करने के लिये उनसे अति दुःखदायी अग्रिय वचन कहने लगी ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का दसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—१०—

एकादशः सर्गः

—१०—

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम् ।  
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥

कामशर से पीड़ित और कामवेग के वशीभूत महीपाल दशरथ से कैकेयी ये नितुर वचन बोली ॥ १ ॥

नास्मि विप्रकृता<sup>१</sup> देव केनचिन्नावमानिता ।  
अभिप्रायस्तु मे कश्चिच्चमिच्छामि त्वया कृतम् ॥ २ ॥

मुझे न तो कोई बीमारी है और न किसी ने मेरा अपमान ही किया है । किन्तु मेरी एक इच्छा है, जिसे आप पूरी कर सकते हैं अथवा मेरा एक काम है जिसे मैं आपसे करवाना चाहती हूँ ॥ २ ॥

<sup>१</sup> विप्रकृता—रोगग्रस्ता । ( गो० )

प्रतिज्ञां प्रतिज्ञानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि ।

अथ तदव्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितं मया ॥ ३ ॥

यदि आप मेरा वह काम करने को राज़ी हों, तो उसे करने की प्रतिज्ञा कीजिये । तब मैं अपनी वह बात बतलाऊँगी ॥ ३ ॥

तामुवाच महातेजाः कैकेयीमीषदुत्स्मतः ।

कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुविस्थिताम् ॥ ४ ॥

कैकेयी का यह वचन छुन, काम से व्याकुल महाराज दशरथ, ज़मीन पर पड़ी हुई कैकेयी का सिर हाथों से उठा अपनी गोद में रख, मुसङ्गा कर बोले ॥ ४ ॥

अवलिसे<sup>१</sup> न जानासि त्वत्तः प्रियतमा मम ।

मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥

हे सौभाग्यगर्विते ! ज्या तुझे यह नहीं मालूम कि, पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र को छोड़, हमारा तुझसे अधिक प्यारा और कोई मनुष्य नहीं है ॥ ५ ॥

तेना जयेनमुरुयेन राघवेण महात्मना ।

शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥ ६ ॥

सो तुझसे भी अधिक प्रिय, शत्रुओं से अजेय और सब से मुख्य श्रीरामचन्द्र जो की शपथ खा कर हम कहते हैं कि, जो तू चाहती हो सो कह ॥ ६ ॥

यं मुहूर्तमपश्यस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम् ।

तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> अवलिसे—सौभाग्यगर्विते । ( गो० )

हे कैकेयी ! जिन श्रीरामचन्द्र को देखे विना एक घड़ी भी जीना हमारे लिये असम्भव है, उन्हींकी शपथ खा कर हम कहते हैं कि, तेरा काम हम करेंगे ॥ ७ ॥

आत्मना वाऽस्त्मजैश्चान्यैर्वृणे<sup>१</sup> यं मनुजर्षभम् ।

तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥

हम अपने से और अन्य तीनों पुत्रों से जिन श्रीरामचन्द्र को अधिक मानते या चाहते हैं अथवा अपना शरीर व अन्य तीनों पुत्रों को दे डाल कर भी जिन श्रीरामचन्द्र को रखना चाहते हैं, तुम्हारा वचन पूरा करने को उन्हींकी हम शपथ खाते हैं ॥ ८ ॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योऽद्वरस्व मे ।

एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु<sup>२</sup> मन्यसे ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! हमारे हृदय में तेरे लिये कैसा प्रेम है और तेरा काम करने के लिये हम शपथ खा चुके हैं, इन बातों पर ध्यान रख कर, जो काम हमसे करवाना चाहती है, उसे भली भाँति समझ बूझ कर बतला ॥ ९ ॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ।

करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥ १० ॥

हमारी तेरे ऊपर जैसी प्रीति है उसको विचार कर किसी बात की शङ्का मत कर । हम अपने पुण्यों की शपथ खा कर कहते हैं हैं कि, तू जो कहैगी सो हम करेंगे ॥ १० ॥

<sup>१</sup> वृणे—असमझाने । (रा०) <sup>२</sup> अनुमृश्य—विचार्य । (रा०)

<sup>३</sup> साधु—इष्ट । (गो०)

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् ।

निर्माध्यस्थयात्प्रहर्षाच्च वभाषे दुर्वचं वचः ॥ ११ ॥

मन्थरा के उपदेश को अपने मन में रखे हुए और अपना मनो-रथ सिद्ध होता जान, भरत का पक्षपात करती हुई और प्रसन्न हो, कैकेयी ये दुर्वचन बोली ॥ ११ ॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः ।

व्याजहार महाधोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥ १२ ॥

महाराज की बातों से अत्यन्त प्रसन्न हो और अपना मत-लब पूरा करने को आये हुए महाभयङ्कर यमराज को तरह कैकेयी बोली ॥ १२ ॥

यथा क्रमेण शपसि वरं यम ददासि च ।

तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशदेवाः साग्रिपुरोगमाः ॥ १३ ॥

हे महाराज ! आप मुझे वर देने की शपथ खा चुके हैं, इस बात के साक्षी अग्नि प्रमुख ३३ देवता रहें । ( अर्थात् इस कथन से कैकेयी पति को अपनी प्रतिज्ञा पर अद्वल रहने के लिये हृद करती है । ) ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः ।

जगच्च पृथिवी चैव सगन्धर्वा सराक्षसा ॥ १४ ॥

निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः ।

यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

हे महाराज ! चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन और दिशाएँ, जगत्, सब लोकों के निवासी, पृथिवी, गन्धर्व, राक्षस, भूत,

गृहदेवता, और और भी जो प्राणी हैं वे सब आपके कथन के साक्षी रहें ॥ १४ ॥ १५ ॥

सत्यसन्धे महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः ।

वरं मम ददात्येष तन्मे शृण्वन्तु देवताः ॥ १६ ॥

सत्यसन्ध, महातेजस्वी, धर्मज्ञ, सदैव सावधान रहने वाले महाराज हमको वर देते हैं यह बात सब देवता सुनें ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्णा<sup>१</sup>भिशस्य<sup>२</sup> च ।

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

राजमहिषी कैकेयी ने महाधनुर्धारी, वर देने को उद्यत और कामातुर महाराज को वचनवद्ध कर और उनकी प्रशंसा कर कहा ॥ १७ ॥

स्मर राजन्पुरा वृत्तं तस्मिन्देवासुरे रणे ।

तत्र चाच्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

हे राजन् ! आप पहले उस पुरानी बात को स्मरण कीजिये, जब देवासुर संग्राम में आप गये थे और शत्रु की मार से जब आप मृतप्राय हो गये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत्वं समभिरक्षितः ।

जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्राददा वरौ ॥ १९ ॥

<sup>१</sup> परिगृह्ण—परिवर्तनाभिवर्त्य ॥ <sup>२</sup> अभिशस्य—सत्यसन्ध इत्यादिना स्वकार्यस्थैर्याच सुत्वा च । ( २० )

उस समय मैंने जाग कर और बड़े यत्त्र से आपकी रक्षा की थी। तब जागने पर अथवा होश में आने पर, आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १६ ॥

तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् ।  
तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसङ्गर ॥ २० ॥

हे सत्यवादी राजन् ! उन दोनों वरों को मैंने आपके पास धरोहर की तरह रखवा दिया था। मैं वे ही दोनों वर आपसे इस समय माँगती हूँ ॥ २० ॥

तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेहास्यसि मे वरम् ।  
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥

और यदि धर्मानुसार प्रतिज्ञा कर के तुम वे दोनों वर मुझे इस समय न देंगे तो अपने इस अपमान के कारण आप ही के सामने मैं मर जाऊँगी ॥ २१ ॥

वाड्मात्रेण तदा राजा कैकेया स्ववशे कृतः ।  
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

महाराज दशरथ को कैकेयी ने केवल वाणी से अपने वश में उसी तरह कर लिया, जिस तरह ( वहेलिया ) हिरन को मारने के लिये जाल में बाँध लेता है ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ।  
वरौ यौ मे त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥

तदनन्तर वर देने वाले और काम मेहित महाराज से कैकेयी बोली कि, हे देव ! आपने मुझे जो दी वर उस समय दिये थे ॥ २३ ॥

तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः ।

योऽभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकलिपतः ॥ २४ ॥

उन दोनों को मैं अभी माँगती हूँ । आप सुनिये । रामचन्द्र के अभिषेक के लिये जो सामान सँजाया गया है ॥ २४ ॥

अनेनैवाभिषेकेन भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥

तदा दैवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः ।

नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥

उससे मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाय—(यह तो एक वर हुआ) हे देव ! आपने देवासुर संग्राम में प्रसन्न हो जो दूसरा वर देने को कहा था उसके लेने का समय अब आ गया है । वह यह है कि, चौदह वर्ष तक वन में रह कर ॥ २५ ॥ २६ ॥

चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापसः ।

भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

रामचन्द्र जटा बल्कल धारण कर तापस भेष में रहें । मेरे पुत्र भरत आज ही निष्कण्टक राज्य भोगें ॥ २७ ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे ।

अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वनम् ॥ २८ ॥

बस, यही मेरी परम कामना है। आपके दिये हुए ही वर मैं  
माँगती हूँ। मैं राम का वनगमन आज ही देखना चाहती हूँ॥२८॥

### स राजराजो भव सत्यसङ्गरः

कुलं च शीलं च हि रक्ष जन्म च ।  
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं  
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥  
इति एकादशः सर्गः ॥

हे राजन् ! अब आप सत्यप्रतिज्ञ बन कर अपने कुल, शील  
और जन्म की रक्षा करें। क्योंकि ऋषिगण, मनुष्यों के हितार्थ, सत्य  
ही को स्वर्ग प्राप्ति के लिये परमोत्तम साधन बतलाते हैं॥ २६ ॥

अयोध्याकारण का न्यारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

### द्वादशः सर्गः

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः ।  
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयी की इन कठोर वातों को सुन, महाराज दशरथ बहुत  
चिन्तित और सन्तप्त हुए॥ १ ॥

किन्तु मे यदि वा स्वमश्रित्तमोहोऽपि वा मम ।  
अनुभूतोपसर्गो वा मनसोवाप्युपद्रवः ॥ २ ॥

<sup>१</sup> मनसोवाप्युपद्रवः—आधिव्याधिजनितविक्षेपौवा । ( वि० )

और सोचने लगे—क्या हम यह दिन में ही स्वप्न देख रहे हैं, या हमारे चित्त को मोह प्राप्त हो गया है या भूत प्रेत की वाधा है, अथवा किसी दुष्ट ग्रह की पीड़ा है, अथवा आधिकारि जनित यह कोई उपद्रव है ? ॥ २ ॥

इति सञ्चिन्त्य तद्राजा नाध्यगच्छतदा सुखम् ।

प्रतिलभ्य चिरात् संज्ञां कैकेयीवाक्यतपितः ॥ ३ ॥

बहुत सोचने विचारने पर भी महाराज का मन सुखी न हुआ । कुछ काल पीछे जब वे प्रकृतिस्थ हुए तब कैकेयी की बातों को स्मरण कर परम तप, ॥ ३ ॥

व्यथितो विकृवश्वै व्याघ्रीं दृष्टा यथा मृगः ।

असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥

व्यथित और विकल उसी प्रकार हुए जिस प्रकार हिरन शेरनी को देख कर व्यथित, विकल और सन्तप होता है । उस समय महाराज दशरथ विना आसन के भूमि पर बैठे बैठे दीर्घ स्वास ले रहे थे ॥ ४ ॥

मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः ।

अहो धिगिति सामर्था वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥

मानों मन्त्रमण्डल के भीतर धिरा हुआ मन्त्रमुग्ध महाविषधर सर्प फुफकारता हो । कोध में भर महाराज ने कहा “मुझे धिक्कार है” ॥ ५ ॥

मोहमापेदिवान्भूयः शोकोपहतचेतनः ।

चिरेण तु वृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥

यह कह शोक से विहृल महाराज फिर मूर्च्छित हो गये । देर तक मूर्च्छित रह कर जब वे सचेत हुए तब अत्यन्त दुखी हुए ॥ ६ ॥

कैकेयीमब्रवीत्कुद्धः प्रदहनिव चक्षुषा ।

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥

और कोध में भर कैकेयी को इस तरह देखा मानों उसे भस्म हो कर देंगे । तदनन्तर उससे बोले, अरी नृशंसा ! पापस्वभावे ! और कुल का सत्यानाश करने वाली ! ॥ ७ ॥

किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयाऽपि वा ।

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र ने या हमने तेरा क्या बिगाड़ा है ? श्रीरामचन्द्र तो अपनी गर्भधारिणी माता के समान सदा तेरे साथ बतावि करते हैं ॥ ८ ॥

तस्यैव त्वमनर्थाय किञ्चिमित्तमिहोद्यता ।

त्वं मयात्मविनाशार्थं भवनं स्वं प्रवेशिता ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का अनर्थ करने को तू क्यों तैयार हुई है । हाय ! हमने अपना नाश ( अपने हाथों ही से ) करने के लिये तुझे अपने घर में बुलाया ॥ ९ ॥

अविज्ञानान्तृपसुता व्याली तीक्ष्णविषा यथा ।

जीवलोको यथा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥

हमने तो तुझे राजकुमारी समझा था, हम यह नहीं जानते थे कि, तू उम्र विषधारिणी साँपिन है । जब सारे लोग श्रीरामचन्द्र जी के गुणों को प्रशंसा कर रहे हैं, ॥ १० ॥

अपराधं कमुदिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् ।

कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥११॥

तब हम कौनसा अपराध लगा कर ऐसे प्यारे पुत्र का त्याग करें। हम कौशल्या, सुमित्रा, और राज्य को भी त्याग सकते हैं ॥ ११ ॥

जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् ।

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्टा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥

यही नहीं बल्कि हम अपने प्राण तक त्याग सकते हैं; किन्तु अपने प्राणाधार पितृवत्सल श्रीरामचन्द्र को नहीं त्याग सकते। अपने ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देखने से हमारा मन परम प्रसन्न होता है ॥ १२ ॥

अपश्यतस्तु मे रामं नष्टा भवति चेतना ।

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥

और श्रीरामचन्द्र को न देखने से हमारी सुधबुध नष्ट हो जाती है। विना सूर्य के लोक भले ही बने रहें, विना जल वरसे अन्न भले ही उत्पन्न हो ॥ १३ ॥

न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥

किन्तु विना श्रीरामचन्द्र के क्षण भर भी हमारे प्राण शरीर में नहीं रह सकते। अतः हे पापिन ! बस कर, और इस हठ को क्षोड़ दे ॥ १४ ॥

अपि ते चरणौ मूर्धना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।

किमिदं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

हम अपना सिर तेरे चरणों में रखते हैं, हम पर प्रसन्न हो ।  
है पापिन ! ऐसा कठोर ठान तूने किस लिये ठाना है ? ॥ १५ ॥

अथ जिज्ञाससे माँ त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।

अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठः सुता श्रीमान्धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।

तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

यदि तू यह जानना चाहती हो कि, हम भरत को प्यार करते हैं कि, नहीं तो तू परीक्षा ले ; किन्तु तू स्वयं श्रीरामचन्द्र के बारे में पहले जो यह कह चुकी है कि, हमारे ज्येष्ठ पुत्र श्रीराम धर्म से ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं सो यह बात क्या तूने मेरी खुशामद करने को कही थी अथवा श्रीरामचन्द्र से अपनी टहल करवाने को कही थी ? ॥ १६ ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकं सन्तप्तसा सन्तापयसि माँ भृशम् ।

आविष्टाऽसि गृहं शून्यं सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक को सुन तू शोकतस्स्वयं हुई श्रौर मुझे भी शोकसन्तप्त कर रही है, सो जान पड़ता है सूने घर में रहने से तेरे सिर पर कोई प्रेत सवार हो गया है, इसीसे तू अपने आपे में नहीं है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।

अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि ! महाराज इदवाकु के कुल में यह बड़ा अनर्थ हो रहा है कि, जो आज तक सदा नीतिशालिनी रही थी उसीकी बुद्धि पर आज पत्थर पड़ रहे हैं। अर्थात् जब अच्छे लोगों की बुद्धि बिगड़ती है तब कुल में अनिष्ट होता है ॥ १६ ॥

“प्रायः समापन्न विपत्तिकाले  
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति”  
अथवा

जाको प्रभु दासुन दुःख देर्हीं ।  
ता कर मति पहिले हर लेर्हीं ॥

न हि किञ्चिदयुक्तं<sup>१</sup> वा विप्रियं<sup>२</sup> वा पुरा मम ।  
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्धाम्यहम् ॥२०॥

यदि तुझे भूत प्रेत की वाधा न होती अथवा किसी ग्रह की बुरी दशा की पीड़ा न होती तो ऐसी लोकविरुद्ध और हमारे प्रतिकूल बात जैसी कि तूने पहले कभी नहीं कही थी, इस समय न कहती। इससे हमें विश्वास नहीं होता कि, तुझे भूतवाधा नहीं है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।  
बहुशो हि सुवाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

हे वाले ! तू तो हम से बहुधा यही कहा करती थी कि, तुझे भरत के समान ही श्रीरामचन्द्र प्रिय हैं अर्थात् तू भरत और श्रीराम में कुछ भी भेद नहीं समझती ॥ २१ ॥

१ अयुक्तं—लोकविरुद्धम् । (गो०) २ विप्रियं—प्रतिकूलं अयुक्तं । (वि०)

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।

कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

हे देवि ! उसी महात्मा और यशस्वी श्रीरामचन्द्र का चौदह वर्ष तक बन में रहने (का वर माँगना) तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥ २२ ॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।

कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

धर्मात्मा एवं अत्यन्त सुकुमार श्रीरामचन्द्र का अत्यन्त कठोर (अर्थात् १४ वर्ष के लिये) बनबास तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।

तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

हे शुभलोचने ! लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र का जो तेरी सेवा किया करते हैं, घर से निकालना तुझे कैसे अच्छा लगता है ॥ २४ ॥

रामेऽपि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।

विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

फिर, भरत को अपेक्षा श्रीरामचन्द्र सदा तेरी सेवा अविक किया करते हैं। श्रीरामचन्द्र से अधिक भरत की तुझमें भक्ति है, हमें तो ऐसा नहीं जान पड़ता ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं॑ चैव प्रमाणं॒ वचनक्रियाम्॑ ।

कस्ते भूयस्तरां॑ कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात् ॥ २६ ॥

१ गौरवं—प्रतिपत्तिः । (गो०) बहुमानं । (वि०) २ प्रमाणं—पूजा (गो०)

३ वचनक्रियाम्—उक्तकरणं । (वि०) ४ भूयस्तरं—अत्यन्तम् । (वि०)

ज़रा विचार तो श्रीरामचन्द्र को छोड़ और कौन तेरी इतनी अधिक सेवा, सम्मान और आङ्गापालन करेगा ? ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।  
परिवादोऽपवादा वा राघवे नोपपद्धते<sup>१</sup> ॥ २७ ॥

अन्तःपुर में बहुत सी लियाँ और अनेक नौकर चाकर हैं, किन्तु उनमें से एक के भी मुख से श्रीरामचन्द्र की बुराई या निन्दा कभी नहीं सुनी ॥ २७ ॥

सान्त्वयन्सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।  
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः<sup>२</sup> ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र शुद्ध मन से प्राणीमात्र को सान्त्वना प्रदान करते हैं और अपनी प्रजा के लोगों को अपने वश में रखते हैं या सब का मन अपनी मुढ़ी में किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन<sup>३</sup> लोकां ज्ञयति दीनान्दानेन राघवः ।  
गुरुञ्जशुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र प्राणीमात्र के हित में निरत रहने से स्वर्गादि लोकों को और अपनी उदारता से दीनदुखियों को और दान से ब्राह्मणों को अपने वशीभूत किये हुए हैं। इसी प्रकार उन्होंने गुरुजनों को सेवा से और धनुर्धारी शत्रुओं को युद्धभूमि में धनुष द्वारा अपने वश में कर रखा है ॥ २९ ॥

<sup>१</sup> नोपपद्धते—नविद्धते । ( वि० ) <sup>२</sup> प्रियै—अभीष्ट प्रदानैः । ( गो० )

<sup>३</sup> विषयवासिनः—स्वदेशस्थानजनान् । ( वि० ) <sup>४</sup> सत्येन—भूतहितेन । ( गो० ) <sup>५</sup> लोकान्—स्वर्गादि वैकुण्ठ पर्यन्तान् । ( गो० )

सत्यं<sup>१</sup> दानं<sup>२</sup> तपः<sup>३</sup>त्यागो<sup>४</sup> मित्रता<sup>५</sup> शौचं<sup>६</sup>मार्जवम्<sup>७</sup> ।  
विद्या<sup>८</sup> च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

सत्य, ( सत्यभाषण ) दान, ( परलोक प्रयोजन सम्बन्धी ) तप, ( शास्त्रविहित भोजन करना—जिह्वा के स्वाद के लिये खाते समय भद्याभद्य का विचार रखना ) मैत्री, ( सब लोगों की हितकामना ) शौच, ( बाहिर भीतर की पवित्रता ) आर्जव, ( दूसरे के मन के अनुसार चलने वाले ) विद्या, ( तत्वज्ञान ) गुरुशुश्रूषा, आदि सद्गुण श्रीरामचन्द्र में निश्चय ही विद्यमान हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम् ।  
पापंमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

हे देवी ! जो श्रीरामचन्द्र सब के मन को देख कर काम करने वाले हैं, जो महर्षियों और देवताओं के समान तेजस्वी हैं, उन श्रीरामचन्द्र को तू वनवास का क्लेश देना चाहती है ! ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः ।  
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

जो श्रीरामचन्द्र कभी किसी से अप्रियवचन नहीं बोलते, हम तेरे कहने से क्यों कर उन प्राणों से बढ़ कर प्यारे श्रीराम से यह

१ सत्यं—सत्यवचनं । ( वि० ) २ दानं—परलोकप्रयोजनं । ( गो० )  
३ तपःशास्त्रविहित भोजनानिवृत्यादिरूपः । ( गो० ) ४ त्यागः—ऐहिकप्रयोजनः  
प्रीत्यर्थ । ( गो० ) ५ मित्रता—सर्वसुद्धत्व । ( गो० ) ६ शौचं—वाह्य-  
भ्यन्तरशुद्धिः । ( वि० ) ७ आर्जव—परिचितानुवर्तित्वं । ( गो० )  
८ विद्या—तत्व-ज्ञानं । ( गो० ) ९ पापं—वनवासदुखं ( वि० ) ।

अप्रियवचन कह सकते हैं। कहना तो जहाँ तहाँ रहा हम तो अपने मन में भी ऐसी बात की कल्पना नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

क्षमा यस्मिन्दमस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता ।

अविहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में क्षमा, दम, त्याग, सत्यभाषण, धार्मिकता, कृतज्ञता, प्राणिमात्र में अहिंसा का भाव; जैसे ( अलौकिक ) सद्गुण विद्यमान हैं, उन श्रीराम के विना हमारी क्या दशा होगी— ( ज़रा इस बात को तो अपने मन से पूँछ देख ) ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः<sup>१</sup> ।

दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

हे कैकेयी ! हम बूढ़े हैं। हमारा अन्त समय अब निकट आ चुका है। हमारी इस समय शोच्य अवस्था है, और हम तेरे सामने गिङ्गिङ्गा रहे हैं। हमारे ऊपर दया ( रहम ) कर। ( अर्थात् श्रीराम-चन्द्र जी के बनवास का हठ छोड़ दे । ) ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत्किञ्चिदधिगम्यते ।

तत्सर्वं तव दास्यामि मा च त्वां मन्युराविशेत् ॥ ३५ ॥

इस समुद्र से घिरी हुई पृथिवी के भीतर जो कुछ है—हम वह सब तुझे देने को तैयार हैं, हमें तू मृत्यु के मुख में मत ढकैल ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते ।

शरणं<sup>२</sup> भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

१ तपस्विनः—शोचनीयावस्थस्य । ( गो० ) २ शरण—रक्षित् ।

हे कैकेयी ! हम तेरे हाथ जोड़ते हैं, पैरों पड़ते हैं, तू रामचन्द्र की रक्षक बन और हमें प्रतिज्ञाभद्र के पाप से बचा ॥ ३६ ॥

इति दुःखाभिसन्तसं विलपन्तमचेतनम् ।

धूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिष्टुतम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार शोक से सन्तस महाराज दशरथ जी विलाप करते करते अचेत ( मूळिकत ) हो गये । उनका सारा शरीर धूमने लगा और वे शोक से विकल हो गये ॥ ३७ ॥

पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः ।

प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

उन्होंने इस शोकसागर के शीघ्र पार होने के लिये बार बार प्रार्थना की ; किन्तु दुष्टा कैकेयी (ने उन पर दया न की, अधिक वह) और भी अधिक कठोरता पूर्ण वचन देली ॥ ३८ ॥

यदि दत्वा वरौ राजन्पुनः प्रत्यनुतप्यसे ।

धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

हे राजन ! यदि तुम वर दे कर, उनके लिये अब पछताते हो, तो हे वीर ! तुम्हें संसार में कौन धार्मिक कहेगा ॥ ३९ ॥

यदा समेता वहवस्त्वया राजर्षयः सह ।

कथयिष्यन्ति धर्मज्ञास्तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

जब अनेक राजर्षि तुम्हारे पास आ, इस वरदान के सम्बन्ध में तुमसे पूँछेंगे ; तब है धर्मज्ञ ! उनके प्रश्न का तुम क्या उत्तर दोगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रयत्ने जीवामि या च मामभ्यपालयत् ।

तस्याः कृतं मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि ॥४१॥

उनके प्रश्न के उत्तर में तब तुमको यही न कहना पड़ेगा कि, जिसकी कृपा से मेरी जान बची अथवा इस समय भी जीता जागता मौजूद हूँ और जिसने कठिन समय में मेरी बड़ी सेवा की उसी कैकेयी को वर देने का वचन दे कर भी, मैंने वर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

किलिष्पत्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप ।

यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

मैं जान गयी, तुम इद्वाकुकुल के यशस्वी राजाओं के यश को कलङ्कित करोगे, क्योंकि वर देने को प्रतिज्ञा कर के, अब तुम अपनी उस प्रतिज्ञा को पलट रहे हो ॥ ४२ ॥

शैव्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ ।

अलर्कश्वक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

देखो, तुम्हारे ही वंश में राजा शैव्य हो गये हैं, जिन्होंने ( अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिये ) बाज पक्षी को अपने शरीर का माँस तक दे, कबूतर की प्राण रक्षा की थी । दूसरे राजा अलर्क हो गये हैं, जिन्होंने अपने नेत्र निकाल कर, एक अंधे ब्राह्मण को दे दिये थे, जिससे उनको सद्गति प्राप्त हुई थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं<sup>१</sup> कृत्वा न वेलामतिवर्तते ।

समयं माऽनृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

( मनुष्य तो मनुष्य ) समुद्र भी वचनबद्ध होने के कारण  
अपने तट के आगे नहीं बढ़ता । अतएव तुम भी पहली बातों को  
स्मरण कर, अपनी प्रतिज्ञा को झूठी मत करा ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च ।

सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

हे दुष्टात्मा राजन् ! इस समय तेरी बुद्धि बिगड़ गयी है ।  
इसीसे तू सत्य का अनादर कर के, राम को राज्य इसलिये दे रहा  
है कि, जिससे तू नित्य उनकी माता कौशल्या के साथ विहार  
करे ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।

यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

अब चाहे धर्म हो चाहे अधर्म, चाहे सत्य हो चाहे मिथ्या,  
तुमने मुझसे जो प्रतिज्ञा की है, वह तुम्हें पुरी करनी हो जाएगी ।  
उसमें अब हेरफेर कुछ भी नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः ।

पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

और यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करोगे और रामचन्द्र  
ही को राज्य दे दोगे, तो बहुत सा हलाहल विष पी कर, मैं तुम्हारे  
सामने ही अपनी जान दे दूँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम् ।

अञ्जलिं प्रतिशृङ्खल्न्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

यदि मैंने किसी दिन भी ( राजमाता होने के कारण ) कौशल्या को क्षेगों का प्रणाम ग्रहण करते देखा, तो फिर मैं अपने शरीर को न रखूँगी अर्थात् तुरन्त मर जाऊँगी ॥ ४८ ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।

यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

हे नरेन्द्र ! मैं अपनी और भरत की शपथ खा कर तुमसे कहती हूँ कि मैं राम का बन में भेजे बिना और किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं हो सकती ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विराम ह ।

विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

यह कह कैकेयी चुप हो गयी और चिलाप करते हुए महाराज दशरथ से और कुछ भी न बोली अर्थात् उसने दशरथ की अन्य युक्तियों पर जो श्रीरामचन्द्र जी वा बन में न भेजने के लिये उन्होंने दर्शत की थीं, कुछ भी ज्ञान न दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा च राजा कैकेया वाक्यं परमदारुणम् ।

रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥

कैकेयी को इन कठोर बातों को सुन, महाराज दशरथ को निश्चय हो गया कि, कैकेयी सचमुच श्रीरामचन्द्र जी का वनवास और भरत का राज्याभिषेक चाहती है ॥ ५१ ॥

नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः ।

प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

वे कैकेयी से बोले तो कुछ नहीं ; किन्तु चिकिल हो एक घड़ी तक अपनी प्रिया किन्तु अप्रियवादिनी कैकेयी के मुख को इकट्ठक निहारते रहे ॥ ५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम् ।

दुःखशोकमयीं धोरां राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

कैकेयी के मुख से वज्र के समान हृदय को दहलाने वाली और दुःख शोक उत्पन्न करने वाली भयङ्कर वाणी को सुन, महाराज दशरथ सुखी न हुए ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं<sup>१</sup> च धोरां च शपथं कृतम् ।

ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥

कैकेयी का श्रीरामचन्द्र जी को बन में भेजने का भयङ्कर निश्चय और उसकी शपथ को स्मरण कर, महाराज दशरथ ने “हा राम ! हा राम !!” कह कर, ऊँची साँत्र ली और जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह वे ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथात्तुरः ।

हततेजा यथा सर्पे वभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उस समय महाराज पागल की तरह नष्टचित्त, सन्निपातादि रोगों से ग्रस्त रोगी की तरह, विपरीत बुद्धि और मन्त्रमुग्ध सर्प की तरह, हततेज हो गये ॥ ५५ ॥

दीनया तु गिरा राजा इति होवाच कैकयीम् ।

अनर्थमिमर्थाभं केन त्वमुपदर्शिता ॥ ५६ ॥

<sup>१</sup> व्यवसायं—रामविवासनविषयंनिश्चयं । ( वि० )

महाराज ने गिङ्गिङ्गा कर कैकेयी से कहा—तुझे किसने इस अनर्थ भरी बात को अर्थ के रूप में समझाया है । अर्थात् जिस काम के करने से सरासर नुकसान है, उसमें लाभ का होना तुझे किसने समझाया है ? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे ।

शीलव्यसनमेतत्ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

प्रेतग्रस्त मनुष्य को तरह हमसे बातचीत करते तुझे लज्जा नहीं जान पड़ती ? हम पहले यह नहीं जानते थे कि, तू ऐसी दुःशीला है और तेरी ऐसी करतूतें हैं ॥ ५७ ॥

बालायास्तत्त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत् ।

कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥

बाल्यावस्था में तो तेरा स्वभाव इस समय के स्वभाव से सर्वथा विपरीत था । तुझे ऐसा भय कैसे उत्पन्न हुआ, जो तू ऐसा बर माँगती है कि, ॥ ५८ ॥

राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने ।

विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन वा ॥ ५९ ॥

भरत राजसिंहासन पर और श्रीरामचन्द्र वन में जाय । वस, अब हठ छोड़ दे और ऐसी भूठो बातें मुँह से मत निकाल ॥ ५९ ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च ।

नृशंसे पापसङ्कल्पे भुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

अरी नृशंसे, अरी पापिन ! अरी ओँके स्वभाव बाली ! अरी कुकर्मिन् ! यदि प्रजा की, अपने पुत्र भरत की और हमारी भलाई चाहती हो तो, हठ मत कर ॥ ६० ॥

किन्तु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।  
न कथंचिद्हते रामाद्वरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

हमने या श्रीराम ने तेरा कौन सा ऐसा अपराध किया है जो तू ऐसा कहती है । हम समझते हैं कि, श्रीरामचन्द्र के सामने भरत कभी राजगद्दी पर बैठना पसंद ही न करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हितं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।

कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥

क्योंकि हम तो भरत को श्रीरामचन्द्र से भी अधिक धर्मात्मा समझते हैं । हम जब श्रीराम से वन जाने को कहेंगे, तब उनका मुख उदास हो जायगा, उसे हम कैसे देख सकेंगे ॥ ६२ ॥

मुखवर्णं विवर्णं तं यथैवेन्दुमुपल्लुतम् ।

तां हि मे सुकृतां बुद्धिं सुहङ्गिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥

राहु से प्रस्त चन्द्रमा की तरह श्रीरामचन्द्र का उतरा हुआ चेहरा हम कैसे देख सकेंगे ! हम अपने मंत्रियों और हितैषी मित्रों के साथ परामर्श कर जो निश्चय कर चुके हैं ॥ ६३ ॥

कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ॥ ६४ ॥

उसका बदल जाना, शत्रु से मारी हुई सेना की तरह, हम कैसे देख सकेंगे । फिर देश देशान्तरों से आये हुए राजा लोग सर्व-सम्मति से निश्चित हुए मन्तव्य के विरुद्ध काम होते देख, हमसे क्या कहेंगे ? ॥ ६४ ॥

बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।

यदा तु वहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥

यही न कहेंगे कि, इक्ष्वाकुवंशधर दशरथ निपट बालबुद्धि का है, श्राश्वर्य है इतने दिनों तक इसने राज्य किस प्रकार किया। फिर जब अनेक बूढ़े गुणवान् और शाखामर्मज्ज ॥ ६५ ॥

परिपक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामि किमहं तदा ।

कैकेया क्लिश्यमानेन<sup>१</sup> रामः प्रत्राजितो मया ॥ ६६ ॥

हमसे पूँछेंगे कि, “श्रीरामचन्द्र कहा गये ?” तब हम उनको क्या उत्तर देंगे ? क्या हमारा उनके प्रश्न के उत्तर में यह कहना अच्छा होगा कि, कैकेयी के सताने पर हमने श्रीरामचन्द्र को घर से निकाल दिया ॥ ६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ।

किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥

यदि हम यह सच्ची बात प्रकट कर देंगे तो हमारा वह निश्चय, जो हमने वशिष्ठ वामदेवादि गुरुजनों के समक्ष श्रीरामचन्द्र को युवराजपद पर अभिषिक्त करने के लिये किया है, झूठा हो जायगा। श्रीरामचन्द्र को वनवास देने पर उसकी माता कौशल्या हमसे क्या कहेगी ? ॥ ६७ ॥

किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।

यदा यदा च कौसल्या दासीवच्च सखीव च ॥ ६८ ॥

<sup>१</sup> क्लिश्यमानेन — पीड़्यमानेन । ( वि० )

और हम ही ऐसा अनिष्ट कार्य कर कौशल्या को क्या उत्तर दे सकेंगे ? हे कैकेयी ! देख, जब समय समय पर कौशल्या, जो सेवा करने में दासी के समान, रहस्य करने में सखी के समान, ॥ ६८ ॥

भार्यावद्धगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठुति ।  
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥

धर्मकृत्यों में खी के समान, हितैषिता में सगी वहिन के समान, आग्रहपूर्वक सुस्वाद भोजन करने में माता के समान है, जो सदा हमसे मधुर वचन बोलती है और हमारा भला चाहती है और जिसका पुत्र भी हमको सब से अधिक प्रिय है ॥ ६९ ॥

न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।  
इदानीं तत्पति मां यन्मया सुकृतं<sup>१</sup> त्वयि ॥ ७० ॥

हमारे पास आयी, तब तब हमने, तेरे विचार से ( कि, कहीं तू अग्रसन्न न हो जाय ) सत्कार करने योग्य उस कौशल्या का यथोचित आदर न किया । तेरे प्रति हमने जो यह सदृश्यवहार किया था, उसका आज्ञ हमें उसी प्रकार पश्चात्ताप हो रहा है ; ॥ ७० ॥

अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्मिवातुरम् ।  
विप्रकारं<sup>२</sup> च रामस्य संप्रयाणं वृनस्य च ॥ ७१ ॥

<sup>१</sup> सुकृतं—सुखूपचरितं । ( गा० ) <sup>२</sup> विप्रकारं—विपूरीत प्रकारं, अभिवेक्तिरस्कारं । ( गो० )

जिस प्रकार स्वाद किन्तु कुपथ्य भोजन कर रोगी को पश्चात्ताप होता है। श्रीरामचन्द्र का इस प्रकार का तिरस्कार और उनका वनगमन ॥ ७१ ॥

सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।

कृपणं<sup>१</sup> वत् वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥

देख कर डरी हुई सुमित्रा को ( भी अपने पुत्रों के विषय में ) हमारा विश्वास कैसे होगा ? बड़े ही दुःख की बात है कि, वैदेही को ये दो अप्रिय संवाद सुनने पड़ेंगे ॥ ७२ ॥

मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।

वैदेही वत<sup>२</sup> मे प्राणाञ्जोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥

बड़े ही खेद की बात है कि, जानकी हमारी मृत्यु का और श्रीरामचन्द्र के वनवासी होने का संवाद सुन, इन बातों की चिन्ता में अपने प्राण वैसे ही गँवा देगी ॥ ७३ ॥

हीना हिमवतः पाश्वे किन्नरेणेव किन्नरी ।

न हि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥

जैसे हिमालय के पास किन्नररहित किन्नरी अपने प्राण गँवा देती है। हम श्रीरामचन्द्र को वन जाते ॥ ७४ ॥

चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।

सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

और जानकी जी को रोती देख बहुत दिनों सक नहीं जी सकते। तब तू विधवा हो कर, अपने पुत्र सहित राज्यसुखं खोगना ॥ ७५ ॥

<sup>१</sup> कृपण—कष्टं । ( वि० ) <sup>२</sup> वतेतिखेदे । ( वि० )

न हि प्रत्राजिते रामे देवि जीवितुमुत्सहे ।

सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ॥ ७६ ॥

रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ।

अनृतैर्बत मां सान्त्वयैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ॥ ७७ ॥

हे देवि ! (खूब समझ ले ) श्रीराम जी के बन जाने पर हमें जीने का उत्साह नहीं है । लोग जिस प्रकार शराब के मोहिनी रूप पर मोहित हो उसे पी तो लेते हैं, किन्तु पीछे उसका विष सदृश परिणाम होने पर वे उसे बुरी समझने लगते हैं, उसी प्रकार हम तेरे रूप पर मोहित हो कर, तुझे सती समझ तेरे साथ रहे, किन्तु अब हम समझ गये कि, तू व्यवहार करने में किसी असती से कम नहीं है । तुने हमें झूँठी बातें कह उसी प्रकार खूब भरमाया ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

गीतशब्देन संरुद्धय लुब्धो मृगमिवावधीः ।

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायिकं ध्रुवम् ॥ ७८ ॥

धिक्करिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ।

अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ॥ ७९ ॥

जिस प्रकार बहेलिंया गीत गा कर, हिरन को अपने जाल में फँसाता है । हा ! श्रेष्ठ पुरुष अब हमको अनार्य और पुत्र का बैचने वाला बतला, हमारी उसी प्रकार गलो गलो निन्दा करेंगे, जिस प्रकार लोग मद्यप ब्राह्मण की किया करते हैं । हा ! बड़े ही कष्ट की बात है कि, हमें तेरे ये कठोर बचन सुनने पड़ते हैं ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुराकृतमिवाशुभम् ।

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ॥ ८० ॥

इस समय हमें वैसे ही इस प्रकार का दुःख भोगना पड़ रहा है जैसे लोग पूर्वजन्म के पापों का फल भोगते हैं। हे पापिन ! हम जैसे पापों ने बहुत दिनों तक उसी प्रकार तेरी रक्षा की ॥ ८० ॥

अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्धन्धनी यथा ।

रममाणस्त्वया सार्थं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ॥ ८१ ॥

जैसे कोई अनज्ञान में अपने गले की फाँसी की रक्षा करता है। तेरे साथ विहार करते हुए, उसी प्रकार हम यह न पहचान पाये कि, तू हमारी साज्जात् मौत है ; ॥ ८१ ॥

बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ।

मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

जिस प्रकार एकान्त में कोई बालक काले सांप के साथ खेलता हुआ, उसे अपनी मौत नहीं पहचानता। हमसे बढ़ कर दुष्ट कौन होगा जो अपने जीते जी, अपने महात्मा पुत्र को पितृहीन कर डाले ॥ ८२ ॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुर्मर्हति ।

बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ॥ ८३ ॥

अवश्य ही सारी दुनियाँ यह कह कर, हमारी निन्दा करेगी कि, राजा दशरथ बड़ा कामी और मूर्ख है, ॥ ८३ ॥

स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ।

व्रतैश्च<sup>१</sup> ब्रह्मचर्यैश्च<sup>२</sup> गुरुभिश्चोपकर्शितः ॥ ८४ ॥

जो स्त्री के कहने से अपने प्यारे पुत्र को वन मेज रहा है । श्री-रामचन्द्र ब्रह्मचर्यैवस्था में मधु मासादि खाने का निषेध होने के कारण ब्रह्मचर्योपयोगो व्रतादि धारण करने के कारण तथा गुरुओं से विद्याच्छयन करते समय परिश्रम करने के कारण वैसे ही लटे दुबले थे ॥ ८४ ॥

भोगकाले<sup>३</sup> महत्कृच्छ्रुं पुनरेव प्रपत्स्यते ।

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ॥ ८५ ॥

स वनं प्रत्रजेत्युक्तो वाढमित्येव वक्ष्यति ।

यदि मे राघवः कुर्याद्वनं गच्छेति भाषितः ॥ ८६ ॥

प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ।

शुद्धभावो<sup>४</sup> हि भावं<sup>५</sup> मे न तु ज्ञास्यति राघवः ॥ ८७ ॥

अब गृहस्थाश्रम में, जब उनके शरीर के हृष्ट पुष्ट होने का समय आया, तब भी उन्हें फिर बड़े बड़े शारीरिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा । हम अच्छी तरह जानते हैं कि, जब हम उनसे वन जाने को कहेंगे, तब वे सिवाय “वहुत अच्छा” कहने के और कुछ न कहेंगे, किन्तु यदि कहीं वन जाने की आज्ञा सुन वे वन न जाँय तो बहुत अच्छा हो । पर हमारा प्यारा बच्चा ऐसा

१ व्रतैः—काण्डव्रतैः । ( गो० ) २ ब्रह्मचर्यैः—मधुमासवर्जनादि ब्रह्मचारिधर्मैः । ( गो० ) ३ गुरुभिः—गुरुकृतशिक्षादिभिः । ( गो० ) ४ भोगकाले गार्हस्थ्यवस्थायाम् । ( गो० ) ५ शुद्धभावः—शुद्धहृदयः । ( गो० ) ६ भावं—हृदयं । ( गो० )

कभी न करेगा । हमारे अभिप्राय को न जान कर और हमारी कही बात को हमारे शुद्ध हृदय से निकली समझ, वह तुरन्त तदनुसार करेगा ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥

स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बादमित्येव वक्ष्यति ।

राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ॥ ८८ ॥

और वन जाने के लिये कहते हो वह “बहुत अच्छा” ही कहेंगा । श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर सब लोग मुझे धिक्कारेंगे ॥ ८८ ॥

मृत्युरक्षमणीयं मां नविष्यति यमक्षयम् ।

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ॥ ८९ ॥

और किसी को न छोड़ने वाले मृत्युदेव हमें यमपुरी में ले जायगे । फिर जब हम मर जायगे और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन में चले जायगे ॥ ८९ ॥

इष्टे मम जने शेषे<sup>१</sup> किं पापं<sup>२</sup> प्रतिपत्त्यसे<sup>३</sup> ।

कौसल्यां मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ॥ ९० ॥

तब कौशल्यादि बचे हुए हमारे इष्ट लोगों के साथ न जाने तू क्या क्या अन्याय करेगी । जब हमको और श्रीराम अथवा श्रीराम लक्ष्मण को कौशल्यादेवी न देखेगी ॥ ९० ॥

दुःखान्यसहती देवी मामेवानुमरिष्यति ।

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ॥ ९१ ॥

<sup>१</sup> शेषे—कौसल्यादौ । (गो०) <sup>२</sup> किंपापं—कमन्यायं । (गो०)

<sup>३</sup> प्रतिपत्त्यसे—चिन्तयिष्यसि । (गो०)

प्रक्षिप्य नरके<sup>१</sup> सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ।  
 मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं<sup>२</sup> सत्कृतं गुणैः ॥ ९२ ॥  
 इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ।  
 प्रियं चेद्ग्रतस्यैतद्रामप्रव्राजनं भवेत् ॥ ९३ ॥

तब इस वियोगजनित शोक को न सह कर, वह हमारे साथ ही प्राण छोड़ देगी । हे कैकेयी ! हमें, कौशल्या की, सुमित्रा को और तीनों पुत्रों को दुःख में ढकेल तू सुखी हो । इस इक्ष्वाकु-कुल का, जिसे हम और श्रीरामचन्द्र छोड़ जायगे और जो बहुतकाल से बराबर ज्ञोभहीन चला आ रहा है, तू विना ज्ञुञ्ज्य किये पालन कर सकेगी (यह व्यङ्ग्योक्ति है) । यदि श्रीरामचन्द्र का वन को जाना भरत को भी प्रिय लगे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

मा स्य मे भरतः कार्षीत्प्रेतकृत्यं गतायुषः ।  
 हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा भव कैकयि ॥ ९४ ॥

तो जब हम मरें तब भरत हमारे शरीर की प्रेतक्रिया (दाह-कर्मादि) न करे । हे दुष्टे ! हे वैरिन कैकेयी ! तू सफल मनोरथ हो ॥ ६४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्ग्वे ।  
 सेदार्नीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९५ ॥

जब हम मर जाय और पुरुष श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र वन को चले जाय तब तू रांड़ हो कर अपने बेटे को ले कर राज्य करना ॥ ६५ ॥

---

<sup>१</sup> नरके—दुःखे । (वि०) <sup>२</sup> शाश्वतं—बहुकालकम् । (शि०)

त्वं राजपुत्रीवादेन<sup>१</sup> न्यवसो मम वेशमनि ।

अकीर्तिंश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ॥ ९६ ॥

सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ।

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ॥ ९७ ॥

तू केवल कथनमात्र की राजपुत्री हो कर हमारे घर में रहती है ।  
( यदि तू सच्ची राजपुत्री होती तो ) तेरे कारण तो संसार में हमारी अतुल अपकीर्ति और सब लोगों के सामने पापियों की तरह हमारी अवज्ञा होने का यह समय कभी न आता । हाँ ! जो श्रीरामचन्द्र रथ, धोड़े, हाथी आदि वाहनों पर चढ़ के सदा धूमते थे ; किस प्रकार वे ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

पद्मचां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ।

यस्य त्वाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ॥ ९८ ॥

हमारे पुत्र श्रीराम विकट वन में पैदल विचरेंगे । जिन श्रीराम-चन्द्र को भोजन कराने के लिये कुण्डल पहिने हुए रसोइया आपस में यह कह कर कि, ॥ ६८ ॥

अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रशस्तं पानभोजनम् ।

स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ॥९९॥

“ हम पहले, हम पहले स्वादिष्ट भोजन और जलपान बनाते हैं ”, रसोई तैयार करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जंगल के कषेले, तीते और कटुए ॥ ६६ ॥

१ वादेन—व्यपदेशेन । ( गो० ) २ विभुः—समर्थोरामः । ( शि० )

भक्षयन्वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ।

महार्हवस्त्रसंवीतो भूत्वा चिरमुखोषितः ॥ १०० ॥

फलमूल का आहार कर कैसे समय बितावेंगे । जो श्रीरामचन्द्र चिरकाल से अच्छे मूल्यवान वस्त्र धारण करते रहे हैं और मुलायम बिक्रौनों पर सोते रहे हैं ॥ १०० ॥

काषायपरिधानस्तु कथं भूमौ निवत्स्यति ।

कस्यैतदारुणं वाक्यमेवंविधमचिन्तितम् ।

रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ १०१ ॥

वे श्रीरामचन्द्र काषाय वस्त्र पहिन क्यों कर ज़मीन पर सो सकेंगे । नहीं जान पड़ता कि, किस दुष्ट ने श्रीराम के बन जाने और भरत के राज्याभिषेक का दारुण उपदेश तुझको दिया है ॥ १०१ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपराः सदा ।

न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥ १०२ ॥

धिकार है स्त्रियों को जो धूर्त और सदा अपने मतलब में निपुण होती हैं अथवा जो स्वार्थतत्पर होती हैं । हमारा यह कथन सब स्त्रियों के लिये नहीं, किन्तु केवल भरत की माता जैसी स्त्रियों ही के लिये है ॥ १०२ ॥

[नोट—कई टीकाकारों ने इस श्लोक का अर्थ करते हुए लिखा है कि, दशरथ ने पहिले दुःख एवं क्षोम के कारण सब स्त्रियों की निनदा की, किन्तु पीछे जब उनको कौशल्या आदि का समरण आया तब उन्होंने अपने प्रथमकथन का भरत की माता का विशेष रूप से उल्लेख कर, संशोधन कर दिया । किन्तु ; शिरोमणि टीकाकार का कथन है कि, “ भरतस्य मातरमेव

न व्रवीमि ( किन्तु ) सर्वा व्रवीमि इत्यर्थः ॥ अर्थात् खियां के सम्बन्ध में हमने जो कहा है वह केवल भरत की माता ही के लिये नहीं, किन्तु समस्त खियों ही के लिये है । हमारी समझ में महाराज दशरथ का उक्त कथन वन सभी खियों के लिये है जो भरत की माता कैकेयी की तरह दूसरों की बातों में आ कर, हठवश विवेक को बिदा कर देती हैं और अपने मतलब के सामने दूसरों की हानि की रक्ती भर भी परवाह नहीं करतीं । ]

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे  
ममानुतापाय निविष्टभावे ।  
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं  
हितानुकारिण्यथ वापि रामे ॥ १०३ ॥

अनर्थ करने वाली और अपने ही अर्थ के साधन में, सदा तत्पर रहने के कारण नीच स्वभाव की है कैकेयी ! क्या हमें दुःख देने के लिये ही तू हमारे घर आयी है । यह तो बतला हमें अथवा दुनियाँ के हित चाहने वाले श्रीरामचन्द्र में तैने क्या बुराई देखी ? ॥ १०३ ॥

परित्यजेयुः पितरो हि पुत्रा-  
न्भायाः पर्तींश्चापि कृतानुरागाः ।  
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत्स्याद्  
दृष्टौव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०४ ॥

हे कैकेयी ! श्रीरामचन्द्र के वन के कष्ठों को देख, सारा संसार कुद्ध हो जायगा और उनके साथ वन में रहने के लिये पिता अपने पुत्रों को और पतिव्रता खियां अपने प्यारे पतियों को छोड़

जायेंगी अर्थात् श्रीरामचन्द्र के बन जाने पर संसार में बड़ी उथल पुथल मच जायगी अथवा बड़ा अनर्थ होगा ॥ १०४ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-  
मलंकृतं तं त्रुतमाव्रजन्तम् ।  
नन्दामि पश्यन्नपि दर्शनेन  
भवामि दृष्टा च पुनर्युवेव ॥ १०५ ॥

देवकुमार की तरह रूपवान् और अलड़ारों से युक्त श्रीरामचन्द्र जी का अपने निकट आना सुन कर भी हमें जैसी ही प्रसन्नता प्राप्त होती है जैसी उन्हें अपने नेत्रों से देखने पर । और जब हम उन्हें अपने नेत्रों से देखते हैं तब हमारा मन और शरीर नवीन उत्साह से उत्साहित हो जाते हैं अर्थात् हमारे शरीर में जीवानी का जोश ढां जाता है ॥ १०५ ॥

विनापि सूर्येण भवेत्प्रवृत्ति-  
रवर्षता वज्रधरेण वाऽपि ।  
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य  
जीवेन्न<sup>१</sup> कश्चित्त्विति चेतनामेष्ये ॥ १०६ ॥

सूर्य के उदय न होने से भले ही संसार के यावत् कार्य होते रहें, इन्द्र द्वारा जल न बरसने पर भले ही दुनिया का निर्वाह हो जाय ; किन्तु श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से बन जाते देख, हम निश्चय पूर्वक कहते हैं कि, कोई भी सुखो न होगा ॥ १०६ ॥

विनाशकामामहिताममित्रा-  
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम् ।

<sup>१</sup> जीवेत्—स्वस्यतयातिष्ठेत् । ( शि० ) <sup>२</sup> चेतना—निश्चयः । ( शि० )

चिरं बतांङ्गेन धृतासि सर्पी  
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात् ॥ १०७ ॥

हा ! हमारे विनाश की इच्छा रखने वाली, अनिष्टकारिणी एवं शत्रुरूपिणी तुझे हमने अपने मृत्यु की तरह, घर में बसाया और बहुत दिनों तक, महाविष वाली तुझ सांपिन को, मोहवश अपनी गोद में रखने के कारण ही (आज) हम मारे जाते हैं ॥ १०७ ॥

मया च रामेण च लक्ष्मणेन  
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह ।  
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्  
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी ॥ १०८ ॥

अब तू, श्रीराम लक्ष्मण और हमें तिलाज्जलि दे कर, अपने पुत्र भरत के साथ राज्य करना और हमारे बन्धुवान्धवों, नगरों व देशों को उजाड़ अथवा नष्ट कर हमारे बैरियों को प्रसन्न कर अथवा हमारे बैरियों से प्रीति कर ॥ १०८ ॥

नृशंसवृत्ते॒ व्यसनैप्रहारिणि  
प्रसद्य॑ वाक्यं यदिहाद्य॑ भाषसे ।  
न नाम ते केन मुखात्पतन्त्यधो  
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥ १०९ ॥

१ अभिहर्षिणी—मम अभित्रेषु स्नेहयुक्ता भवेयर्थः । ( वि० ) २ नृशंस-  
वृत्ते—क्रूरव्यापारे । ( गो० ) ३ व्यसनप्रहारिणि—विपदिप्रहरणशीले ।  
( गो० ) ४ प्रसद्य—पतिस्वातन्त्र्यंतिरस्कृत्य । ( गो० ) ५ अद्य—अस्मिन्-  
काले । ( गो० )

अरो कूरकर्मा ! अरो गाज ढाने वाली ! पति के सामने न कहने योग्य बातें कहते समय मुख से गिर कर तेरे दाँतों के हज़ारों ढुकड़े क्यों नहीं हो जाते ॥ १०६ ॥

न किञ्चिदाहाहितमप्रियं वचो  
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।  
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि  
ब्रवीषि दोषान्गुणं नित्यसम्मते ॥ ११० ॥

हमारे श्रीराम ने कभी तुझसे कोई अप्रिय बात नहीं कही—  
और वे कहते ही कैसे, क्योंकि वे तो किसी से अप्रियवचन  
कहना जानते ही नहीं । तब सदा प्रियभाषा, सकल-गुण-सम्पन्न  
ओरामचन्द्र में तू दोषारोपण क्यों करती है ? ॥ ११० ॥

प्रताम्य<sup>१</sup> वा प्रज्वल<sup>२</sup> वा प्रणश्य वा  
सहस्रशो वा स्फुटितार<sup>३</sup> महीं ब्रज ।  
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं  
ममाहितं केक्यराजपांसनि ॥ १११ ॥

अरी केक्य-राज-कुल-कलङ्किनी कैकेयी ! चाहे तू उदास हो,  
चाहे तू कुपित हो, चाहे तू विष खा कर मर जा, अथवा चाहे  
तू पथर से सिर फोड़ डाल, या तू ज़मीन में समा जा, किन्तु  
तेरी इस दारुण बात को, जिसके करने से सरासर हमारा अहित  
है, हम कभी न मानेंगे ॥ १११ ॥

१ प्रताम्य—ग्लानिभज । ( गो० ) २ प्रज्वल—कुपिताभव । ( गो० )

३ स्फुटिता—प्रस्थरादिप्रदारै स्फुटिताशिराः । ( शि० )

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां<sup>१</sup>  
 प्रदुष्टभावां<sup>२</sup> स्वकुलोपघातिनीम् ।  
 न जीवितुं त्वां<sup>३</sup> विषहेऽमनोरमां  
 दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम्<sup>४</sup> ॥ ११२ ॥

क्योंकि तू, छुरे के समान हृदय विदीर्ण करने वाले असत्य, किन्तु मीठे बचन बोलने वाली है, तेरा हृदय दुष्टता से भरा है, तू अपने ही कुल का नाश करने वाली है, तूने हमारे हृदय को प्राणों सहित खूब जलाया है, अतएव तू देखने में स्वरूपवती होने पर भी, अपने इन अवगुणों के कारण भयङ्कर है। हम भी नहीं चाहते कि, ऐसी दुष्टा जीतो रहे (अर्थात् तू जो बार बार मरने की हमें धमकी देतो है सो तुझ जैसी दुष्टा और अनर्थकारिणी का मरना ही हम अच्छा समझते हैं ॥ ११२ ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं  
 विनाऽत्मजेनात्मवतः कृतो रतिः ।  
 ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि  
 स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे ॥ ११३ ॥

श्रीरामचन्द्र विना हम जीवित नहीं रह सकते। फिर सुख और प्रीति की चर्चा ही करनी व्यर्थ है। हे देवि ! देख अब भी मान

१ असत्प्रियंवदां—मिथ्याप्रियवादिनीम् । (गो०) २ प्रदुष्टभावां—प्रकर्षेण दुष्टहृदयाम् । (गो०) ३ नविषहे—नोत्सहे । (रा०) ४ सबन्धनम्—सप्ताणं । (वि०)

जा और हमारा अनिष्ट मत कर । हम तेरे पैरों पड़ते हैं, अब दया कर ॥ ११३ ॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथव-  
त्स्थिया<sup>१</sup> गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया<sup>२</sup> ।  
पपात देव्याश्वरणौ प्रसारिता-  
वुभावसंस्पृश्य यथाऽतुरस्तथा ॥ ११४ ॥  
इति द्वादशः सर्गः ॥

( उस प्रकार धमकाने और खुशामद करने पर भी जब कैकेयी न मानी, तब ) महाराज दशरथ अनाथों के समान गिङ्गिङ्गिते हुए और अपने हृदय को कैकेयों के अधीन कर के उसके चरणों पर वैसे ही गिर कर मूर्च्छित हो गये, जैसे मरणोन्मुख रोगी मूर्च्छिए आ जाने पर, गिर पड़ता है ॥ ११४ ॥

अयोध्याकाशड का बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

त्रयोदशः सर्गः

—:०:—

अतदर्ह<sup>१</sup> महाराजं शयानमतथेाचितम् ।

ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात्परिच्युतम् ॥ १ ॥

१ स्थिया हृदये गृहीतः—तदधीनहृदय इत्यर्थः । ( गो० ) २ अतिमात्रया—अमर्यादया । ( गो० ) भूमिपालोषितां—निग्रहीतुसमर्थइत्यर्थः । ( गो० ) १ अतदर्ह—तादशदुःखानहै । ( गो० )

इस प्रकार अनुचित रीति से ज़मीन पर पड़े हुए महाराज दशरथ ऐसे जान पड़ते थे, मानों पुरुयनाश होने पर राजा यथाति स्वर्ग से गिर कर पड़े हों ॥ १ ॥

अनर्थरूपा<sup>१</sup>सिद्धार्था<sup>२</sup> ह्यभीता भयदर्शिनी ।  
पुनराकारयामास<sup>३</sup> तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥

पापरूपा कैकेयी का प्रयोजन सिद्ध न हुआ तब वह स्वयं निडर हो और महाराज को भय दिलाती हुई, वही वर फिर मांगने के लिये बोली ॥ २ ॥

त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः ।  
मम चेमं वरं कस्माद्विधारयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥

हे महाराज ! तुम तो अपने को सत्यवादी और दृढप्रतिष्ठ बतला कर अपना वखान करते थे, किन्तु वर देने का वादा कर, अब देने में आनाकानी क्यों करते हों ? ॥ ३ ॥

एवमुक्तस्तु कैकेया राजा दशरथस्तदा ।  
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्लन्निव ॥ ४ ॥

कैकेयी के ऐसा कहने पर महाराज दशरथ मुहूर्त भर विकल हो, तदनन्तर क्रुद्ध हो बोले ॥ ४ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।  
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥ ५ ॥

१ अनर्थरूपा—पापरूपा । ( गो० ) २ असिद्धार्था—अनिष्पन्नप्रयोजना । ( गो० ) ३ आकारयामास—सम्बोधयामास । ( गो० )

हे पापिन ! हमारे मर जाने के बाद और पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वन जाने पर, सुखी हो कर तू अपनी सब मनोकामनाएँ पूरी कर ॥ ५ ॥

स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।

प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कर्थं बत ॥ ६ ॥

स्वर्ग में भी जब देवता श्रीराम की कुशल पूँछेंगे और ( हमारे यह कहने पर कि, हमने श्रीरामचन्द्र जैसे गुणवान् पुत्र को वनवास दिया, जब वे ) धिक्कारेंगे, तब हम अपना यह अपमान वहाँ कैसे सह सकेंगे ॥ ६ ॥

कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रत्राजितो मया ।

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत्तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥

और धिक्कार से बचने के लिये यदि हम यह कहेंगे कि, “कैकेयी को प्रसन्न रखने के लिये हमने श्रीरामचन्द्र को वनवास दिया ; ” तो हमारी इस बात पर कोई भी देवता विश्वास न करेगा और हम फूठे समझे जायगे ॥ ७ ॥

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।

रामो लब्धो महावाहुः स कर्थं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥

बहुत दिनों तक निःपुत्र रह कर, बड़े कष्टों से तो हमें पुत्र मिले—सो महावाहु श्रीरामचन्द्र को भला हम कैसे त्यागें ? ॥ ८ ॥

? प्रत्यादेशादभिहितं—धिक्कारपूर्वमभिहितं । ( गो० ) २ धारयिष्ये-  
सहिष्ये । ( गो० )

शूरश्च कुतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।

कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥

शूर, विद्वान्, शान्त स्वभाव, और सहिष्णु क्षमतनयन श्रीराम को हम किस तरह देशनिकाला दें ॥ १० ॥

कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घवाहुं महावलम् ।

अभिराममहं रामं प्रेषयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥

नीलकमल की तरह श्याम शरीर वाले, लंबी भुजाओं वाले तथा सुन्दर श्रीरामचन्द्र को क्या हम दण्डकवन में भेज सकते हैं? ॥ १० ॥

सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।

दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र सुखों के योग्य और दुःखों के अयोग्य हैं, उन बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र को हम दुःखों कैसे देख सकते हैं? ॥ ११ ॥

यदि दुःखमकुत्वाद्य पम संक्रमणं<sup>१</sup> भवेत् ।

अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥

दुःख सहने के सर्वथा अयोग्य श्रीराम के दुःख को हम विना देखे ही मर जाते तो हमें स्वर्ग में तो सुख मिलता ॥ १२ ॥

नृशंसे पापसङ्कल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।

किं विप्रियेण<sup>२</sup> कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥

१ संक्रमण—देहान्तरं । (गो०) २ विप्रियेण—दण्डकारण्यगमनेन ।

हे निर्दियन् ! हे पापिन कैकेयी ! तू हमारे प्यारे और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र को किस लिये हमसे वन भिजवाती है ॥ १३ ॥

अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवः परिभूवश्च मे ।

तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥

ऐसा करने से दुनिया में हमारी बड़ी निन्दा और बद्नामी होगी । इस प्रकार महाराज दशरथ को घबड़ाते और विलाप करते करते ॥ १४ ॥

अस्तमभ्यागमत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।

साऽत्रियामा तथाऽर्तस्य चन्द्रमण्डलपण्डिता ॥ १५ ॥

सन्ध्या हो गयी और रात चढ़ने लगी । रात चाँदनी होने पर भी दुःखित महाराज को ॥ १५ ॥

राजो विलपतस्तस्य न व्यभासत शर्वरी ।

तथैवोष्णं विनिश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥

अंत्यन्त विलाप करने के कारण, वह रात आनन्ददायिनी न हुई । वृद्ध महाराज दशरथ बारबार गरम सांसे ले ॥ १६ ॥

विललापार्तवद्दुःखं गगनासक्तलोचनः ।

न प्रभातं तवेच्छामि निशे नक्षत्रभूषणे ॥ १७ ॥

दुखिया की तरह दुःखी हो विलाप करने लगे । उनकी आँखें आकाश की ओर जा लगीं अर्थात् वे आकाश को निहारने लगे और कहने लगे—हे नक्षत्रों से भूषित निशे ! हम तेरा प्रभात-काल नहीं चाहते ॥ १७ ॥

क्रियतां मे दया भद्रे रचितोऽयं मयाञ्जलिः ।

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्वृणाम् ॥ १८ ॥

हे भद्रे ! हम तुझसे हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हैं कि, हमारे ऊपर दया कर, अथवा शीघ्र ही समाप्त हो जा । हम इस निर्दयिन ॥ १८ ॥

वृशंसां केकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं महत् ।

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥

और कूर कैकेयी का मुख देखना नहीं चाहते, क्योंकि इसने हमें बड़ा दुःख दिया है । यह कह महाराज पुनः हाथ जोड़ कर कैकेयी को ॥ १९ ॥

प्रसादयामास पुनः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ।

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वदगतस्य<sup>१</sup> गतायुषः ॥ २० ॥

मनाने के लिये उससे बाले । हम धर्मात्मा, दीन, तेरे शरण आये हुए और थोड़े दिनों जीने वाले हैं ॥ २० ॥

प्रसादः क्रियतां देवि भद्रे राज्ञो विशेषतः ।

शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥ २१ ॥

हे भद्रे ! विशेषतः यह जान कर कि, हम राजा हैं, और एकान्त में नहीं, हम भरी सभा में श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की बोषणा कर चुके हैं ( यदि अब श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक न हुआ, तो लोग हमारी बड़ी निन्दा करेंगे । ) तू हमारे ऊपर कृपा कर ॥ २१ ॥

१ निर्वृणाम्—निर्दयाम् । (गो०) २ त्वदगतस्य—त्वदेकशरणस्यत्यर्थः ।

कुरु साधु प्रसादं मे बाले सहृदया<sup>१</sup> ह्यसि ।  
प्रसीद देवि रामो मे त्वदत्तं राज्यमव्ययम् ।  
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्नुहि ॥ २२ ॥

हे बाले ! तू रसज्ञा है, अतः अपनी ओर से श्रीरामचन्द्र को अक्षय राज्य दे कर तू हमें प्रसन्न कर। हे कैकेयी ! ऐसा करने से तेरी बड़ी नामवरी होगी ॥ २२ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरुणां भरतस्य च ।  
प्रियमेतदूरुश्श्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥ २३ ॥

ऐसा करने से हमोंको नहीं, किन्तु श्रीरामचन्द्र, भरत, और बड़े बड़े लोगों को—यहाँ तक कि, समस्त संसार को बड़ी प्रसन्नता होगी। हे चारुमुखी ! रामराज्याभिषेक होने दे ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा  
ताम्रेक्षणस्याश्रुकलस्य राङ्गः ।  
श्रुत्वा विचित्रं<sup>२</sup> करुणं विलापं  
भर्तुर्वृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

शुद्ध हृदय महाराज दशरथ दीन हो विलाप करते हुए रोने लगे। रोते रोते उनकी दोनों आँखें लाल हो गयीं, किन्तु खुशामद और धमकी से भरे हुए उनके करुण विलाप पर उस दुष्ट कैकेयी ने कुछ भी ध्यान न दिया ॥ २४ ॥

<sup>१</sup> सहृदया—रसज्ञा । ( शि० )    <sup>२</sup> विचित्रं—प्रसादनभत्संन सहित्वात् । ( गो० )

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः  
 प्रियामदुष्टं प्रतिकूलं भाषिणीम् ।  
 समीक्ष्य पुत्रसंय विवासनं प्रति  
 क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

महाराज, कैकेयी को अप्रसन्न देख और उसकी ऊटपटांग बातें सुन, और श्रीरामचन्द्र का बनगमन निश्चय जाने, दुःखी हो कर अचेत हो गये और ज़मीन पर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा  
 जगाम घोरं इवसतो मनस्त्विनः ।  
 विवेध्यमानः प्रतिवोधनं तदा  
 निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इति अयोद्धाः सर्गः ॥

इस प्रकार के कष्ट में और क्षण क्षण में दीर्घ निःश्वास त्यागते हुए, मनस्वी महाराज दशरथ ने वह रात काटी । प्रातःकाल होते ही ( नित्य नियमानुसार ) महाराज को जगाने के लिये बाजे बजे, किन्तु महाराज ने उनका बजाना रुकवा दिया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## चतुर्दशः सर्गः

—:०:—

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि ।

विवेष्टमानमुद्गीक्ष्य सैक्ष्वांकमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

पुत्रशोक से विह्वल, किंकर्त्तव्य विमूढ़, और ज़मीन पर क्षट-  
पटाते हुए, महाराज दशरथ को देख पापिन कैकेयी बोली ॥ १ ॥

पापं कृत्वैव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम् ।

शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वर्महसि ॥ २ ॥

हे राजन् ! पहले यह प्रतिज्ञा कर कि, हम अभी तुझे दो वर देते  
हैं और फिर उन्हें न देने का पाप कर, तुम पीड़ित हो जो पृथिवी  
पर लोट रहे हो सो इसका क्या अभिप्राय है ? ॥ २ ॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।

सत्यमाश्रित्य हि मया त्वं च धर्मप्रचोदितः ॥ ३ ॥

धर्म का मर्म जानने वाले लोग सत्य ही को परम धर्म बतलाते  
हैं । सो मैं उसी सत्य को अवलंबन कर तुमको धर्मपालन की  
प्रेरणा करती हूँ । अर्थात् वर देने के लिये तुमसे कहती हूँ ॥ ३ ॥

संश्रुत्य शैव्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः ।

प्रदाय पक्षिणे राजञ्जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४ ॥

देखो, पहले राजा शैव्य ने प्रतिज्ञा कर अपना शरीर तक  
श्येन पक्षी को दे डाला था और इससे उनको उत्तम गति प्राप्त  
हुई थी ॥ ४ ॥

तथा ह्लक्ष्मेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे ।

याचमाने स्वके नेत्रे उद्भृत्याविमना ददौ ॥ ५ ॥

इसी प्रकार तेजस्वी अलक्ष्मि ने, किसी अंधे वेदपाठी ब्राह्मण के माँगने पर, प्रसन्नता पूर्वक उसे अपने दोनों नेत्र निकाल कर दे दिये थे ॥ ५ ॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः ।

सत्यानुरोधात्समये वेलां स्वां नातिवर्तते ॥ ६ ॥

सब नदियों का स्वामी समुद्र भी सत्य का पालन करने के लिये पूर्णमासी को भी, अपनी मर्यादा से अधिक नहीं बढ़ता ॥ ६ ॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।

सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम् ॥ ७ ॥

सत्य ही ( एकमात्र ) मुख्यतः ब्रह्म है, सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है, अक्षय वेद भी सत्य ही का मुख्यतया प्रतिपादन करते हैं । सत्य से चित्त शुद्ध हो कर, ब्रह्म तक की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

सत्यं समनुवर्त्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः ।

स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम ॥ ८ ॥

हे राजन् ! यदि आपकी धर्म में बुद्धि है, तो सत्य का पालन करते हुए, मुझे मेरे माँगे हुए दोनों वर दीजिये । क्योंकि आप वरदानी हैं ॥ ८ ॥

धर्मस्यै हाभिकामार्थै मम चैवाभिचोदनात् ।

प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम् ॥९॥

आप अपना परलोक बनाने के लिये और मेरी प्रेरणा से रामचन्द्र को वन में भेजा दो। यह बात मैं एक बार नहीं, तीन बार कहती हूँ। ( तीन बार कहने का अभिप्राय यह है कि, मैं अपनी बात को बदलूँगी नहीं ) ॥९॥

समयंै च ममाद्येमं यदि त्वं न करिष्यसि ।

अग्रतस्ते परित्यक्ताऽ परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥ १० ॥

यदि आप राम को वन न भेजेंगे, तो इस अनादर को सहन न कर, मैं आपके ही सामने अपने प्राण क्लोड दूँगी — ( अर्थात् आपके माथे स्त्रीबध का पाप चढ़ाऊँगी ) ॥ १० ॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेया निर्विशङ्कया ।

नाशकत्पाशं मुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा ॥ ११ ॥

निर्भीक हो कैकेयी के इस प्रकार कहने पर महाराज दशरथ सत्य के पाश में बँध गये और वे उसी प्रकार उस पाश से न छूट सके जिस प्रकार वामन जी के सत्यपाश से राजा बलि नहीं छूट सके थे ॥ ११ ॥

उद्भ्रान्तहृदयाश्चपि विवर्णवदनोऽभवत् ।

स धुर्यो वै परिस्पन्दन्युगचक्रान्तरं यथा ॥ १२ ॥

१ धर्मस्य—परलोक सिद्धिप्रयोगकल्य । ( वि० ) २ अभिकामार्थ—  
श्रीस्थर्थ । ( गो० ) ३ समय—रामविवासन । ( गो० ) ४ परित्यक्ता—उपे-  
क्षिता । ( गो० ) ५ पाश—सत्यपाश । ( गो० ) ६ परिस्पन्दन—गच्छन् ।  
( गो० )

उस समय महाराज दशरथ पागल से हो गये, उनका चेहरा फीका पड़ गया। जिस प्रकार दो पहियों के बीच घूमती हुई धुरी चञ्चलता प्रकट करती है, उसी प्रकार उनका भी चित्त चञ्चल हो गया। अथवा जिस प्रकार दो पहिये की गाड़ी में जुता हुआ बैल ( या घोड़ा ), निकलने के लिये प्रयत्न करने पर भी विफल मनोरथ होने के कारण विकल होता है और उदास हो जाता है, उसी प्रकार महाराज दशरथ उदास और विफल हुए ॥ १२ ॥

[ नोट — शिरोमणि टीकाकार ने यही अर्थ किया है— स राजा उद्भ्रान्त हृदयः सञ्चलितचित्तः अभवत् तत्र दृष्टान्तः युगचक्रान्तरं युगचक्रयोर्मध्यं प्राप्येति शेषः परिस्पन्दन् निःसरणार्थम् चेष्टां कुर्वन् धुर्यः अनड्वानिव । ]

विद्वलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव॑ स भूपतिः ।

कृच्छ्राद्दैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

चिन्ता और शोक के कारण महाराज दशरथ इतने विद्वल हो गये थे कि, उन्हें नेत्रों से कुछ भी देख नहीं पड़ता था अर्थात् उस समय वे अन्धे की तरह हो गये थे। वही कठिनाई से धैर्य धारण कर और मन को वश में कर, वे फिर कैकेयी से यह बोले ( अथवा कातर दृष्टि से देखते हुए महाराज ने बहुत कष्ट से अधीर हो कर कैकेयी से कहा ) ॥ १३ ॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः ।

तं त्यजामि स्वजं॒ चैव तत्र पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

हे पापिन ! विवाह के समय अग्नि के सामने वैदिक मंत्रोच्चारण पूर्वक हमने जो तेरा हाथ पकड़ा था, उस हाथ को हम अपने

१ अपश्यन्निव—अन्धद्वस्थितः भूमिपः । (गो०) २ स्वजं—स्वस्माज्ञातमपि । ( गो० )

और स जात ; किन्तु तेरे गर्भ से उन्पन्न होने के कारण, अपने पुत्र भरत सहित तुझे आज छोड़ते हैं । (अर्थात् आज से न तो तू हमारी खी रही और न तेरी कोख से जन्मे भरत हमारे पुत्र ही रहे) ॥ १४ ॥

[नोट—यह एक प्रकार की “तलाक” Divorcement है । किन्तु वास्तव में हिन्दू समाज में जो प्रतिज्ञा अस्ति आदि देवताओं के समक्ष की जाती है वह अस्ति है । सांसारिक व्यवहार की दृष्टि से भले ही इस अपनी पत्नी को छोड़ दे, किन्तु पारलौकिक सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता । महाराज दशरथ द्वारा कैलेयो की तलाक की बात यहाँ लिखी ही है । आगे उत्तरकाण्ड में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा सोता जो के परियांग की कथा भी मिलेगी ।]

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति ।

अभिषेकं गुरुजनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

हे देवि ! अब रात बीतने पर है और सूर्य भगवान् उदय होने वाले हैं । अतः गुरुजन लोग आ कर अवश्य ही श्रीरामराज्याभिषेक जल्दी करने के लिये सुझे प्रेरित करेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकलिपतैः ।

रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक के लिये जो सामग्री इकट्ठी की गयी है, उससे अभिषेक तो न होगा, किन्तु उससे श्रीरामचन्द्र मेरी अन्त्येष्टि किया करेंगे ॥ १६ ॥

त्वया सपुत्रया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया ।

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥

खबरदार ! तू या तेरा पुत्र भरत हमारे प्रेतकर्म में हाथ न लगावें । क्योंकि जब तू श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक में वाधा डाल

रही है, तब हमारा और तेरा या तुझसे सम्बन्ध युक्त लोगों का हमसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता ॥ १७ ॥

[ नोट — इसी लिये महात्मा तुलसीदास जी ने कहा है—

जिनके प्रिय न राम वैदेही  
तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही ।

महात्मा जी की इसी चर्क को महाराज दशरथ ने यहाँ चरितार्थ किया है । ]

न च शक्रोम्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथा सुखम् ।

हतहर्षं निरानन्दं पुनर्जनयवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

श्रीरामाभिषेक से प्रसन्नमुख और उसके अभाव से क्लेशित हुए लोगों का उदासमुख हमसे नहीं देखा जायगा ॥ १८ ॥

तां तथा ब्रुघतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः ।

प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रशालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा महाराज दशरथ के इस प्रकार बोलते बोलते चन्द्रमा और तरैयों से छुशोभित रात बीत गयी और सबेरा हो गया ॥ १६ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः ।

उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्छिता ॥ २० ॥

बात कहने में अत्यन्त चतुरा और पापिष्ठा कैकेयी बड़ी कुछ हों महाराज से पुनः कठोर वचन कहने लगी ॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन्वाक्यमङ्गरुजोपमम्<sup>१</sup> ।

आनाययितुमक्षिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> अङ्गरुजोपमम्—सर्वाङ्गव्याप्त महाव्याधिसहशं । ( गो० )

हे राजन् ! सर्वाङ्ग में व्याप्त महाव्याधि वाले पुरुष की तरह  
आप यह ज्ञा वक्षक कर रहे हैं ! अब आप रामचन्द्र को यहाँ  
बुलवाइये ॥ २१ ॥

स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम् ।

निःसप्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

मेरे खेटे भरत को राजसिंहासन पर विठा और रामचन्द्र को  
चन भेज तथा मुझे सौतहीन कर दो, तभी आप कृतकृत्य अर्थात्  
अपनी बात के पूरे कहला सकोगे ॥ २२ ॥

स नुब्र इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः ।

राजा प्रचोदितोऽभीक्षणं कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उस समय कैकेयी द्वारा बार बार प्रेरित किये जाने पर, महा-  
राज दशरथ की बैसी ही दशा हुई जैसी कि किसी उत्तम जाति  
के घोड़े की चाकुक से मारे जाने पर होती है । वे बोले ॥ २३ ॥

धर्मवन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना ।

ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥

इस समय सत्यपाश में जकड़ जाने से हमारी बुद्धि काम  
नहीं करती । अब हम अपने ज्येष्ठ और प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र को  
देखना चाहते हैं ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे ।

पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समाहिते ॥ २५ ॥

इतने में सबेरा भी हो गया, रात बोत गयी, सूर्य भगवान्  
उदय हुए । पुण्य समय पर शुभ नक्षत्र और शुभ मुहूर्तकाल भी  
आ उपस्थित हुए ॥ २५ ॥

वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृत्तस्तदा ।

उपसंगृह्य सम्भारान्प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

सर्वगुणसम्पन्न भगवान् वशिष्ठ अपने शिष्यों से घिरे हुए और अभिषेक की सामग्री लिये हुए उत्तम पुरी में आये ॥ २६ ॥

[ नोट—“प्रविवेश पुरोत्तमम्” इससे जान पड़ता है कि, वशिष्ठादि क्रष्णिगण जो महाराज दशरथ के मंत्रिमण्डल में थे, वहस्ती में नहीं रहते थे । उनके आवासस्थान नगर के किसी बाहिरी भाग में किसी एकान्त स्थल में बने हुए थे । ]

[ जिस समय वशिष्ठ जी नगरी में आये उस समय की पुरी की सज्जावट उन्होंने किस प्रकार की देखी इसका वर्णन आगे दिया गया है ]

सित्कसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम् ।

विचित्रकुसुमाकीर्णां नानास्मिभर्विराजिताम् ॥ २७ ॥

वशिष्ठ जो ने देखा कि, राजधानी की सब सड़कों स्वच्छ थीं, उन पर क्लिङ्काव किया गया था । जिधर देखो उधर ध्वजाएँ एवं पताकाएँ फहरा रही थीं । तरह तरह के विचित्र फूल सड़कों पर फैले हुए थे और जगह जगह पुष्पमालाएँ लटकी हुई थीं ॥ २७ ॥

संहष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ।

महोत्सवसमाकीर्णां राघवार्थे समुत्सुकाम् ॥ २८ ॥

सब लोग प्रसन्नचित्त देख पड़ते थे । बाज़ारों की दूकानों में तरह तरह के माल भरे हुए थे । श्रीरामराज्याभिषेक के उपलक्ष में लोग तरह तरह के उत्सव मना रहे थे और श्रीरामाभिषेक देखने को उत्सुक हो रहे थे ॥ २८ ॥

चन्दनागरुधूपैश्च सर्वतः प्रतिधूपिताम् ।

तां पुरीं समतिक्रम्य पुरन्दरपुरोपमाम् ॥ २९ ॥

चारों ओर चन्दन और अगर मिली धूप जलाने से सुगन्ध उड़ रही थी। इस प्रकार की अमरावती के तुल्य श्रेयाघ्यापुरी में हो कर ॥ २९ ॥

ददर्शान्तःपुरं श्रेष्ठं नानाद्विजगणायुतम् ।

पैरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम् ॥ ३० ॥

वशिष्ठ जी श्रेष्ठ राजमन्दिर में पहुँचे। उन्होंने वहाँ देखा कि, राजमन्दिर के द्वार पर, अनेक द्विज, पुरवासी और ब्राह्मण अपनी उपस्थिति से वहाँ की शोभा बढ़ा रहे हैं ॥ ३० ॥

यज्ञविद्विः सुसम्पूर्णं सदस्यै परमद्विजैः ।

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम् ॥ ३१ ॥

वहाँ पर यज्ञक्रिया में कुशल ब्राह्मण भी मौजूद हैं, राजदरवारी भी जमा हैं। ब्राह्मण, तत्रिय और वैश्य जाति के बड़े बड़े प्रतिष्ठित लोगों की भीड़ लगी है। भीड़ को हटाते किसी तरह वशिष्ठ जी अन्तःपुर के दरवाज़े पर पहुँचे ॥ ३१ ॥

वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिर्विवेश च ।

स त्वपश्यद्विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम् ॥ ३२ ॥

द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ।

तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम् ॥ ३३ ॥

वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ।

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः ॥ ३४ ॥

महर्षि वशिष्ठ जी ने प्रसन्नता पूर्वक अन्तःपुर में प्रवेश किया । भीतर जाते समय अन्तःपुर के दरवाजे पर उनकी भैंट शोभनमूर्ति सारथी सुमंत्र से हुई, जो भीतर से बाहिर आ रहे थे । महातेजस्वी वशिष्ठ जी ने बुद्धिमान सूतपुत्र सुमंत्र से कहा—कि हमारे यहाँ आने की सूचना तुरन्त महाराज को दो । साथ ही यह भी कह देना कि, वशिष्ठ जी अपने साथ सोने के घड़ों में गङ्गा जल और सागरजल ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

**औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ।**

**सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च ॥ ३५ ॥**

और अभिषेक के समय राजकुमार के बैठने के लिये गूलर की लकड़ी की चौकी भी लाये हैं । सब प्रकार के बीज, सब सुगन्ध-युक्त वस्तुएँ और भाँति भाँति के रहे ॥ ३५ ॥

**क्षौद्रं दधि वृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ।**

**अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ॥ ३६ ॥**

शहद, दही, घी, खीलें, कुश, फूल, दूध, सुन्दरी आठ कन्याएँ, मस्त सफेद हाथी ॥ ३६ ॥

**चतुरश्वो रथः श्रीमान्निक्षिंशो धनुरुत्तमम् ।**

**वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसन्निभम् ॥ ३७ ॥**

चार घोड़ों का रथ, उत्तम खङ्ग, सुन्दर धनुष, कहारों सहित पालकी, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल छत्र ॥ ३७ ॥

**श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारश्च हिरण्ययः ।**

**हेमदामपिनद्वश्च कुञ्जान्पाण्डुरो वृषः ॥ ३८ ॥**

दो सफेद चँवर, साने की झारी, साने के पत्रों से मढ़े हुए  
सींगों वाला सफेद बैल ॥ ३८ ॥

केसरी च चतुर्दश्यो हरिश्रेष्ठो महाबलः ।

सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिद्धश्च हुताशनः ॥ ३९ ॥

चार दाढ़ का शेर, बड़ा बलवान् घोड़ा, सिंहासन, वाघम्बर,  
समिधा, अग्नि ॥ ३९ ॥

सर्ववादित्रसङ्खाश्च वेश्याञ्चालङ्कृताः स्त्रियः ।

आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः ॥ ४० ॥

सब प्रकार के बाजे, शृङ्खार किये हुए रंडियाँ, आचार्य, ब्राह्मण,  
गौ, हिरन, पक्षी मौजूद हैं ॥ ४० ॥

पैरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च<sup>१</sup> गणैः<sup>२</sup> सह ।

एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः ॥ ४१ ॥

और मुखिया पुरवासी, अपने समुदायों को साथ लिये हुए  
महाजन लोग तथा छनके अतिरिक्त और भी अनेक सज्जन, प्रीति-  
युक्त हो, और प्रिय वचन बोलते हुए ॥ ४१ ॥

अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ।

त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि ॥ ४२ ॥

अपने अपने राजाओं के साथ श्रीरामचन्द्र का अभिषेक  
देखने को आये हुए हैं, महाराज से जा कर कहो कि जल्दी  
करें ॥ ४२ ॥

१ नैगमाः—वणिजः । ( वि० ) २ गणैः—स्वगणैः । ( वि० )

पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ।

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महात्मनः ॥ ४३ ॥

जिससे पुष्य नक्षत्र में श्रीरामचन्द्र जी को राज्य मिल जाय ।  
वशिष्ठ जी के ये वचन सुन महात्मा सुमंत्र ॥ ४३ ॥

स्तुवन्तुपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ।

तं तु पूर्वोदितं<sup>१</sup> बृद्धं द्वारस्था राजसम्मतम् ॥ ४४ ॥

महाराज की जैजैकार पुकारते हुए राजभवन के भीतर जाने  
लगे । महाराज ने बूढ़े सुमंत्र की छोड़ी माफ कर दी थी ( अर्थात्  
महल के द्वारपालों को आज्ञा दे दी थी कि, सुमंत्र को रोकें  
नहीं ) ॥ ४४ ॥

[ नोट—इस श्लोक में सुमंत्र के लिये “बृद्ध” शब्द आया है । अतः  
इससे जान पड़ता है कि, सुमंत्र की छोड़ी इसी लिये माफ कर दी गयी थी  
कि वे बूढ़े थे । अन्य लोग बिना इत्तिला रनवास में नहीं जा सकते थे । ]

न शेकुरभिसन्रोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ।

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामज्जिवान् ॥ ४५ ॥

अतः महाराज की प्रसन्नता के लिये ( अर्थात् महाराज के  
आज्ञानुसार ) द्वारपालों ने सुमंत्र को भीतर जाने दिया और उन्हें  
रोका नहीं । सुमंत्र महाराज के निकट पहुँच गये । किन्तु वे  
उस समय की महाराज की अवस्था से अपरिचित थे ॥ ४५ ॥

वाग्भः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ।

ततः सूतो यथाकालं<sup>२</sup> पार्थिवस्य निवेशने ॥ ४६ ॥

१ पूर्वोदित—अयं सर्वदा अनिवार्य इति राज्ञापूर्वमुक्तं । ( गो० )

२ यथाकाल—प्राप्तः काळहि । ( गो० )

अतः ( शिष्टाचार के नियमानुसार ) सुमंत्र परम प्रसन्न हो महाराज की वैसी ही स्तुति करने लगे जैसी कि, प्रातःकाल राजाण्हों की स्तुति करने का उस समय रिखाज् था ॥ ४६ ॥

सुमन्त्रः प्राञ्छलिर्भूत्वा तुष्टव जगतीपतिम् ।

यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये ॥ ४७ ॥

सुमंत्र ने हाथ जोड़ कर महाराज की स्तुति की । वे बोले— हे महाराज ! जिस प्रकार सूर्योदय होने पर तेजस्वी सागर हर्षित होते हैं ॥ ४७ ॥

प्रीतः प्रीतेन मनसा तथानन्दय नः स्वतः ।

इन्द्रभूर्णं तु वेलायामभितुष्टव मातलिः ॥ ४८ ॥

उसी प्रकार आप प्रसन्न हो कर, प्रसन्न मन से हम लोगों को हर्षित कीजिये । इसी समय ( अर्थात् सबेरे सारथी ने इन्द्र की स्तुति की थी ) ॥ ४८ ॥

सोऽज्यहानवान्सर्वास्तथा त्वां वोधयाम्यहम् ।

वेदाः सहाङ्गविद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं विभुम् ॥ ४९ ॥

ब्रह्माणं वोधयन्त्यद्य यथा त्वां वोधयाम्यहम् ।

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम् ॥ ५० ॥

तब इन्द्र ने सब असुरों को परास्त किया था । उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ । जिस प्रकार साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याएँ ब्रह्माजी को जगाती हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ । जिस प्रकार सूर्योदय चन्द्रमा सहित, सब प्राणियों को धारण करने वाली और शुभ ॥ ४९ ॥ ५० ॥

बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ।

उत्तिष्ठाशु महाराज कृतकौतुकमङ्गलः<sup>१</sup> ॥ ५१ ॥

पृथिवी को जगाते हैं, उसी प्रकार मैं भी आपको जगाता हूँ । हे महाराज ! उठिये और शुभ वेष बना सब को दर्शन दे आनन्दित कीजिये ॥ ५१ ॥

विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ।

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ ५२ ॥

और वसन आभूषणों द्वारा शरीर अलड़कृत कर, सुमेह पर्वत पर सूर्य की तरह, शोभा को प्राप्त हूजिये । हे काकुत्स्थ ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर ॥ ५२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ ५३ ॥

वरुण, अग्नि, और इन्द्र सब आपको विजय करें । देखिये भगवती निशा बीत गयी और मङ्गलकारी दिन उपस्थित हो गया ॥ ५३ ॥

प्रतिबुध्यस्य राजर्णे कुरुकार्यमनन्तरम् ।

उपतिष्ठति रामस्य समग्रमभिषेचनम् ॥ ५४ ॥

हे राजर्णे ! उठिये और आगे के कार्यों को कीजिये । क्योंकि अभिषेक का सामान तैयार है ॥ ५४ ॥

पौरजानपदैश्वापि नैगमैश्च कृताञ्जलिः ।

अयं वसिष्ठो भगवान्ब्राह्मणः सह तिष्ठति ॥ ५५ ॥

<sup>१</sup> कृतकौतकमङ्गलः — सर्वानन्दात्पादनाय कृतदेहाङ्गार इत्यर्थः । (गो०)

नगरनिवासी तथा जनपदनिवासी एवं महाजन लोग हाथ  
जोड़े खड़े हैं। भगवान् विश्वषु जी भी ब्राह्मणों सहित आ गये  
हैं ॥ ५५ ॥

**क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन्राघवस्याभिषेचनम् ।**

यथा ह्यपालाः पश्वो यथा सेना ह्यनायकाः ॥ ५६ ॥

हे राजन् ! श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक का कार्य आरम्भ करने  
की आज्ञा शीघ्र दीजिये। क्योंकि जिस प्रकार चरवाहे के विना  
पशु, सेनापति के विना फौज ॥ ५६ ॥

**यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ।**

एवं हि भवता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते ॥ ५७ ॥

चन्द्रमा के विना रात्रि, और सौँड के विना गौ, किसी  
काम की नहीं—वैसे ही राजा विना राज्य भी किसी काम का  
नहीं ॥ ५७ ॥

**इति तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ।**

अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः ॥ ५८ ॥

सुमंत्र के ऐसे शान्तियुक्त वचन सुन, महाराज फिर शोक में  
झूल गये ॥ ५८ ॥

**ततः स राजा तं सूतं सन्वर्हणः सुतं प्रति ।**

शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः ॥ ५९ ॥

फिर कुछ सँभल और श्रीरामचन्द्र के शोक में ग्रसित हो,  
मारे क्रोध के लाल आँखें कर, धर्मात्मा श्रीमान् दशरथ ने सुमंत्र  
की ओर देखा और उनसे कहा ॥ ५९ ॥

वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूया निकृन्तसि ।

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा हृष्टा दीनं च पार्थिवम् ॥ ६० ॥

हे सुमंत्र ! तुम्हारे ये स्तुतिवाक्य हमें पुनः अत्यन्त कष्टदायक हुए हैं । सुमंत्र महाराज की यह करुण वाणी उन और उनकी दीन दशा देख ॥ ६० ॥

प्रगृहीताञ्जलिः प्रहस्तस्मादेशादपाक्रमत् ।

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः ॥ ६१ ॥

हाथ जोड़, जहाँ पहले खड़े थे वहाँ से कुछ पीछे हट कर खड़े हुए । जब महाराज दीनता के कारण कुछ और न बोल सके ॥ ६१ ॥

तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युत्ताच ह ।

सुमन्त्र राजा रंजनीं रामहर्षसमुत्सुकः ॥ ६२ ॥

तब अपना काम बनाने में निपुण कैकेयी सुमंत्र से बोली । हे सुमंत्र ! रामचन्द्र के अभिषेक के शानन्द में मग्न होने के कारण महाराज को रात भर नींद नहीं आयी ॥ ६२ ॥

प्रजागरपरिश्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ।

तदगच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ६३ ॥

रात भर जागने के कारण थक कर वे अब सो रहे हैं । अतः हे सूत ! तुम फौरन जा कर यशस्वी राजकुमार ॥ ६३ ॥

राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ।

स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६४ ॥

रामचन्द्र को यहाँ बुला लाये। इसमें सोचने विचारने की आवश्यकता नहीं है। यह उन सुमंत्र ने समझा कि श्रीरामचन्द्र जी के आने से महाराज का मन ठीक ठिकाने होगा, अतः वे प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

निर्जगाम च सम्प्रीत्या त्वरितो राजशासनात् ।

सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६५ ॥

और श्रीरामचन्द्र के बुलाने में महाराज की आज्ञा समझ प्रसन्न होते हुए तुरन्त वहाँ से चल दिये। किन्तु रास्ते में वे सोचने लगे कि, कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र को क्यों तुरन्त बुलाने को कहा है ॥ ६५ ॥

व्यक्तं रामोऽभिषेकार्थमिहायास्यति धर्मवित् ।

इति सूतो मर्ति कृत्वा हर्षेण महता वृतः ।

निर्जगाम महाबाहू राघवस्य दिव्यक्षया ॥ ६६ ॥

सागरहदसङ्काशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।

निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६७ ॥

फिर तुरन्त ही उन्होंने विचारा कि, शीघ्र राज्याभिषेक कार्य आरम्भ करवाने को धर्मात्मा महाराज दशरथ ने श्रीरामचन्द्र को बुलवाया है। यह विचार मन में उत्पन्न होते ही, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए और श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने को उस मनोहर अन्तःपुर में से जो सागर के बीच स्थित तड़ाग की तरह था, निकले और दरवाजे के आगे लोगों की बड़ी भीड़ देखो ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

ततः पुरस्तात्सहसा विनिर्गते

महीभृतो द्वारगतान्विलोकयन् ।

दर्दर्श पैरान्विविधान्महाधना-  
नुपस्थितान्द्वारमुपेत्य चिष्टितान् ॥ ६८ ॥  
इति चतुर्दशः सर्गः ॥

सुमंत्र ने द्वार पर शीघ्रता से जा कर देखा कि, राजभवन के दरवाजे पर राजा लोग और बड़े बड़े अमीर व रईस आ कर बैठते जा रहे हैं ॥ ६८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—;\*;—

### पञ्चदशः सर्गः

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।  
उपतस्थुरुपस्थानं<sup>१</sup> सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

उस रात के ब्रीतने पर, और सबेरा होने पर, वेदज्ञ ब्राह्मण-गण राजपुरोहितों के साथ राजद्वार पर आ कर उपस्थित हुए ॥ १ ॥

अमात्या वलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।  
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणास्तु सङ्गताः ॥ २ ॥

राजमंत्रिगण, सेनापति और बड़े बड़े महाजन श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक देखने को राजद्वार पर प्रसन्न चित्त हो जमा हुए ॥ २ ॥

<sup>१</sup> उपस्थानं—राजद्वारं । ( शि० )

उदिते विमले सूर्ये पुष्टे चाभ्यागतेऽहनि ।

लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥

सूर्य के उदय होने पर, जब पुष्ट नक्षत्र और कर्कट लग्न का समय, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का जन्म हुआ था, उपस्थित हुआ, ॥ ३ ॥

अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरूपकलिपतम्<sup>१</sup> ।

काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं<sup>२</sup> स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥

तब उत्तम उत्तम ब्राह्मणों ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक के लिये जल से भरे हुए सोने के कलसे और श्रीरामचन्द्र जी के बैठने के लिये सजा हुआ भद्रपीठ यथास्थान सजा कर रखे ॥ ४ ॥

रथश्च सम्यगास्तीर्णे भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।

गङ्गायमुनयोः पुण्यात्सङ्घमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

चमचमाता रथ, जिसमें व्याघ्राम्बर विक्रा हुआ था आया, तथा गङ्गा यमुना के पवित्र सङ्घम का जल ला कर रखा गया ॥ ५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या हृदाः कूपाः सरांसि च ।

प्राग्वाहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाः समाहिताः ॥ ६ ॥

इनके अर्थात् जितनी पुण्यसत्त्विला नदियाँ, कुण्ड, कूप, और तालाब, पश्चिम की ओर बहने वाली (नर्मदा और तापती), ऊपर से नोचे की ओर बहने वाली और ढेहो मेहो हो कर बहने वाला नदियाँ हैं ॥ ६ ॥

१ उकलिपत —ममीप्रापितम् । ( शि० ) २ भद्रपीठ —मङ्गलचिन्ह चिन्हितपीठविशेषं । ( शि० )

ताभ्यश्वैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।  
 सलाजाः क्षीरभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ७ ॥  
 पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।  
 क्षौद्रं दधि धृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ८ ॥

इन सब के जल और सब समुद्रों के जल वहाँ ला कर सोने चांदी के चमचमाते हुए कलसों में रखे गये । पवित्र तीर्थ जलों से भरे उन कलसों के मुखों पर गूलर बट आदि क्षीर वृक्षों की टहनियाँ तथा कमल पुष्प और कमल पत्र पड़े हुए थे । मधु, दही, घी, लाजा, कुश, अच्छे अच्छे फूल और दूध ला कर रखे गये थे ॥ ७ ॥ ८ ॥

वेश्याश्वैव शुभाचाराः<sup>१</sup> सर्वाभरणभूषिताः ।  
 चन्द्रांशुविकचप्रख्यं काञ्चनं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥  
 सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।  
 चन्द्रमण्डलसङ्काशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥  
 सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्कृतम् ।  
 पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुरोऽश्वश्च सुस्थितः ॥ ११ ॥

वहाँ, मङ्गल वेष बनाये और बढ़िया बढ़िया कपड़े और गहने पहिने हुए वेश्याएँ भी उपस्थित थीं । चन्द्रकिरणों के समान स्वच्छ सोने की बनी और रत्नजटित डंडियों बाले उत्तम चमर भी श्रीरामचन्द्र जी के अभिषेक की सामग्री के साथ रखे हुए थे । चन्द्रमण्डल की तरह गोल और चमचमाता तथा सफेद ढंत्र भी

<sup>१</sup> शुभाचाराः — मङ्गलवेषयुक्ताः । ( गो० )

राज्याभिषेक के लिये विद्यमान था । सफेद बैल, और सफेद सज्जा हुआ घोड़ा भी वहाँ खड़ा हुआ था ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

प्रसृतश्च<sup>१</sup> गजः श्रीमानौपवाह्यः<sup>२</sup> प्रतीक्षते ।

अष्टौ च कन्या रुचिराः सर्वाभरणभूषिताः ॥ १२ ॥

मद चुनियाता हुआ राजाओं के चढ़ने योग्य हाथी भी मौजूद था । सुन्दरी और वसन भूषण से अलंकृत आठ कन्याएँ भी उपस्थित थीं ॥ १२ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथाऽपरे ।

इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रयेताभिषेचनम् ॥ १३ ॥

तथा जातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।

ते राजवचनात्तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १४ ॥

बीणा शादि चारों प्रकार के माझलिक बाजे, बंदीजन तथा सूत मागधादि सभी एकत्र हुए । कहाँ तक गिनाया जाय, सारीं यह है कि, इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के राज्याभिषेक में ज्ञा सामग्री अपेक्षित होती, वह सब श्रीरामराज्याभिषेक के लिये महाराज दशरथ की आज्ञानुसार लोग ले ले कर वहाँ उपस्थित हुए थे ॥ १३ ॥ १४ ॥

अपश्यन्तेऽब्रुवन्को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।

न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १५ ॥

राजद्वार पर उपस्थित लोगों ने जब समय हो चुकने पर भी महाराज दशरथ को न देखा, तब उपस्थित जन आपस में कहने

<sup>१</sup> प्रसृतः—प्रकर्णणस्वर्गमदः । (गो०) <sup>२</sup> औपवाह्यः—राजवाह्यः । (गो०)

लगे कि, हमारे आने की सूचना महाराज को कौन पहुँचावेगा। देखो सूर्य भगवान उदय हो चुके, किन्तु महाराज का दर्शन अभी तक नहीं हुआ ॥ १५ ॥

**यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।**

**इति तेषु ब्रुवाणेषु सार्वभौमान्महीपतीन् ॥ १६ ॥**

बुद्धिमान श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के लिये सब तैयारियाँ हो चुकी हैं। इस प्रकार लोग आपस में कह रहे थे कि, आमंत्रित बड़े राजाओं से ॥ १६ ॥

**अब्रवीत्तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।**

**रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितोऽस्म्यहम् ॥ १७ ॥**

राजसन्मानित सुमंत्र ने यह कहा कि, महाराज की आवानुसार मैं श्रीरामचन्द्र जी को लाने के लिये तुरन्त जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

**पूज्या राज्ञो भवन्तस्तु रामस्य च विशेषतः ।**

**अहं पृच्छामि वचनात्सुखमायुष्मतामिह ॥ १८ ॥**

**राज्ञः सम्प्रतिबुध्यस्य यच्चागमनकारणम् ।**

**इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणविर्तुं ॥ १९ ॥**

आप लोग महाराज और विशेष कर श्रीरामचन्द्र के सम्मान भाजन हैं। अतः मैं लौट कर आपकी ओर से इस बात को ( कि महाराज के न पश्चारने का क्या कारण है ) महाराज से, जो अभी सो कर उठे हैं, पूँछता हूँ। यह कह कर अति बृद्ध सुमंत्र अन्तः पुर के द्वार पर जा कर, ॥ १८ ॥ १६ ॥

१ पुराणवित् — चिरकालकथाभिज्ञः अतिवृद्ध इति । ( वि० )

सदासक्तं<sup>१</sup> च तद्वेशम् सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।

तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य च विशांपतेः ॥ २० ॥

बेरोकटोक राजभवन के भीतर चला गया । ( तत्कालीन प्रथानुसार ) वंशपरम्परा की बड़ाई करते हुए सुमन्त्र ने, उस कमरे में प्रवेश किया, जिसमें महाराज पड़े थे ॥ २० ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठृत ।

सोत्यासाद्य तु तद्वेशम् तिरस्करणैमन्तरा ॥ २१ ॥

आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।

सोमसूर्यौ च काकुत्स्य शिववैश्रवणावपि ॥ २२ ॥

सुमन्त्र महाराज के सोने के कमरे में पहुँच और चिक की आड़ में खड़े हो कर, महाराज को आशीर्वाद दे, उनको प्रसन्न करने लगे और कहने लगे, हे काकुत्स्य ! चन्द्र, सूर्य, शिव, कुवेर, ॥ २१ ॥ २२ ॥

वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

वरुण, अग्नि, इन्द्र आपको विजय दें । भगवतो निशा बीत चुकी और सुप्रभात हो चुका है ॥ २३ ॥

बुध्यस्य नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।

ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागता नृप ॥ २४ ॥

१ सदासक्तं—सर्वदाअनिवारितं । ( गो० ) २ तिरस्करण—यवनिका चिक इति नामा कोके प्रसिद्धामित्यर्थः । ( शि० )

हे राजसिंह ! उठिये और जो कार्य करने हैं उन्हें कीजिये ।  
ब्राह्मण, सेनापति, महाजन, और सामन्त राजा लोग आये हुए  
हैं ॥ २४ ॥

दर्शनं तेऽभिकाङ्गुन्ते प्रतिबुध्यस्व राघव ।

स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २५ ॥

और वे आपके दर्शनों की अभिलाषा करते हैं । हे राघव !  
उठिए, तब इस प्रकार स्तुति करते हुए मन्त्रिप्रवर सुमन्त्र से ॥ २५ ॥

प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।

राममानय सूतेति यदस्यभिहितोऽनया ॥ २६ ॥

महाराज ने जाग कर यह कहा, जैसा कि तुमसे इस कैकेयी ने  
कहा है, तुम जा कर पहिले श्रीरामचन्द्र को लिवा लाओ ॥ २६ ॥

किमिदं कारणं येन ममाङ्गा प्रतिहन्यते ।

न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २७ ॥

क्या वजह है जो तुम हमारी आङ्गा की अवहेला करते हो ?  
हम सोते नहीं हैं ( जो तुम हमें बार बार जगाने की स्तुति पढ़ते  
हो ) । तुम शीघ्र जा कर श्रीरामचन्द्र को यहाँ ले आओ ॥ २७ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात्पुनः ।

स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रणिपत्य तम् ॥ २८ ॥

महाराज दशरथ के यह कहने पर सुमन्त्र महाराज के वचनों  
को सुन और उनको प्रणाम कर ॥ २८ ॥

निर्जग्नम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।

प्रपञ्चो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २९ ॥

राजभवन से चल दिये और मन में जाना कि आज श्रीरामचन्द्र का अभिषेक होगा । सुमंत्र रंग विरंगी ध्वजापताकाओं से शोभित राजमार्ग पर उपस्थित हो ॥ २६ ॥

हृष्टः प्रगुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।

स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ ३० ॥

इधर उधर देखते भालते और हर्षित होते हुए तेजी के साथ जाने लगे । रास्ते में प्रत्येक दर्शक के मुख से पै श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी चर्चा ही सुनते हुए जाते थे ॥ ३० ॥

अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् ।

ततो ददर्श रुचिरं कैलासशिखरप्रभम् ॥ ३१ ॥

यह चर्चा और कुछ नहीं केवल श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक की आनन्ददायिनी बातचीत थी । थोड़ी ही देर में सुमंत्र ने मनोहर कैलास पर्वत के शिखर के समान उज्ज्वल ॥ ३१ ॥

रामवेशम् सुमन्त्रस्तु शक्रवेशमसमप्रभम् ।

महाकवाटसंयुक्तं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३२ ॥

और इन्द्रभवन के समान सुन्दर रामभवन देखा । उस राजभवन में बड़े बड़े किंवाड़ लगे थे और सैकड़ों वेदियाँ शोभायमान थीं ॥ ३२ ॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्वमशोभितम् ।

शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहोपमम् ॥ ३३ ॥

भवन के कँगूरों पर सैकड़ों सोने की मूर्तियाँ रखी हुई थीं जिनमें मणियाँ, और मूँगे जड़े हुए थे । रामभवन की शोभा,

शारदीय मेघ के समान निर्मल और सुमेरु पर्वत की कन्द्रा के समान चमकीली थी ॥ ३३ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्विरलङ्कृतम् ।

मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागरुधूपितम् ॥ ३४ ॥

गन्धान्मनोज्ञान्विसृजद्वारुं<sup>१</sup> शिखरं यथा ।

सारसैश्च मयूरैश्च निनदद्विर्विराजितम् ॥ ३५ ॥

राजभवन के द्वार को मणियों की सुन्दर मालाएँ (जो बंदनवारों की जगह लटक रही थीं) सुशोभित कर रही थीं। मेतियों और मणियों से सजा हुआ चन्दन और छगर से सुवासित और मनोहर गंधों से मलयागिरि समीपवर्ती चन्दनगिरि के शिखर की तरह सुवासित, वह श्रीरामचन्द्र का भवन था। उसमें अनेक सारस और मोर बैल रहे थे ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुकृते<sup>२</sup>हामृगाकीर्णं सुकीर्णं भित्तिभिस्तथा ।

मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत्तिग्मतेजसाः<sup>३</sup> ॥ ३६ ॥

राजभवन के दरवाजे पर, कमरों की दीवालों पर और खंभों पर सुनहली तसवीरें बनी थीं। ये तसवीरें जंगली जानधरों की यथा भेड़िया, बघरा शेर आदि की थीं। इनकी अत्यन्त सुन्दर कारीगरी देखने को देखने वाले का मन और आँखें ध्रपने आप आकर्षित हो जाती थीं ॥ ३६ ॥

<sup>१</sup> दर्दुरः—मलयसक्षिकृष्टश्चनगिरिः । ( वि० ) <sup>२</sup> सुकृतैः—स्वर्ण-दिना । ( वि० ) <sup>३</sup> तिग्मतेजसाआददत्—अतिशयितशोभया आकर्षत । ( वि० )

चन्द्रभास्करसङ्काशं कुवेरभवनोपमम् ।

महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का भवन चन्द्रमा और सूर्य की तरह चमकता था, कुवेर भवन की तरह भरा पूरा था और इन्द्रभवन की तरह बनावट में अद्वितीय था । उसमें अनेक जाति के पक्षों किलोलें कर रहे थे ॥ ३७ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेशमददर्श ह ।

उपस्थितैः समाकीर्ण जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३८ ॥

उस सुमेरुशिखर के समान ऊँचे श्रीरामचवनं को सुमंत्र ने देखा । उस समय वहाँ अनेक लोग हाथ जोड़े हुए उपस्थित थे ॥ ३८ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तथा जानपदैर्जनैः ।

रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलङ्घ्नुतम् ॥ ३९ ॥

वहाँ अनेक राष्ट्रों के लोग भी थे जो श्रीरामचन्द्र जी को भेंट देने के लिये भेंट की वस्तुएँ लिये उपस्थित थे और श्रीरामाभिषेक देखने का उत्सुक थे तथा अच्छे अच्छे वस्त्र और बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे ॥ ३९ ॥

महामेघसमप्रख्यमुद्ग्रं सुविभूषितम् ।

नानारत्नसमाकीर्ण कुब्जकैरातका'वृत्तम्\* ॥ ४० ॥

वह रामभवन महामेघ के समान विशाल था और तरह तरह की मणियों से सजा हुआ था । वहाँ पर अनेक छोटे डील डौल के किरात जाति के नौकर भी थे ॥ ४० ॥

\* कुब्जकैरात—किरातानां स्वल्प शरीरकाणां समूहः कैरातकं । (गो०)

\* पाठान्तरे—“कुब्जकैरपिचावृतं”

स वाजियुक्तेन रथेन सारथि-  
 नराकुलं राजकुलं विलोकयन् ।  
 वरुथिना रामगृहाभिपातिना  
 पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४१ ॥

घोड़ों के रथ में सवार सुमंत्र जी, लोगों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग को शोभित करते और सम्पूर्ण पुरवासियों के हृदय को हर्षित करते हुए श्रीरामभवन के द्वार पर पहुँचे ॥ ४१ ॥

ततः समासाद्य महाधनं मह-  
 त्प्रहृष्टरोमा स वभूव सारथिः ।  
 मृगैर्मृगैरश्च समाकुलोत्वणं  
 गृहं वराहस्य शचीपतेरिव ॥ ४२ ॥

विपुल धनराशि से भरे हुए रामभवन में, जो अनेक मृग और मयूरों से भरा हुआ था और उत्तमता में इन्द्रभवन के तुल्य था, पहुँच कर और वहाँ की शोभा देख कर, सुमंत्र बहुत प्रसन्न हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलङ्कृताः  
 प्रविश्य कक्ष्यात्तिदशालयोपमाः ।  
 प्रियान्नरान्नरामयते स्थितान्बहु-  
 नपेत्तु शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४३ ॥

सुमंत्र जी कैलास की तरह सजे हुए श्रीरामभवन की रूपर्ग समान छ्योढ़ियों को नाघते और उन अनेक पुरुषों को जो श्रीराम-

चन्द्र के प्यारे और कृपापत्र थे, हठाते बचाते अन्तःपुर में जा  
पहुँचे ॥ ४३ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता  
रामाभिषेकार्थयुता जनानाम् ।  
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः  
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टः ॥ ४४ ॥

वहाँ भी सुमंत्र ने लोगों को प्रसन्न हो आपस में श्रीरामचन्द्र  
के अभिषेक की बातचीत करते हुए ही देखा । इससे सुमंत्र  
अत्यन्त प्रसन्न हुए । क्योंकि उन लोगों की बातचीत श्रीरामचन्द्र के  
मङ्गल के लिये ही थी ॥ ४४ ॥

महेन्द्रसद्वप्रतिमं तु वेशम्  
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।  
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं  
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४५ ॥

सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी के रहने के इन्द्रभवन के समान  
भवन को देखा, जो रमणीक था और मृग पक्षियों से सेवित  
था और जो प्रभा से प्रकाशमान और उच्च मेरुशिखर के समान  
था ॥ ४५ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारकैश्च  
सोपायनैर्जननपदैर्जनैश्च ।  
कोऽया पराधैश्च विमुक्तयानैः  
समाकुलं द्वारपथं ददर्श ॥ ४६ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, वहाँ भी अनेक देशों से आये हुए असंख्य लोग हाथ जोड़े ( यानी नम्रभाव से ) और भैंटे लिये हुए, अपनी सबारियों से उतर कर नीचे खड़े हुए हैं ॥ ४६ ॥

ततो महामेघमहीधराभं  
प्रभिन्नमत्यङ्गुशमपस्त्वम् ।  
रामौपवाह्यं सचिरं ददर्श  
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४७ ॥

तदनन्तर सुमंत्र ने देखा कि, दाढ़ल की तरह श्याम रंग का और पर्वत के समान ऊँचा शत्रुञ्जय नाम का सुन्दर हाथी, जो अङ्गुश की मार कभी सहता ही न था और जिसके मस्तक से मद चू रहा था, श्रीरामचन्द्र जी की सवारी के लिये खड़ा है ॥ ४७ ॥

स्वलंकृतान्साश्वरथान्सकुञ्जरा-  
नमात्यमुख्याञ्जतशश्व वल्लभान् ।  
व्यपोह्य सूतः सहितान्समन्ततः  
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ॥ ४८ ॥

फिर आगे बढ़ कर सुमंत्र ने देखा कि, अनेक महावत सारथी और साईस अपने अपने हाथियों, रथों और घोड़ों को सजाये हुए तैयार खड़े हैं । फिर देखा कि, श्रीरामचन्द्र के प्रधान मंत्री तथा सैकड़ों कृपापात्र वहाँ चारों ओर उपस्थित हैं । उन सब को हटा, सुमंत्र समृद्धशाली अन्तःपुर में गये ॥ ४८ ॥

तदद्रिकूटाचलमेघसन्निभं  
महाविमानोत्तमवेशमसङ्घवत् ।

आवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः

प्रभूतरत्नं मकरो यथाऽर्णवम् ॥ ४९ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

पर्वत की चोटी के समान ऊँचे, महामैथि की तरह विशाल, और अनेक खण्डों वाले श्रीरामभक्त में सुमंत्र वेरोक्तोंक उसी प्रकार चले गये, जिस प्रकार रत्नों से भरे पूरे समुद्र में मगर निश्चु घुस जाता है ॥ ४९ ॥

अथोध्याकाशम् का पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

घोडशः सर्गः

— : \* : —

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।

प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

सुमंत्र अन्तःपुर की उस छ्योढ़ी को, जिस पर लोगों की बड़ी भीड़ थी, नींघ कर, भीतर की छ्योढ़ी पर, जहाँ कोई भी बाहिरी आदमी न था, पहुँचे ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकविभ्रद्धिर्युवधिर्मृष्टकुण्डलैः ।

अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वनुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

सुमंत्र ने देखा कि, उस छ्योढ़ी पर फरसा और धनुष को लिये, सुन्दर कुण्डल पहिने हुए युवा, जो पहिरा देने में बड़े दक्ष थे और अपने काम में सदा सावधान रहते थे तथा बड़े स्वामी-भक्त थे, पहरा दे रहे हैं ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन्स्वलंकृतान् ।

ददर्श विष्टितान्द्वारिस्त्रयध्यक्षान्युसमाहितान् ॥ ३ ॥

सुमंत्र ने इनके आगे लाल कपड़े पहिने, और सुन्दर वेषभूषा बनाये तथा हाथों में वेत लिये, वृद्ध पुरुष देखे, जो ज़नानी छ्योढ़ी पर बड़ी सावधानी से पहरा दे रहे थे ॥ ३ ॥

[ नोट—“वृद्धान्” और “ख्यक्षान्” शब्द इस श्लोक में देखने से, यह स्पष्ट है कि, रामायणकाल में रनवासों की स्वास छ्योढ़ी पर, वृद्ध लोगों ही का पहरा रहता था । ]

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।

सहसोत्पतिताः सर्वे स्वासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र के हितैषीगण सुमंत्र को आते देख, झटपट बड़े आदर के साथ उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः<sup>१</sup> ।

क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

तब सुमंत्र ने उन विनप्र और सेवानिपुण लोगों से कहा कि, तुम तुरन्त जा कर, श्रीरामचन्द्र जी से कह दो कि, सुमंत्र छ्योढ़ी पर खड़ा है ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।

सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

यह सुन, उन लोगों ने, जो श्रीरामचन्द्र का भला चाहते थे, तुरन्त सीता जी सहित श्रीरामचन्द्र जी को सुमंत्र के आने की सूचना दी ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।

तत्रैवानाययामास राघवप्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> प्रदक्षिणः—सेवानिपुणहृत्यर्थः । ( गो० )

सुमंत्र के आने का समाचार सुन और उन्हें अपने पिता का अन्तरङ्गजन जान कर, श्रीरामचन्द्र जी ने प्रीतिपूर्वक उन्हें भीतर ही बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसङ्काशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।

ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

सुमंत्र ने भीतर जा कर देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सोने के पलंग पर बिछे हुए उत्तम मुलायम बिछौनों पर, कुबेर जैसे आभूषण धारण किये हुए, बैठे हैं ॥ ८ ॥

वराहस्थिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।

अनुलिम्नं पराधर्येन चन्दनेन परन्तपम् ॥ ९ ॥

उनके शरीर में वराह के स्थिर के समान लाल, पवित्र और सुगन्ध वाला चन्दन लगा हुआ है ॥ ९ ॥

स्थितया पार्श्वतश्चापि बालव्यजनहस्तया ।

उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

और उनकी एक ओर बग़ल में चमर लिये जानकी जी बैठी हैं । उस समय देखने पर ऐसा जान पड़ता था, मानों चित्र के सहित चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है ॥ १० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं<sup>१</sup> स्वतेजसा ।

ववन्दे वरदं वन्दी<sup>२</sup> विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी अपने तेज से मध्यान्ह के सूर्य की तरह प्रकाशमान थे । विनय के ज्ञाता सुमंत्र ने वरदाता श्रीरामचन्द्र जी को देख, विनयपूर्वक प्रणाम किया ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> उपपन्न—युक्त । ( शि० ) <sup>२</sup> वन्दी—सुमंत्रः । ( शि० )

प्राञ्जलिस्तु सुखं पृष्ठा विहारशयने स्थितम् ।

राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

और हाथ जोड़ कर कुशल प्रश्न पूँछा : तदनन्तर महाराज से सन्मानित सुमन्त्र ने, सेज पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ १२ ॥

कौसल्यासुपजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।

महिष्या सह कैकेया गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ १३ ॥

हे कौशल्या जी के शोभन पुत्र ! आपको कैकेयी सहित महाराज देखना चाहते हैं, अतः आप तुरन्त वहाँ चलें ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।

ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमन्त्र जी से यह बात सुन कर, पुरुषसिंह महाद्युतिमान श्री-रामचन्द्र, अत्यन्त हप्तित हुए और सुमन्त्र से यह कह कर कि, बहुत अच्छा, अभी चलता हूँ, सीता जो से बोले ॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।

मन्त्रयेते ध्रुवं किञ्चिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

हे देवि ! मेरी माता कैकेयी और पिता जो एकत्र बैठे मेरे अभिषेक के विषय में अवश्य कुछ प्रामण करते हैं ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।

सञ्चोदयति राजानं मदर्थं मदिरेक्षणे ॥ १६ ॥

हे मदिरेक्षणे ! मैं अनुमान करता हूँ कि, मेरी हितैर्भणी चतुरा माता कैकेयी, महाराज का अभिप्राय जान कर, प्रियकामना से मेरे लिये महाराज को कुछ प्रेरणा कर रही है ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामाऽनुवर्तिनी ।

जननी चार्थकामा मे केक्याधिपतेः सुता ॥ १७ ॥

दिष्टया खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।

सुमन्त्रं प्राहिणोददूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

क्योंकि वह केक्य देश के राजा की बेटी और महाराज के इच्छानुसार चलने वालो, मेरी माता कैकेयी, मेरी भलाई चाहती है। यह बड़े ही आनन्द की बात है कि, महाराज ने जो इस समय अपनी प्यारी रानी के यहाँ विराजमान है, मेरी भलाई चाहने वाले सुमन्त्र को मुझे बुलाने भेजा है ॥ १७ ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत्त्र तादृशो दूत आगतः ।

ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

जैसी वहाँ इस समय मेरा हित चाहने वालो सभा है, वैसा ही मेरा हित चाहने वाला दूत भी आया है। निश्चय ही महाराज आज मुझे युवराजपद पर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

अहं शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।

सह त्वं परिवारेण<sup>१</sup>सुखमास्त्व रामस्व<sup>२</sup> च ॥ २० ॥

अब मैं तुरन्त यहाँ से जा कर महाराज के दर्शन करूँगा। तुम अपनी परिचारिकाओं के साथ आनन्द से वार्तालाप करो ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।

आद्वारमनुवद्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी<sup>३</sup> ॥ २१ ॥

१ परिवारेण—परिचारिकासंघेन । ( गो० ) २ रामस्व—वृत्तकीर्तनेन-  
रता भव । ( गो० ) ३ अभिदध्युषी—अभिष्यायन्ती । ( गो० )

इस प्रकार पति का सम्मानसूचक वचन सुन कमलाद्धी सीता जो मङ्गलपाठ करती हुई श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे द्वार तक गयी ॥ २१ ॥

[ सीता जी की हृच्छा नहीं थी कि, श्रीरामचन्द्र जी युवराजपद पर अभिषिक्त हों । उनकी हृच्छा थी कि श्रीरामचन्द्र जी राजसूययज्ञ कर के सार्वभौमपद प्राप्त करें—अतः वे सहेत करती हैं ]

**राज्यं द्विजातिर्भिर्जुष्टं<sup>१</sup> राजसूयाभिषेचनम् ।**

**कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥**

( और बोलीं ) इस राज्य में बहुत से ब्राह्मण रहते हैं । महाराज ! वे तुम्हारा राजसूयाभिषेचन वैसे ही करें, जैसे ब्रह्मा ने इन्द्र का किया था ॥ २२ ॥

[ नोट—राजसूययज्ञ में सब राजाओं को जीत कर यज्ञ किया जाता है । अतः वीर्यशुल्क का सीता भी चाहती है कि, जिस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने विवाह में पराक्रम की परम सीमा प्रदर्शित की, उसी प्रकार राज्याभिषेक के समय सब राजाओं और राक्षसों को जीत कर, निज पराक्रम से वे राज्यप्राप्त करें । शिरोमणि टीकाकार का यह मत है । ]

**दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।**

**कुरञ्जशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥**

मैं आपको राजसूय यज्ञ करने के लिये व्रत-धारण-पूर्वक दीक्षा लिये हुए, मृगचर्म पहने हुए, पवित्र अवस्था में और मृग के सींग हाथ में लिये हुए देख कर, आपकी सेवा करना चाहती हूँ ॥ २३ ॥

पूर्वा दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।

वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

पूर्व दिशा में इन्द्र, दक्षिण दिशा में यम, पश्चिम दिशा में वरुण और उत्तर दिशा में कुवेर तुम्हारी रक्षा करें ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।

निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी से विदा हो और अपने अभिषेक के लिये मङ्गलाचार पूर्वक, सुमंत्र के साथ अपने भवन से रवाना हुए ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।

लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत्प्रद्वाज्ञलिपुटं स्थितम् ॥ २६ ॥

जिस प्रकार पर्वत की कन्दरा में शयन करने वाला सिंह निर्भय हो अपनो गुरुओं से निकलता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अपने भवन से निकले। वाहिर आ कर देखा कि, द्वार पर हाथ जोड़े लक्ष्मण जी खड़े हैं ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत्सुहृज्जनैः ।

स सर्वानर्थिनो दृष्टा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥

बीच की छ्याही पर पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने सुहृदों से मिले और सब लोगों को, जो अभिषेक दर्शनाभिलाषी हो वहाँ उपस्थित हुए थे, देखा और उनका यथोचित सम्मान किया ॥ २७ ॥

ततः पावकसङ्काशमारुरोह रथोत्तमम् ।

वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजतं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर दशरथनन्दन पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी उस दिव्य  
रथ पर सवार हुए, जो अग्नि के समान चमकता था और जो  
व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ था ॥ २८ ॥

**मेघनादप्रसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।**

**मुष्णन्तमिव चक्षूषि प्रभया हेमवर्चसम् ॥ २९ ॥**

वह रथ जब चलता था, तब उसके चलने का शब्द मेघ की  
गरजन के समान होता था । उसमें सुनहला और मणियों की  
पञ्चीकारी का काम किया गया था । उसको देखने से देखने वाले  
की आँखें जैसे ही चौधिया जाती थीं, जैसे सूर्य को देखने से चौधि-  
याती हैं ॥ २६ ॥

**करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।**

**हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥**

उसमें हाथी के बच्चों जैसे बड़े डोलडौल के घोड़े जुते हुए थे ।  
वह रथ, इन्द्र के रथ की तरह शीघ्र चलने वाला था ॥ ३० ॥

**प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।**

**स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥**

श्रीराम जी रथ में बैठ गोभा से दीप्तिमान हुए । उनका रथ  
बड़े बेग से चला जा रहा था और उसके चलते समय आकाश  
में मेघ के गरजने जैसा शब्द हो रहा था ॥ ३१ ॥

**निकेतान्निर्ययौ श्रीमान्महाब्रादिव चन्द्रमाः ।**

**छत्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥**

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी उस रथ पर सवार हो भवन के  
बाहिर आये, उस समय पेसा बोध हुआ, मानों महाप्रकाशमान

चन्द्रमा मेघ से निकला हो । श्रीरामचन्द्र जी के छेटे भाई लक्ष्मण  
कृष्ण चँवर ले ॥ ३२ ॥

जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥

बड़े भ्राता की रक्षा के लिये उनके पीछे उसी रथ पर बैठे ।  
उस रथ के चलने के समय जनता ने जयनाद कर बड़ा तुमुल  
शब्द किया ॥ ३३ ॥

तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसन्निभाः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलने पर उनके पीछे चारों ओर से जनसमूह  
चला । श्रीरामचन्द्र के रथ के पीछे बढ़िया घोड़ों और पर्वत के  
समान बड़े ऊँचे हाथियों पर बैठ, लोग हो लिये ॥ ३४ ॥

[ नोट—लोगों को यह मालूम न था कि, किसी कारण विशेष से  
श्रीरामचन्द्र जी इंस महाराज ने बुलाया है । लोगों ने तो यह समझा कि,  
श्रीरामचन्द्र अभिषेकक्रिया के लिये जा रहे हैं । अतः एक जलूस अपने  
आप ही बन गया । ]

अनुजग्मुस्तदा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।

अग्रतश्चास्य सन्नद्धाश्चन्दनागरुरुषिताः<sup>१</sup> ॥ ३५ ॥

खङ्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो<sup>२</sup> जनाः ।

ततो वादित्रशब्दास्तु स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥

१ रुषिताः—लिप्साः । ( वि० ) २ आशंसवः—रामश्रेयआशंसमानाः ।  
( वि० )

श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाने वाले घोड़ों और हाथियों पर बैठ कर जाने वालों की तथा पैदल चलने वाले लोगों की संख्या लाखों पर थी। श्रीरामचन्द्र जी के रथ के आगे बीर सैनिक थे, जिनके माथे पर चन्दन और अगर लगा हुआ था और उनके हाथों में तलवारें और धनुष थे। वे श्रीरामचन्द्र जी की भलाई की आशा रखने वाले थे। उनके पीछे बाजे वाले और बाजे वालों के पीछे बंदी जन श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति करते हुए चले जाते थे ॥३५॥ ३६॥

**सिंहनादाश्च शूराणां तथा शुश्रुविरे पथि ।**

**हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूपिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥**

बीरों का सिंहनाद मार्ग में सुन पड़ता था। अटारी और झरोखों में बैठी हुई अच्छे भूषणों से भूषित, ॥ ३७ ॥

**कार्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिन्द्रमः ।**

**रामं सर्वानवद्याङ्गयो रामप्रियचिकीर्षया ॥ ३८ ॥**

**वचोभिरउर्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।**

**नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥**

खियाँ चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर फूलों की वर्षा कर रही थीं और उस पुष्पवर्षा के बीच शत्रुनिकन्दन श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। वे सब सर्वाङ्गसुन्दरी खियाँ जो अटारियों पर बैठी थीं, श्रीरामचन्द्र जी की मङ्गलकामना से प्रणाम करती थीं, मङ्गलगीत गा रही थीं और कहती थीं, कि हे मातृनन्दन ! आज तुम्हारी माता निश्चय ही बड़ी प्रसन्न होंगी ॥३८॥ ३९॥

**पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमवस्थितम् ।**

**सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥४०॥**

अमन्यन्त हि ता नार्ये रामस्य हृदयप्रियाम् ।  
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत्पः ॥ ४१ ॥

क्योंकि वे आज तुमको पिता के दिये हुए राजसिंहासन पर बैठे हुए देख सफल मनोरथ होंगी । उस समय उन सुभगा लियों ने सीता जी को, जो श्रीरामचन्द्र की प्राणप्यारी थी, सब सौभाग्यवती लियों से श्रेष्ठ माना और इसका कारण यह समझा कि, पूर्वजन्म में सीता ने अवश्य ही वड़ी तपस्या की है ॥ ४० ॥ ४१ ॥

रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।  
इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिनरोत्तमः ॥ ४२ ॥

शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ।  
आत्मसम्पूजनैः शृण्वन्ययौ रामो महापथम् ॥ ४३ ॥

रोहिणी ने जिस प्रकार चन्द्रमा को अपना पति पाया, वैसे ही सीता जी ने श्रीरामचन्द्र को अपना पति पाया है । इस तरह भवनों की छतों पर बैठी हुई लियों के ऐसे प्रिय और प्रशंसात्मक वचन, सङ्क पर से ही, पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी सुनते हुए, बड़े लंबे चौड़े मार्ग पर जा पहुँचे ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

स राघवस्तत्र कथाप्रपञ्चा-<sup>१</sup>  
ञ्जुश्राव लोकस्य समागतस्य ।  
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः  
प्रहृष्टरूपस्य पुरो जनस्य ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> कथाप्रपञ्चात्—लौकिककथा विस्तारान् । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जो आये हुए लोगों के मुख से अनेक प्रकार की बातें तथा पुरवासियों के मुख से निज अधिकार प्राप्ति के विषय में तरह तरह की बातें सुनते चले जाते थे, ॥ ४४ ॥

**एष श्रियं गच्छति राघवोद्य**

राजप्रसादाद्विपुलाङ्गमिष्यन् ।  
एते वयं सर्वसमृद्धकामा  
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४५ ॥

( वे लोग कह रहे थे ) यह श्रीरामचन्द्र शाज राजा को कृपा से विपुल लक्ष्मी पावेंगे और हम लोग, जिनके यह शासनकर्ता होंगे सफल मनोरथ या पूर्णकाम हो जायेंगे ॥ ४५ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्व  
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।  
न ह्यप्रियं किञ्चन जातु कश्चि-  
त्पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४६ ॥

चिरकाल के लिये निःसन्देह यह श्रीरामचन्द्र समस्त राज्य पावेंगे । इनका राज्य पाना हमारे लिये बड़ा लाभदायक होगा, क्योंकि इनके राजा होने पर किसी प्रकार का अनिष्ट देखना न पड़ेगा ॥ ४६ ॥

स धोषवद्विश्वं हर्यमैतञ्जनैः  
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।  
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-  
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४७ ॥

घोड़े हाथी हिनहिना और विंधाड़ रहे थे । सूत, मागध और बंदीजनों द्वारा अपने बंश का वालान तथा अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीरामचन्द्र जी, वैसे ही बले जाते थे, जैसे कुवेर जी जाते हैं ॥ ४७ ॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसङ्कुलं  
महाजनौघप्रतिपूर्णचत्वरम् ।  
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसञ्चयं  
ददर्श रामो रुचिरं महापथम् ॥ ४८ ॥

इति षोडशः सर्गः ॥

जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, रास्ता विना दाँतों के हाथियों और दाँत वाले हाथियों, रथों और घोड़ों से भरा है । चौराहों पर भद्र मनुष्यों की अपार भीड़ है । बाजारों की दुकानें रत्नों तथा अन्य सौदागरी माल से भरी हुई हैं । रास्ते अच्छी तरह सजे हुए हैं ॥ ४८ ॥

अयोध्याकाशड का सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

### सप्तदशः सर्गः

—:०:—

स रामो रथमास्थाय संप्रहृष्टसुहृज्जनः ।

पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हग्रुधूपितम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जाते जाते देखा कि, उनके सुहृद प्रसन्न हो रहे हैं, स्थान स्थान पर ध्वजा पताकाएँ फहरा रही हैं, जगह जगह सुगन्धित गूगुल आदि चीज़ें जलायी जा रही हैं, जिनकी सुगन्धि चारों ओर फैल रही है ॥ १ ॥

अपश्यन्नगरं श्रीमान्नानाजनसमाकुलम् ।

स गृहैरभ्रसङ्काशैः पाण्डुरूपशोभितम् ॥ २ ॥

अनेक जनों से पूर्ण और श्वेत मेघ के समान गृहों से सुशोभित नगर को श्रीरामचन्द्र जी ने देखा ॥ २ ॥

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागरुधूपितम् ।

चन्दनानां च मुख्यानमगरुणां च सञ्चयैः ॥ ३ ॥

अगर की धूप से सुवासित राजमार्ग पर हो कर, श्रीरामचन्द्र जी जा रहे थे। सड़कों के किनारे चन्दन और अगर की लकड़ी के ढेर लगे हुए थे ॥ ३ ॥

उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।

अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥

अच्छे अच्छे इत्र, रेशमी व ऊनी वस्त्र, विना विधे मेती, और स्फटिक मणियों के ढेरों से ॥ ४ ॥

शोभयानमसम्बाधैस्तं राजपथमुत्तमम् ।

संवृतं विविधैः पण्यर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥

वे उत्तम राजमार्ग अवाधित ( सब वस्तुएँ खुली हुई रखी थीं, चीरों का डर न था ) सुशोभित हो रहे थे। दुकानें अनेक प्रकार के सौदागरी के सामानों से तथा खाने पीने की चीज़ों से भरी हुई थीं ॥ ५ ॥

१ असम्बाधः—चौरादिबाधा रहितम् । ( शि० ) २ संवृतं—व्यासं ।  
( वि० )

ददर्श तं राजपथं दिवि देवपथं यथा ।  
दध्यक्षतहविर्लजैर्धूपैरगरुचन्दनैः ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, वह राजमार्ग उसी प्रकार सुशोभित है जिस प्रकार स्वर्ग में देवपथ सुशोभित होता है । शकुन के लिये जगह जगह दही, अक्षत, खीर, लावा, धूम, अगर, चन्दन रखे हुए थे ॥ ६ ॥

नानामाल्योपगन्धैश्च सदाऽभ्यर्चितचत्वरम् ।  
आशीर्वादान्बहूञ्चृणवन्सुहृद्दिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥

अनेक प्रकार के पुष्पों और अनेक सुगन्ध द्रव्यों से चौराहे सुशोभित थे । श्रीरामचन्द्र जी सुहृदों के दिये हुए आशीर्वादों को सुनते जाते थे ॥ ७ ॥

यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान्ययौ ।  
पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥

और यथोचित उन सब लोगों का आदर करते जाते थे । अनेक बूढ़े लोग कहते थे कि, जिस प्रकार तुम्हारे बाबा (पितामह) और दादा (प्रपितामह) ने राज्य किया ॥ ८ ॥

अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।  
यथा स्म लालिताः पित्रा यथा पूर्वैः पितामहैः ॥ ९ ॥

आज उसी प्रकार तुम भी राजसिंहासन पर बैठ कर, राज्य करो । तुम्हारे पूर्वजों के राज्य में हम जिस प्रकार सुखी थे ॥ ९ ॥

ततः सुखतरं रामे वत्स्यामः सति राजनि ।

अलमद्य हि भुक्तेन<sup>१</sup> परमार्थेरलं च नः ॥ १० ॥

उससे भी अधिक हम सब तुम्हारे सुशासन में सुखी हों। हम लोगों को अब इस लोक और परलोक के सुखों से भी कुछ प्रयोजन नहीं ॥ १० ॥

यथा पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ।

ततो हि नः प्रियतरं नान्यत्किञ्चिद्विष्यति ॥ ११ ॥

क्योंकि राज्याभिषिक हो कर, श्रीरामचन्द्र के इस मार्ग से निकलने पर और उनको देखने पर, जो आनन्द हमको प्राप्त होगा, उससे बढ़ कर प्रिय और सुखदायक हमारे लिये और कुछ भी नहीं है ॥ ११ ॥

यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ।

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः कथाः शुभाः ॥ १२ ॥

आत्मसम्पूजनीः शृणवन्ययौ रामो महापथम् ।

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ॥ १३ ॥

अमित तेजस्वी श्रीरामचन्द्र के राज्याभिषेक से बढ़ कर हमारे लिये और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इस प्रकार अपने सुहृदों तथा अन्य जनों के मुख से अपनी प्रशंसा सुन, उदासीन भाव से श्रीरामचन्द्र जी चले जाते थे। श्रीरामचन्द्र जी की ओर से न तो किसी का मन ही हटता था और न उनकी ओर से किसी की आँख ही हटती थी ॥ १२ ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> भुक्तेन—ऐहिक विषय भोगज सुखेन । ( रा० )

नरः शक्वनोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ।

यथ रामं न पश्येत् यं च रामो न पश्यति ॥ १४ ॥

हालाँ कि श्रीरामचन्द्र दूर निकल आते थे । जो श्रीरामचन्द्र को न देख पाता था या जिसे श्रीरामचन्द्र जी नहीं देख पाते थे ॥ १४ ॥

निन्दितः स वसेल्लोके स्वात्माऽप्येन विगर्हते ।

सर्वेषां हि स धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ॥ १५ ॥

उसकी लोग भी निन्दा करते थे और वह स्वयं भी अपने को धिक्कारता था । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी की दया चारों वर्णों पर समान रूप से थी ॥ १५ ॥

चतुर्णां हि वयस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ।

चतुष्पथान्देवपथांश्वैत्यान्यायतनानि॒ च ॥ १६ ॥

इसीसे चारों वर्ण के लोग अपनी उम्र के अनुसार उनमें अनुराग रखते थे अथवा उनके अनुयायी थे । राजकुमार श्रीरामचन्द्र चेताहों, देवालयों, चैत्रवृक्षों, सभामण्डपों ॥ १६ ॥

प्रदक्षिणे परिहरन्जगाम नृपतेः सुतः ।

स राजकुलंमासाद्य मेघसङ्कोपमैः शुभैः ॥ १७ ॥

के पास से इस प्रकार जाते जिससे उनकी प्रदक्षिणा हो जाती थी । ( चलते चलते ) श्रीरामचन्द्र जी राजभवन में पहुँचे । वह राजभवन मेघ समूह के समान जान पड़ता था ॥ १७ ॥

१ देवपथान्—देवतायान । (गो०) २ आयतनानि—समादीनि । (गो०)

३ राजकुलं—राजगृहम् । ( गो० )

प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ।

आवारयद्विर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ॥ १८ ॥

और उस राजभवन के विविध शिखर, कैलास पर्वत के शिखर जैसे जान पड़ते थे । भवन की अनेक सफेद अटारियाँ गगनमण्डल को उसी प्रकार ढाये हुए थीं, जैसे अनेक सफेद रंग के विमान आकाश को ढालते हैं ॥ १८ ॥

वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ।

तत्पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रभवनोपमम् ॥ १९ ॥

इस राजभवन के क्रीड़ागृह (खेल घर) रत्नों की जड़ाऊ कारीगरी से सुशोभित थे (अर्थात् उनकी दीवालों पर रत्नों की पच्चीकारी का काम था) । यह राजभवन पृथिवी भर के राजभवनों से श्रेष्ठ और इन्द्रभवन के समान था ॥ १९ ॥

राजपुत्रः पितुर्वेश्यं प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ।

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोजतिक्रम्य वाजिभिः ॥ २० ॥

राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता के ऐसी शोभा से युक्त राजभवन में पहुँचे । वे तीन ड्योहियों पर, जहाँ तीरन्दाज़ सिपाहियों के पहरे लगे हुए थे, रथ पर बैठे हुए ही चले गये ॥ २० ॥

पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ।

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः ।

सन्निवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तं पुनरभ्यगात् ॥ २१ ॥

तदनन्तर चौथी और पाँचवीं दो ड्योहियाँ उन्होंने पैदल पार कीं । इस प्रकार राजभवन की सब ड्योहियाँ नांघ और साथ के

१ वर्धमानगृहै—क्रीड़ागृहैः । ( २० )

लोगों को अन्तिम ड्योही पर छोड़ कर, दशरथनन्दन ने महाराज के अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥ २१ ॥

ततः प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा  
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे ।  
प्रतीक्षते तस्य पुनर्विनिर्गमं  
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥  
इति सप्तदशः सर्गः ॥

तदनन्तर, श्रीरामचन्द्र जी के अपने पिता के पास चले जाने पर, सब लोग परमानन्दित हो, उनके लौटने की उसी प्रकार चाहना करने लगे, जिस प्रकार पूर्णिमा के चन्द्रमा के उदय की समुद्र चाहना करता है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाशड का सप्तहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: \* :—

### अष्टादशः सर्गः

—: o :—

स ददर्शसने<sup>१</sup> रामो निषण्णं पितरं शुभे ।  
कैकेयीसहितं दीनं मुखेन परिशुच्यता ॥ १ ॥

अन्तःपुर में जा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, महाराज दशरथ दीनभाव से कैकेयी सहित पलङ्घ पर बैठे हैं और उनके मुख का रंग फीका पड़ गया है ॥ १ ॥

<sup>१</sup> आसने—पर्यह्ने । ( गो० )

स पितुश्चरणौ पूर्वमधिवाद्य विनीतवत् ।

ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

उन्होंने जाते ही पहले बड़े विनीतभाव से पिता के चरणों में माथा नवाया और फिर माता कैकेयी को बड़ी सावधानी से प्रणाम किया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा च वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः ।

शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र को देख महाराज दशरथ केवल ‘राम’ ही कह सके । क्योंकि फिर दुःखी महाराज के नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी और उनका कण्ठ गट्टगट्ट हो गया । फिर वे न तो कुछ देख ही सके और न कुछ बोल ही सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्टा रूपं भयावहम् ।

रामोऽपि भयमापनः पदा स्पृष्टेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार सर्प को पैर से छूने पर मन में भय का सञ्चार हो जाता है, उसी प्रकार पिता को भयावह दशा देख, श्रीरामचन्द्र जी के मन में भय का सञ्चार हुआ ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसन्तापकर्शितम् ।

निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥

उस समय महाराज की सारी इन्द्रियाँ विकल थीं, वे शोक सन्ताप से क्लैशित हो रहे थे और मानसिक विकलता और विद्या के कारण बारंबार दीर्घि निश्वास छोड़ रहे थे ॥ ५ ॥

ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं ध्रुभ्यन्तमिव सागरम् ।

उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

प्रकृति से ही द्वाम को न पाने वाले, किन्तु समय के फेर से लहरों से जुँध सागर की, राहु से ग्रस्त सूर्य की, मिथ्या भाषण से अृषि की जो दशा होती है, वही दशा उस समय महाराज दशरथ की थी ॥ ६ ॥

अचिन्त्यकल्पं<sup>१</sup> हि पितुस्तं शोकमुपधारयन् ।

बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

अपने पिता की ऐसी आसम्भावित दशा देख और उनके शोक का कारण न जान कर, श्रीरामचन्द्र जी के मन में वैसी ही खलबली मची जैसी कि, पूर्णमासी के दिन समुद्र में मचती है ॥ ७ ॥

चिन्तयामास च तदा रामः पितृहिते रतः ।

किं स्विद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिता की सदा भलाई चाहने वाले श्रीरामचन्द्र, मन ही मन सोचने लगे कि, क्या कारण है जो, आज पिता मुझे देख कर दुःखी हो रहे हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्टा कुपितोऽपि प्रसीदति ।

तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

और दिन तो पिता जी कुछ होने पर भी मुझे देखते ही ग्रस्त हो जाया करते थे, किन्तु आज मुझे देख कर, उन्हें क्यों कष्ट हो रहा है ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> अचिन्त्यकल्प—असम्भावितम् । ( गो० )

स दीन इव शोकार्ता विषण्णवदनद्युतिः ।

कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

वे क्यों दीनों की तरह शोक से आर्त, उदास और हीनद्युति हो रहे हैं। (इस प्रकार सोचते हुए जब स्वयं इसका कारण निश्चित न कर सके तब) कैकेयी को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥१०॥

कच्चिन्मया नापराद्यमज्ञानाद्येन मे पिता ।

कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वं चैवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

यदि मुझसे अनजाने कोई अपराध हो गया हो, जिससे कुपित हो पिता जी मुझसे नहीं बोलते तो, मेरी ओर से आपही इनको प्रसन्न कर दीजिये ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किंनु सदा मां प्रति वत्सलः ।

विवर्णवदनो दीनो न हि मामभिभाषते ॥ १२ ॥

अप्रसन्न मन होने पर भो पिता जी की मुझ पर सदा कृपा रहती थी। किन्तु आज मैं देखता हूँ कि, उनके चेहरे का रंग उत्तर गया है और वे दीनभाव से बैठे हैं और मुझसे बोलते भी नहीं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वाऽपि कच्छिदेनं न वाधते ।

सन्तापो वाऽभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥

क्या पिता जी को कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट तो नहीं दुःखी कर रहा है? क्योंकि मनुष्य का सदा सुखी रहना दुर्लभ है ॥ १३ ॥

कच्चिन् किञ्चिद्भरते कुमारे प्रियदर्शने ।

शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातृणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

अथवा प्रियदर्शन कुमार भरत में वा महापराक्रमी शत्रुघ्न में  
व हमारी माताश्रों में अथवा मुझमें तो महाराज ने कोई बुराई नहीं  
देखी ॥ १४ ॥

**अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः ।**

**मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥**

महाराज का कहना न मान कर, उनको असन्तुष्ट एवं कुपित  
कर, मैं एक मुहूर्त भी जीना नहीं चाहता ॥ १५ ॥

**यतोमूलं नरः पश्येत्पादुर्भावमिहात्मनः ।**

**कथं तस्मिन् वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥**

क्योंकि जिन पिता माता से मनुष्य की उत्पत्ति होती है, उन  
प्रत्यक्ष देवताश्रों की आज्ञा क्यों न मानी जाय ॥ १६ ॥

**कच्चित्ते परुषं किञ्चिदभिमानात्पिता मम ।**

**उक्तो भवत्या कोपेन यत्रास्य लुलितं<sup>१</sup> मनः ॥ १७ ॥**

कहीं तुमने तो अभिमान से कोई कठोर वचन महाराज से  
नहीं कह दिया, जिसको सुन, कङ्क होने के कारण महाराज का मन  
बिगड़ गया हो ? ॥ १७ ॥

**एतदाचक्ष्व मे देवि तत्वेन परिपृच्छतः ।**

**किञ्चिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥**

हे देवि ! मैं जो तुझसे पूँछता हूँ, उसको मुझे तू ठीक ठीक  
समझा कर कह । महाराज के मन में इस अपूर्व विकार के उत्पन्न  
होने का कारण क्या है ? ॥ १८ ॥

<sup>१</sup> लुलितं—कलुषितं । ( गो० )

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।

उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह बैहथा, और अपने मतलब में चौकस कैकेयी, धृष्टतापूर्वक बोली ॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किञ्चन ।

किञ्चिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नाभिभाषते ॥ २० ॥

हे राम ! न तो राजा तुम पर अप्रसन्न हैं और न उनके शरीर में कोई पीड़ा है, किन्तु इनके मन में तुम्हारे विषय में एक बात है, जिसे यह तुम्हारे डर से कहते नहीं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्योपवर्तते ।

तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥

तुम इनके बड़े प्यारे हो, अतः तुमसे अप्रिय वचन कहने को इनकी वाणी नहीं खुलती, पर तुमको उसके अनुसार, जिसकी इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा कर रखी है, कार्य करना उचित है ॥ २१ ॥

एष मद्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।

स पश्चात्प्यते राजा यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥

पहिले इन्होंने आदर पूर्वक मुझे वर दिया था और उसके लिये अब यह गँडारों को तरह सन्ताप कर रहे हैं ॥ २२ ॥

अतिसूज्य<sup>१</sup> ददामीति वरं मम विशांपतिः ।

स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

<sup>१</sup> अतिसूज्य — प्रतिज्ञाय । ( गो० )

मैं वर दूँगा ऐसी प्रतिज्ञा कर पीछे उसका बचाव सोचना  
वैसा ही है जैसा कि, पानी वह जाने पर उसको रोकने के लिये  
बांध बांधना ॥ २३ ॥

**धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।**

**तत्सत्यं न त्यजेद्राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥**

हे राम ! कहीं ऐसा न हो कि, कुद्ध हो तुम्हारे लिये महाराज  
सत्य को त्याग बैठें । क्योंकि महात्माओं का कथन है कि, सत्य ही  
धर्म की जड़ है ॥ २४ ॥

**यदि तद्वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाऽनुभम् ।**

**करिष्यसि ततः सर्वमार्थ्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥**

अगर तुम यह बात स्वीकार करते हो कि, महाराज उचित  
अथवा अनुचित जो कुछ कहें, उसे तुम करोगे, तो मैं तुम्हें सब  
हाल बतला दूँ ॥ २५ ॥

**यदि त्वभिहितं राजा त्वयि तत्र विपत्स्यते ।**

**ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥**

अथवा यदि महाराज तुमसे स्वयं न कहें, तो मैं इनकी ओर  
से जो कुछ कहूँ, उसे तुम मानों, तो मैं कहने को तैयार हूँ । क्योंकि  
ये तो तुमसे न कहैंगे ॥ २६ ॥

**एतत्तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम् ।**

**उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसन्निधौ ॥ २७ ॥**

जब इस प्रकार कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा, तब श्रीराम-  
चन्द्र जी अत्यन्त व्यथित हो, महाराज के पास बैठी हुई कैकेयी से  
बोले ॥ २७ ॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदशं वचः ।

अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥

हा ! धिकार है ! हे देवि ! तुमको ऐसी बात कहनी उचित नहीं । मैं महाराज के कहने से, और कामों को तो कोई बात ही नहीं, अग्नि में गिरने को तैयार हूँ ॥ २८ ॥

भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे ।

नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥

परम गुरु हितकारी महाराज पिता जी के कहने से मुझे हलाहल विष पीना और समुद्र में कूद पड़ना भी स्वीकार है ॥ २६ ॥

तदब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।

करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विनाभिभाषते ॥ ३० ॥

अतएव हे देवि ! जो कुछ महाराज की इच्छा हो सो तू मुझ से कह । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा । माता ! यह सदा याद रख कि, राम दो प्रकार की बातें कहना नहीं जानता । अथवा राम, जो कहता है वही करता है ॥ ३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या<sup>१</sup> सत्यवादिनम् ।

उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

जब सत्यवादी श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसे विनययुक वचन कहे, तब सर्वश्रेष्ठा कैकेयी ये अत्यन्त कठोर वचन बोली ॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव ।

रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> अनार्या — सर्वश्रेष्ठा । ( शि० )

हे रामचन्द्र ! पूर्वकाल में जब देवताओं और असुरों में युद्ध हुआ था, तब उसमें महाराज बाण के लगने से घायल हुए थे । उस समय मैंने इनकी रक्षा की थी । तब इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

अत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम् ।

गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

उन दो में से, आज मैंने एक से तो भरत का राज्याभिषेक और दूसरे से आज ही तुम्हारा दण्डकारण्य वन में जाना मांगा है ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि ।

आत्मानं च नरश्रेष्ठं मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! यदि तुम अपने पिता को और अपने आपको सत्यप्रतिज्ञ बनाये रखना चाहते हो तो, मैं जो कहूँ उसे सुनो ॥ ३४ ॥

सन्निदेशो पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम् ।

त्वयाऽरण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

तुम्हारे पिता ने जो कुछ कहा है, उसको मान कर, तुम चौदह वर्ष के लिये वन को चले जाओ ॥ ३५ ॥

भरतस्त्वभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम् ।

त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

और महाराज ने तुम्हारे अभिषेक के लिये जो यह समस्त सामग्री एकत्र की है, उससे भरत का राज्याभिषेक हो ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।

अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाजिनधरो वस ॥ ३७ ॥

तुम इस अभिषेक को त्याग कर और जटा और मृगचर्म धारणा  
कर, चौदह वर्ष दण्डकारण्य में वास करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपुरे प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।

नानारत्नसमाकीर्णं सवाजिरथकुञ्जराम् ॥ ३८ ॥

और भरत जी को सलपुर में रह कर, इस पृथिवी का, जो  
नाना रक्तों से और हाथी धोड़ों से परिपूर्ण है, शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः ।

शोकसंक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

यही कारण है कि, महाराज करुणा से परिपूर्ण हैं और शोक  
से उनका मुख शुष्क हो रहा है और वे तुम्हारी ओर देख भी नहीं  
सकते ॥ ३९ ॥

एतत्कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन ।

सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

हे रघुनन्दन ! तुम महाराज का यह कहना मानो और इनकी  
बात को सत्य कर अर्थात् पूरी कर इनका उद्घार करो ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां

न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।

प्रविव्यथे चापि महानुभावो

राजा तु पुत्रव्यसनाभितसः ॥ ४१ ॥

इति अष्टादशः सर्ग ॥

जब कैकेयी ने ऐसे कठोर वचन कहे, तब भी उन्हें सुन कर  
ओरामचन्द्र को कुङ्क भी शोक न हुआ ; किन्तु महाराज (जो

पहिले ही महादुःखी थे ) पुत्र के भावी कष्टों का विचार कर  
पुनः सन्तस हुए ॥ ४१ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्टारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—;\*;—

### एकोनविंशः सर्गः

तदपियमित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।

श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदप्रवीत् ॥ १ ॥

शत्रुहन्ता श्रीरामचन्द्र, मरण के समान पीड़ादायक कैकेयी के वचन सुन कर, ज़रा भी दुःखी न हुए और उससे बोले ॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः<sup>१</sup> ।

जटाजिनधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

“बहुत अच्छा” महाराज की प्रतिज्ञा पूरी करने को मैं जटा और बल्कल वस्तु धारण कर, अभी यहाँ से वन को जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।

नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापुरमर्निदमः ॥ ३ ॥

किन्तु मैं यह अवश्य जानना चाहता हूँ कि, शत्रुहन्ता दुर्धर्ष महाराज, पूर्ववत् मुझसे क्यों नहीं बोलते ; इसका कारण क्या है ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> इतः—अस्माज्जगत् । ( वि० )

मन्युर्न च त्वया कायों देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।

यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

हे देवि ! तू रुठ मत । मैं तेरे सामने कहता हूँ कि, मैं जटा  
बल्कल धारण कर वन को चला जाऊँगा । तू प्रसन्न हो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।

नियुज्यमानो विस्त्रिधः<sup>१</sup> किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

मेरा हित चाहने वाले गुरु, पिता और कृतज्ञ महाराज मुझे  
जो आश्चादें, उनकी प्रसन्नता के लिये, ऐसा कौन काम है, जिसे  
मैं निःशङ्क हो न करूँ ? ॥ ५ ॥

अलीकं<sup>२</sup> मानसं त्वेकं हृदयं दहतीव मे ।

स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

मेरे मन में पक अप्रिय बात जो बुरी तरह खटक रही है, वह  
यह है कि, महाराज ने मुझसे भरत के राज्याभिषेक के सम्बन्ध  
में स्वयं कुछ क्यों नहीं कहा ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान्धनानि च ।

हष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरतायाप्रचोदितः<sup>३</sup> ॥ ७ ॥

महाराज की बात रहने दे, मैं तो तेरे ही कहने से प्रसन्नता  
पूर्वक भाई भरत को अकेला राज्य ही नहीं, बल्कि सीता, अपने  
प्राण, इष्ट, धन—सब कुछ दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> विस्त्रिधः—निर्विशङ्कः । ( रा० ) <sup>२</sup> अलीकं—अप्रियं । ( गो० )

<sup>३</sup> प्रचोदितः—त्वयापीतिशेषः । ( माहेश्वरतीर्थी )

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।  
तत्र च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

फिर महाराज पिता जी की तो बात ही क्या है । उनके सत्य की रक्षा के लिये और तेरा काम बनाने के लिये तो मैं कोई भी काम करने से मुँह नहीं मोड़ सकता ॥ ८ ॥

तदाश्वासय हीमं त्वं किंनिवदं यन्महीपतिः ।  
वसुधासक्तनयनो मन्दमशूणि मुश्चति ॥ ९ ॥

सो तू ये सब बातें महाराज को समझा दे । मैं देखता हूँ कि, पिता जी नीची गर्दन कर बैठे हुए आसु गिरा रहे हैं ; सो क्या बात है ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।  
भरतं मातुलकुलादव्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

महाराज की आङ्गा से आज ही दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो, भरत जी को ननिहाल से लिवा लावें ॥ १० ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहमितौगच्छामि सत्वरः ।  
अविचार्यं पितुर्वक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

और मैं तुरन्त इसी समय, पिता के बचन के सम्बन्ध में युक्तायुक्त विचार किये बिना ही, चैदह वर्ष के लिये दण्डकारण्य में वास करने जाता हूँ ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी ।  
प्रस्थानं श्रद्धाना हि त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन और प्रसन्न हो रानी कैकेयी ने श्रीरामचन्द्र जी का वन जाना निश्चय जाना, और वन जाने के लिये वह जल्दी मचाने लगी ॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्वन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।

भरतं मातुलकुलादुपावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

और बोली कि, बहुत अच्छा, अभी दूत शीघ्रगामी घोड़ों पर सवार हो जाते हैं और भरत को मापा के घर से लिवाये जाते हैं ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं<sup>१</sup> मन्ये नोत्सुकस्य<sup>२</sup> विलम्बनम् ।

राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

हे राम ! तुम वन जाने को उत्सुक हो तो, वन जाने में विलम्ब करना अच्छा नहीं । अतः तुम शीघ्र वन की यात्रा करो ॥ १४ ॥

ब्रीहान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते ।

नैतत्किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

और महाराज स्वयं तुमसे वन जाने के लिये जो नहीं कह रहे हैं, सो इसका और कोई कारण नहीं, इसका कारण केवल लज्जा है । सो यह कुछ भी बात नहीं—इसका तुम ज़रा भी विचार मत करो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादभित्वरन् ।

पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा ॥ १६ ॥

१ क्षमं—युक्तम् । (रा०) २ उत्सुकस्य—वनगमनोत्सुकस्य । (रा०)

हे रामचन्द्र ! जब तक तुम इस नगर से वन जाने के लिये प्रस्थान न करोगे, तब तक महाराज न स्नान करेंगे और न भोजन ही करेंगे ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः ।

मूर्छितो न्यपतत्स्मिन्पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयी के इन चचनों को लुन महाराज हाधिक् कह और अत्यन्त शोकपीड़ित हो तथा दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए, मूर्छित हो, सोने के पलंग पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेयाऽभिप्रचोदितः ।

कशयेवाहतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज को उठाया और कैकेयी के कथन से प्रेरित हो चाबुक से पीटे हुए घोड़े की तरह वन जाने को जल्दी करने लगे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम् ।

श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

यद्यपि उस दुष्टा का वह वचन अत्यन्त कठोर था ; तथापि श्रीरामचन्द्र जी को उसके उस वचन से कुछ भी कष्ट न हुआ । वे कैकेयी से बोले ॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।

विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

हे देवि । मैं धन के लोभ से राज्य पाने की कामना नहीं करता । मैं तो राज्य की कामना केवल कर्तव्यपालन के लिये करता था । मुझे तो तू केवल धर्माश्रित ऋषियों के तुल्य जान ।

अर्थात् जिस प्रकार ऋषि अपने जीवन का लक्ष्य केवल धर्मपालन समझते हैं, उसी प्रकार मेरा भी लक्ष्य इस संसार में केवल धर्म का पालन करना है ॥ २० ॥

यदत्रभवतः किञ्चिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।

प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

यदि मैं अपने प्राण दे कर भी पिता जी का कोई हितसाधन कर सकूँ, तो समझ ले वह कार्य हुआ ही रखा है। अर्थात् पिता जी के प्रसन्न करने के लिये मैं प्राण भी दे सकता हूँ—बन जाना तो मेरे लिये कोई बड़ी बात ही नहीं है ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।

यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

क्योंकि, पिता की सेवा और उनकी आङ्गा का पालन करने से बढ़ कर, संसार में दूसरा कोई धर्मचरण है ही नहाँ ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम् ।

वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

महाराज यदि मुझसे न भी कहेंगे, तो भी मैं तेरे ही कहने से चौदह वर्ष जनशून्य वन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किञ्चिदाशंससे गुणम् ।

यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा<sup>१</sup> सती ॥ २४ ॥

हे सती ! मेरी अधीश्वरी हो कर भी निश्चय तू मेरे स्वभाव को न जान पायो। यदि जानती होती तो ऐसी तुच्छ बात पिता जी से न कहती ॥ २४ ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।

ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥ २५ ॥

अच्छ्रा, जो हुध्रा से हुध्रा, मेरे दण्डकारण्य वन जाने में अब इतना ही विलंब है कि, मैं जा कर माता कौशल्या से पूँछ आऊँ और सीता को समझा आऊँ ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।

तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

परन्तु तू ऐसा करना जिससे भरत अच्छ्री तरह राज्य करें और पिता की सेवा शुश्रूषा करें। क्योंकि पुत्र के लिये यही सनातन धर्म है ॥ २६ ॥

स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता ।

शोकादशकनुवन्बाष्पं प्रस्तुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हुए। उनसे बोला तो कुछ गया नहीं; किन्तु शोक से अधीर हो, ढाढ़ मार कर रोने लगे ॥ २७ ॥

वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तदा ।

कैकेय्याश्राप्यनार्याया निष्पपात् महाद्युतिः ॥ २८ ॥

तब महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी ने मूर्खित पिता के व दुष्ट कैकेयी के चरणों में प्रणाम किया और वहाँ से चल दिये ॥ २८ ॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् ।

निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥ २९ ॥

( चलने के पूर्व ) श्रीरामचन्द्र जी ने उन दोनों की परिक्रमा भी की और तदनन्तर अन्तःपुर से बाहिर निकल, अपने इष्टमित्रों को देखा ॥ २६ ॥

तं वाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनु जगाम ह ।

लक्ष्मणः परमकुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र के पीछे पीछे दोनों में आसू भरे और अत्यन्त कुद्ध सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी भी चले ॥ ३० ॥

[ नोट—योकाकारों का मत है कि, लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के साथ अन्तःपुर में गये थे और शयनागार के बाहिर खड़े रह कर, उन्होंने वे सब बातें सुनीं थीं, जो वहाँ कैकेयी और श्रीरामचन्द्र के बीच हुई थीं । मूल में इसका उल्लेख कहीं भी नहीं है तो भी उक्त श्लोक से यह बात सिद्ध है । ]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् ।

शनैर्जगाम सापेक्षो<sup>१</sup> दृष्टिं<sup>२</sup> तत्राविचालयन् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अभिषेक की सामग्री की प्रदक्षिणा की और प्रार्थना की कि, इससे भरत जी का अभिषेक हो तथा उसकी ओर से अपनी निरपेक्षता प्रकट करने को पुनः उसकी ओर न देख, वे वहाँ से धीरे धीरे रवाना हुए ॥ ३१ ॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोपकर्षति ।

लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा ॥ ३२ ॥

राज्याभिषेक न होने से श्रीरामचन्द्र की मुख्युति में तिल भर भी अन्तर न पड़ा । वह जैसे पूर्व थे वैसे ही कान्तिमान बने

१ सापेक्षः—भरतस्यानेनाभिषेकोस्त्वतिप्रार्थनासहितः । ( गो० )

२ दृष्टिं तत्राविचालयन्—स्वयंत्रनिरपेक्षहृत्यर्थः । ( गो० )

रहे । क्योंकि उनमें तो स्वाभाविक कान्ति थी । जैसे कृष्णपत्र के चन्द्रमा को कान्ति, नित्य क्षीण होने पर भी, नहीं बढ़ती ॥ ३२ ॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम् ।

सर्वलोकातिगस्येव<sup>१</sup> लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥ ३३ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी अखिल पृथिवी का राज्य छोड़ कर, वन जा रहे थे, तथापि महायोगी वर को तरह, उनके मन में किसी प्रकार का विकार किसी को न देख पड़ा ॥ ३३ ॥

प्रतिपिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलङ्घ्कुते ।

विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस शुभ छत्र और बढ़िया चँवर को वहाँ छोड़ दिया । फिर रथ को तथा अपने इष्टमित्रों, पुरवासियों एवं बाहिर के लोगों को भी वहाँ से बिहा कर ॥ ३४ ॥

धारयन्मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च ।

प्रविवेशात्मवान्वेशम मातुरप्रियशंसिवान् ॥ ३५ ॥

और उनके दुःख को अपने मन में रख और अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर, वह अप्रिय संवाद छुनाने के लिये, अपनी माता के घर में गये ॥ ३५ ॥

सर्वो द्विभिजनः श्रीमाझैश्रीमतःसत्यवादिनः ।

नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के समीपस्थ लोगों ने भी, सत्यवादी श्रीरामचन्द्र के उस शारीरिक शृङ्खल में जो उन्होंने अभिषेकार्थ किया

<sup>१</sup> सर्वलोकातिगस्य—तुल्यमानावमानस्य परम योगीश्वस्येतर्थः ।

(गो०) २ श्रीमान्—रामाभिषेकार्थं कृतालङ्घातः । ( गो० )

था, कुछ भी अन्तर न पाया और न उनके मन ही में किसी प्रकार की उदासी देख पड़ी ॥ ३६ ॥

**उचितं<sup>१</sup> च महावाहुन् जहौ हर्षमात्मवान् ।**

**शारदः समुदीर्णाशुश्रृन्दतेज इवात्मजम् ॥ ३७ ॥**

जिस प्रकार शरदकालीन चन्द्रमा अपनी प्रभा को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार महावाहु श्रीरामचन्द्र ने अपने स्वाभाविक हर्ष को न छोड़ा ॥ ३७ ॥

**वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम् ।**

**मातुः समीपं धर्मात्माः प्रविवेश महायशाः ॥ ३८ ॥**

जो लोग इधर उधर खड़े थे, उन सब का मधुरवाणी से सत्कार कर, महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी माता कौशल्या के पास पहुँचे ॥ ३८ ॥

**तं गुणैः<sup>२</sup> समतां<sup>३</sup> प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः ।**

**सौमित्रिरनुवत्राज धारयन्दुःखमात्मजम् ॥ ३९ ॥**

महापराक्रमी लक्ष्मण जो भी, जो श्रीरामचन्द्र के सुख दुःख में उनके समान ही सुखी दुःखी होने वाले थे, भाई के दुःख को अपने मन में रखे हुए, उनके पीछे पीछे गये ॥ ३९ ॥

**प्रविश्य वेशमातिभृशं मुदाऽन्वितं  
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिःमागताम् ।**

१ उचितं—सहजं । ( गो० ) २ गुणैः—सुखदुःखादिभिः । ( गो० )

३ समतां प्राप्तः—समान सुख दुःख । ( गो० ) ४ अर्थविपत्तिः—अर्थनाशं । ( गो० ) \* पाठान्तरे “ धीरात्मा । ”

न चैव रामोत्र जगाम विक्रियां  
सुहृजनस्यात्मविपत्तिशङ्क्या<sup>१</sup> ॥ ४० ॥  
इति एकोनविंशः सर्गः ॥

अपनी माता के अर्थ और अपने सुहृदजनों के प्राण के नाश की आशङ्का उपस्थित होने पर भी, श्रीरामचन्द्र के मन में ज़रा भी विकार उत्पन्न न हुआ । वे अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, अपनी माता के घर पहुँचे ॥ ४० ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

### विंशः सर्गः

— : \* : —

तस्मिस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ ।  
आर्तशब्दो महाञ्ज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

पुरुषव्याघ्र श्रीरामचन्द्र जी को विदा माँगने के लिये हाथ जोड़े हुए, महाराज के अन्तःपुर से बाहर आते देख, रनवास की छियों में हाहाकार मच गया ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च ।  
गतिर्यः शरणं चापि स रामोऽय प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे दोरो कर कहने लगीं, जो श्रीरामचन्द्र पिता की प्रेरणा हुए विना ही दास दासियों समेत सब अन्तःपुरवासियों की सब

<sup>१</sup> आत्मविपत्तिशङ्क्या—प्राणनाशशङ्क्या । ( गो० )

अभिलाषाएँ पूरी कर दिया करते हैं और जो हम लोगों के एक मात्र अवलंब हैं—वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा ।  
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

जो श्रीरामचन्द्र, जन्म ही से अपनी जननी कौशल्या की तरह हम सब को मानते चले आते हैं ॥ ३ ॥

न क्रुद्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।  
क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥

और जो कठोर वचन कहने पर भी कभी कुपित नहीं होते और न स्वयं किसी को कुपित करते हैं, प्रत्युत कुपित को भी प्रसन्न कर लिया करते हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र आज वन जा रहे हैं ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्वत नो राजा जीवलोकं चरत्यम्<sup>१</sup> ।  
यो गतिं सर्वलोकानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

जो सब प्राणियों के एक मात्र सहारे हैं, उन्हीं श्रीरामचन्द्र को वनवास दे, महाराज एक अनाड़ी की तरह प्रजा का नाश करने पर उतारूँ हैं ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।  
पतिमात्रुकुशुश्वैव सस्वरं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार वे सब अन्तःपुरवासिनी महाराज दशरथ की रानियां वत्सरहित गौ की तरह, पति की निन्दा करती हुई उच्चस्वर से रोने लगीं ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> चरति—भक्षयति, नाशयतीति । (गो०)

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तः श्रुत्वा व्यालीयता॑ सने ॥ ७ ॥

उस समय महाराज दशरथ जो पहले ही पुत्रशोक से सन्तप्त हो रहे थे, रानियों के आर्तनाद को नुन लज्जा और दुःख के मारे पलंग पर गिर पड़े ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निश्वसन्निव कुञ्जरः ।

जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

उधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी स्वजनों को इस प्रकार दुःख देख और स्वयं दुःखी हो, हाथी की ताह फुँसकार मारते, लद्धमण सहित माता के भवन में पहुँचे ॥ ८ ॥

सोपश्यत्पुरुषं॒ तत्र वृद्धं परमपूजितम् ।

उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान्वहून् ॥ ९ ॥

उन्होंने पहिली ड्योढ़ी पर बैठे हुए आदरणीय वृद्ध द्वार-पालाध्यक्ष को तथा उसके नीचे काम करने वाले अनेक और लोगों को भी वहाँ देखा ॥ ९ ॥

दृष्टैव तु तदा रामं ते सर्वे सहसोत्थिताः ।

जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी को देख उठ खड़े हुए और जयजयकार कर उनको आशीर्वाद दिया ॥ १० ॥

१ व्यालीयत—लज्जा-दुःखभरेणशब्द्यायां विलीनोभूत् । (गो०)

२ पुरुष—द्वारपालाध्यक्षम् । (गो०)

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां दर्दर्श सः ।

ब्राह्मणान्वेदसम्पन्नान्वद्वान्नराज्ञाभिसत्कृतान् ॥ ११ ॥

पहली छ्योढ़ी पार कर श्रीरामचन्द्र जी दूसरी छ्योढ़ी पर पहुँचे और वहाँ पर उन्होंने उन वृद्ध ब्राह्मणों को देखा, जो वेदविद्या जानने वाले होने के कारण राजसन्मानित थे ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान्वद्वांस्त्रुतीयायां दर्दर्श सः ।

ख्लियो वृद्धाश्र बालाश्र द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणों को प्रणाम कर श्रीरामचन्द्र जी तीसरी छ्योढ़ी पर पहुँचे । तीसरी छ्योढ़ी पर देखा कि ख्लियाँ, बूढ़े लोग और बालक पहरा दे रहे हैं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा<sup>१</sup> प्रहृष्टस्ताः प्रविश्य च गृहं ख्लियः ।

न्यवेदयन्त त्वरिता राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

वहाँ की ख्लियों ने आशीर्वाद दिया और प्रसन्न हो तुरन्त भीतर जा कौशल्या जी को श्रीरामचन्द्र जी के आने का आनन्ददायी संवाद सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्याऽपि तदा देवी रात्रि स्थित्वा समाहिता ।

प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी, रात्रि भर नियम पूर्वक रह, पुत्र की हितकामना से विष्णु भगवान् का पूजन कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौमयसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।

अग्निं जुहोति<sup>१</sup> स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

और वे रेशमी साड़ी पहिन, मङ्गलाचार पूर्वक हर्षित हो मंत्रों से हवन करवा रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य च तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।

दर्दश मातरं तत्र हावयन्ती हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामचन्द्र जी माता के पास पहुँच गये और उन्होंने देखा कि, वे हवन करवा रही हैं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यतम् ।

दध्यक्षतं घृतं चैव मोदकान्हविषस्तथा ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने यह भी देखा कि, देवताओं की पूजा के लिये दही, चावल, घी, लड्डू, खोर तैयार हैं ॥ १७ ॥

लाजान्माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं<sup>२</sup> तथा ।

समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

और वहाँ लावा, सफेद पुष्पों की माला, तिल, चावल, ( तिल और जौ की ) लिंचड़ी, खोर, समिधा और जल से भरे कलश रखे हैं ॥ १८ ॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् ।

तर्पयन्तीं<sup>३</sup> ददर्शाद्विदेवतां देववर्णिनीम् ॥ १९ ॥

१ जुहोति—हावयति । अतएव “हावयन्ती” मितिवक्ष्यति । ( गो० )

२ कृसरं—तिलोदनं । ( गो० ) ३ तर्पयन्तीं—प्रीणयन्तीं । ( गो० )

श्रीरामचन्द्र जी ने सफेद वस्त्र पहिने हुए और बहुत दिनों से व्रत करने के कारण कृष्ण शरीर, देवताओं को प्रसन्न करती हुई तथा गौराङ्गी कौशल्या को देखा ॥ १६ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्टा मातृनन्दनमागतम् ।

अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं बडवा यथा ॥ २० ॥

वे बहुत देर बाद, पुत्र को अपने घर में आते देखते ही, छोटे बच्चे वाली घोड़ी की तरह प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चली आयीं ॥ २० ॥

स मातरमभिक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ॥ २१ ॥

परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाग्रातश्च मूर्धनि ।

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जब उनको प्रणाम किया तब उन्होंने उनके दोनों हाथ पकड़, उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और सिर सुँधा । तदनन्तर वे अपने दुराधर्ष पुत्र श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ २१ ॥ २२ ॥

कौशल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ।

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ॥ २३ ॥

कौशल्या ने पुत्रवत्सलता से प्रेरित हो, यह प्यारा और हितकर वचन कहा । हे बेटा ! तुम धर्मतमा, वृद्ध, महात्मा राजर्षियों के समान ॥ २३ ॥

प्राप्नुद्द्वायुश्च कीर्तिं च धर्मं चोपहितं कुले ।

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ॥ २४ ॥

कुलोच्चित आयु, कीर्ति को प्राप्त हो और कुलोच्चित धर्म (कर्तव्य) पालन में सदा निरत रहो। हे राघव ! तुम अब सत्य-प्रतिज्ञ महाराज के (जा कर) दर्शन करो ॥ २४ ॥

अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ।

दत्तमासनमालभ्यैभोजनेन निमन्त्रितः ॥ २५ ॥

क्योंकि वे तुम्हारा आज यौवराज्यपद पर अभिषेक करेंगे। बैठ कर भोजन करने के लिये जब कौशलया जी ने आसन दिया, तब उसे ढू कर ॥ २५ ॥

मातरं राघवः किञ्चिद्ब्रीडात्प्राञ्छलिरब्रवीत् ।

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तदा नतः ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी मन में सकुचाते हुए हाथ जोड़ कर बोले। श्रीरामचन्द्र जी स्वभाव ही से विनष्ट थे, तिस पर इस समय तो वे और भी अधिक नष्ट हो माता के गौरव की रक्षा करते हुए बोले ॥ २६ ॥

प्रस्थितो दण्डकारण्यमापष्टुमुपचक्रमे ।

देवि नूनं न जानीषे महद्यमुपस्थितम् ॥ २७ ॥

हे देवि ! मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ सो आपके पास जाने की आज्ञा मांगने आया। हे माता ! निश्चय ही उपस्थित महाभय तुझे मालूम नहीं है ॥ २७ ॥

इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ।

गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे ॥ २८ ॥

यह तेरे लिये, वैदेही के लिये और लक्षण के लिये दुःख-दायक समय आ पहुँचा है। मैं अब दगड़कारण जा रहा हूँ—अतः अब इस आसन पर बैठ कर क्या करूँगा ॥ २८ ॥

**विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ।**

**चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥ २९ ॥**

अब तो मेरे लिये कुशासन पर बैठने का समय आ गया है। मुझे चौदह वर्ष तक घोर बन में वास करना पड़ेगा ॥ २६ ॥

**मधुमूलफलैर्जीवन्हित्वा मुनिवदामिषम् ।**

**भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ॥ ३० ॥**

अब तो मुनिजन कथित (वर्जित) मांसादिक भोजन ढोइ, मधु कन्दमूल फल आदि मेरे भोजन के पदार्थ हैं। महाराज ने भरत जी को यौवराज्य दिया है अथवा अब मुझे राजोचित राजस भोजन का परित्याग कर मुनिजनोचित कन्दमूल फल का भक्षण कर बन में रहना होगा। यौवराज्यपद महाराज अब भरत को प्रदान करेंगे ॥ ३० ॥

**मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम् ।**

**स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ॥ ३१ ॥**

और मुझे तपस्वी के भेष में बन में रहने की आज्ञा दी है। अतः अब मैं चौदह वर्ष तक विजन बन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

**आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ।**

**सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः<sup>१</sup> परशुना वने ॥ ३२ ॥**

<sup>१</sup> यष्टि—शाखा । (रा०)

और वहाँ जंगली कन्दमूल फल का सेवन कर अर्थात् खा कर, वास करूँगा । श्रोरामचन्द्र जी के इन चर्चनों को सुन, कुख्हाड़ी से काटी हुई साल बृक्ष की डाली की तरह ॥ ३२ ॥

पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्चयुता ।

तामदुःखोचितां दृष्टा पतितां कदलीमिव ॥ ३३ ॥

देवी कौशल्या अचानक भूमि पर गिर पड़ी—मानों स्वर्ग से कोई देवता गिरा हो । केले के पेड़ की तरह ज़मीन पर पड़ी, और दुःख सहने के लिये अनुपयुक ॥ ३३ ॥

रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ।

उपावृत्त्योत्थितां दीनां बडवामिव वाहिताम् ॥ ३४ ॥

पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं विमर्शं च पाणिना ।

सा राघवमुपासीन<sup>१</sup> मसुखार्ता सुखोचिता ॥ ३५ ॥

मूर्खित माता कौशल्या को श्रीरामचन्द्र जी ने झट उठा कर बैठाया । थकावड मिटाने के लिये जिस प्रकार घोड़ी ज़मीन पर लोटती है और उसके सारे शरीर में धूल लग जाती है, उसी प्रकार कौशल्या जी के शरीर में भी धूल लग गयी थी । श्रीरामचन्द्र जी ने उस धूल को अपने हाथ से पोंछा । जो कौशल्या सुख पाने के योग्य थी, वे श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठी हुई, दुःखित हो ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उवाच पुरुषव्याघ्रमुपश्रृण्वति लक्ष्मणे ।

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ॥ ३६ ॥

<sup>१</sup> उपासीन—समीपस्थित । ( वि० )

लक्ष्मण जी के सामने श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं—हे वत्स  
राम ! यदि तुम मेरे गर्भ से उत्पन्न न हुए होते, तो सन्ततिहीन  
होने की ग़लानि ही मन में रहती, किन्तु यह दुःख तो मुझे न  
होता ॥ ३६ ॥

न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ।

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ॥ ३७ ॥

यदि मैं वन्ध्या रहती, तो उस दशा में मुझे इतने दुःख न होते।  
क्योंकि वन्ध्या रहने पर मन में केवल एक वन्ध्या होने ही का दुःख  
होता ॥ ३७ ॥

अप्रजाऽस्मीति सन्तापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ।

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ॥ ३८ ॥

उसे ( वन्ध्या को ) और दूसरा कोई दुःख नहीं होता । हे  
बेटा ! पति के होने से सौभाग्यवती लियों को जो सुख हुआ  
करता है, मेरे भाग्य में वह भी नहीं रहा ॥ ३८ ॥

अपि पुत्रे तु पश्येयसिति रामास्थितं मया ।

सा वहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ॥ ३९ ॥

किन्तु मुझे यह आशा थी कि, पुत्र होने पर मुझे सुख मिलेगा,  
सो भी पूरी न हुई, अब तो मुझे हृदयविदीर्ण करने वाले कठोर  
वचन, ॥ ३९ ॥

अहं श्रोष्ये सपत्रीनामवराणां॑ वरा सती ।

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ॥ ४० ॥

१ अमनोज्ञाति—पर्खाणि । ( गो० ) २ अवराणा—कनिष्ठानां । ( गो० )

अपनी छोटी सौतों के लुनने पड़ेंगे और पटरानी होने पर भी, मुझे अनादर सहना पड़ेगा । खियों के लिये इससे बढ़ कर दुख और कौनसा होगा ? ॥ ४० ॥

**मम शोको विलापश्च यादशोऽयमनन्तकः<sup>१</sup> ।**

**त्वयि सन्निहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ॥ ४१ ॥**

जैसा कि मेरे सामने इस समय यह अपार शोक और विलाप उपस्थित हुआ है । देखो न ! तुम्हारे रहते तो मेरा अपमान होता ही था ॥ ४१ ॥

**किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे ।**

**अत्यन्तं निश्चीतास्मि भर्तुर्नित्यमन्त्रिता<sup>२</sup> ॥ ४२ ॥**

और जब तुम बन चले जाओगे, तब बेटा ! अवश्य ही मेरा मरण होगा । पति की प्यारी होने से, मैंने कितनी ही लाढ़नाएँ सही हैं ॥ ४२ ॥

**परिवारेण कैकेयाः समा वाप्यथवावरा ।**

**यो हि मां सेवते कश्चिदथवाप्यनुवर्तते ॥ ४३ ॥**

कैकेयी की सेवा शुश्रूषा में उद्यत रहने पर भी, कैकेयी की दासी के बराबर भी तो मेरी पूँछ नहीं है । यही क्यों, मैं तो उसकी दासी से भी गयी बीती समझी जाती हूँ । इस समय जो लोग मेरे पक्ष में हैं, या मेरी सेवा करते हैं ॥ ४३ ॥

**कैकेयाः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ।**

**नित्यक्रोधतया तस्याः कथं तु खरवादि<sup>३</sup> तत् ॥४४॥**

<sup>१</sup> अनन्तक—दुष्पारः । (गो०) <sup>२</sup> खरवादि—पर्वतचनशीलं । (गो०)

\* पाठान्तरे—“असम्मता” ।

वे जब देखेंगे कि, कैकेयी के पुत्र भरत युवराज हैं, तब वे मुझ से बोलेंगे तक नहीं। क्योंकर सदा कोधयुक और कठोर वचन बोलने वाली ॥ ४४ ॥

**कैकेया वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता॑ ।**

**दश सप्त च वर्षाणि तव जातस्य॒ राघव ॥ ४५ ॥**

कैकेयी का मुख मैं विषय की मारी देख सकूँगी। हे राम ! यज्ञोपवीत हो चुकने के समय से आज १७ वर्ष बीते ॥ ४५ ॥

**आसितानि प्रकाङ्कन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ।**

**तदक्षयं इदूःखं नोत्सहे सहितुं चिरम् ॥ ४६ ॥**

मैं इतने दिनों से यही आशा लगाये थी कि, जब तुम राजगद्वी पर बैठोगे, तब मेरे दुःखों का अन्त होगा, किन्तु वह न हो कर अब मुझे अपार दुःखों का सामना करना पड़ेगा। अब मैं इस अक्षय दुःखों को बहुत दिनों तक न सह सकूँगी ॥ ४६ ॥

**विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ।**

**अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् ॥ ४७ ॥**

**कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम् ।**

**उपवासैश्च योगैश्च वहुभिश्च परिश्रमैः४ ।**

**दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥**

१ दुर्गता—दुर्दशामापद्मा । ( रा० ) २ जातस्य—उपनयनं कृतं तदनन्तरसप्तदशवर्षाणिजातानि । ( वि० ) ३ योगैः—देवताध्यानैः । ( गो० )  
४ परिश्रमैः—व्रतैः ( गो० ) ।

हे राम ! मुझसे इस दुष्टापे में सौतों का अनादर न सहा जायगा । हे वत्स ! पूर्णिमा के चन्द्र के समान तेरा मुखचन्द्र न देख, मैं दीन दुखिया किस प्रकार यह दीन जीवन बिताऊँगी । मैंने बड़े बड़े उपचास, देवताओं की मानमनौती और व्रत करके तुमको लालन पालन कर, इतना बड़ा किया है । सो मुझ अभागी का सब करना वृथा ही हुआ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

स्थिरं तु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते ।

प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥ ४९ ॥

मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो ( ऐसे दुःख से भी ) नहीं फट जाता । जैसे वर्षाकाल में नदी का गर्भ ( फौट ) नवीन जल से भरने पर भी नहीं फटता ॥ ४६ ॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते

न चावकाशोस्ति यमक्षये मम ।

यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति

प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥ ५० ॥

मैं समझती हूँ, मृत्यु मुझे भूल गई और यमराज के यहाँ भी मेरे लिये जगह नहीं रही । यदि ऐसा न होता तो, जिस प्रकार सिंह रोती हुई हिरनी को बरजारी पकड़ ले जाता है, उसी प्रकार क्या यमराज मुझे भी पकड़ कर अभी न ले जाते ॥ ५० ॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं

न भिद्यते यद्भुवि नावदीर्यते ।

अनेन दुःखेन च देहमर्पितं

ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥

अवश्य ही मेरा हृदय लोहे जैसा कठोर है, जो ऐसा दुःख पड़ने पर भी नहीं फटता और न पृथिवी ही फटती है, जिससे मैं उसमें समा जाऊँ। इससे जान पड़ता है कि, विना मरने का समय आये, कोई मरना भी चाहे, तो मर नहीं सकता ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे  
व्रतानि दानानि च संयमाश्र हि ।

तपश्च तस्म यदपत्यकारणा-

त्सुनिष्फलं वीजमिवोपमूषरे ॥ ५२ ॥

मेरे अनुष्ठित व्रत, दान, संयम और तपस्या—जो मैंने सन्तान के मङ्गल के लिये की थी—इसी प्रकार निष्फल हो गयी, जिस प्रकार ऊसर भूमि में बोये हुए बीज व्यर्थ जाते हैं ॥ ५२ ॥

यदि ह्यकाले मरणं स्वयेच्छ्या  
लभेत कश्चिदगुरुदुःखकर्शितः ।

गताऽहमद्यैव परेतसंसदं<sup>१</sup>

विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

महादुःख पड़ने पर यदि मुँहमार्गी मौत मिल जाती, तो मैं तुम्हारे वियोग में विना बकङ्गे की गौ की तरह—अपने प्राण देकर, यमराज के घर पहुँच गयी होती ॥ ५३ ॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा  
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।

अनुब्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः

सुदुर्बला वत्समिवानुकाङ्क्या ॥ ५४ ॥

हे चन्द्रमुख वेटा ! अब तो मेरा जीना ही बृथा है । जिस प्रकार दुर्वल गौ अपने बछड़े के साथ जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ बन चलूँगी ॥ ५४ ॥

भृशमसुखमर्षिता<sup>१</sup> तदा  
वहु विललाप समीक्ष्य राघवम् ।

व्यसनमुपनिशाम्य<sup>२</sup> सा मह-  
त्सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किन्नरी ॥ ५५ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

महान् दुःख सहने में असमर्थ, रामजननी कौशलया, श्रीराम को सत्य के बंधन में बँधा हुआ देख और अपने को अभागिनी जान, वैसे ही विलाप करने लगी, जैसे अपने पुत्र को बँधा देख, किन्नरी विलाप करती है ॥ ५५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

एकविंशः सर्गः

—:०:—

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् ।  
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई कौशलया जी से, लक्ष्मण जी दुःखी हो, समयान्त्रित वचन बोले ॥ १ ॥

<sup>१</sup> अमर्षिता—सोहु अशक्ता । (गो०) <sup>२</sup> उपनिशाम्य—आलोच्य । (गो०)

न रोचते प्रमाप्येतदार्थे यद्राघवो वनम् ।

त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशं गतः ॥२॥

हे माता ! मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती कि, खी के वश-वर्ती महाराज के कहने से, राजलक्ष्मी को छोड़, श्रीरामचन्द्र जी वन में चले जाय ॥ २ ॥

विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः ।

नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥

अति वृद्ध होने के कारण उनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, और इस बुढ़ापे में भी वे विषयवासना में ऐसे फँसे हैं, जिसका कुछ ठीकठौर नहीं । वे काम के वशीभूत हो जो न कहें सो थोड़ा है ॥ ३ ॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् ।

येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥

मुझे तो श्रीरामचन्द्र का कोई अपराध या दोष ऐसा नहीं देख पड़ता, जिसके कारण वे राज्य से वहिष्कृत किये जाने योग्य समझे जायँ ॥ ४ ॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः ।

स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योस्य दोषमुदाहरेत् ॥ ५ ॥

ऐसा कोई मित्र या शत्रु भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पीछे भी श्रीरामचन्द्र जी को दोषयुक्त बतला सके ॥ ५ ॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् ।

अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥ ६ ॥

इस प्रकार के देवतुल्य, सीधे, संयमी और शत्रुओं पर भी छपा करने वाले, पुत्र को पा कर, अकारण कौन धर्मात्मा पिता त्यागेगा ॥ ६ ॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।

पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तैमनुस्मरन् ॥ ७ ॥

ऐसी लड़कबुद्धि रखने वाले राजा का कहना, राजनीति जानने वाला कोई भी पुत्र कभी न मानेगा ॥ ७ ॥

यावदेव न जानाति क्षश्चिदर्थमिमं नरः ।

तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८ ॥

[ तदनन्तर लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को सम्बोधन कर यह कहा । ]

हे भाई ! लोगों में इस अफवाह फैलने के पूर्व ही आप इस राज्य को अपने अधीन कर लें । मैं इस काम में आपको सहायता दूँगा ॥ ८ ॥

मया पाश्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव ।

कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९ ॥

हे राघव ! जब कि मैं काल की तरह हाथ में धनुष लिये आपकी रक्षा करता हुआ आपके निकट खड़ा हूँ, तब किस की मजाल है, जो आँख उठा कर भी आपको ओर देख सके ॥ ९ ॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुर्जर्षभ ।

करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये ॥ १० ॥

फिर एक दो की तो विसीत ही क्या, यदि सारे के सारे अयोध्यावासी मिल कर भी इस कार्य में विघ्न डालें, तो मैं अपने तीक्ष्ण वाणों से इस अयोध्या को मनुष्यशून्य कर दूँगा ॥ १० ॥

**भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वाऽस्य हितमिच्छति ।**

**सर्वानेतान्वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥ ११ ॥**

भरत के पक्षपाती या उनके हितैषी जो होंगे, उनमें से एक को भी न छोड़ूँगा—सभी को मार डालूँगा । क्योंकि जो लोग सीधे होते हैं, लोग उन्हींको दबाते हैं ॥ ११ ॥

**प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता ।**

**अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां वध्यतामपि ॥ १२ ॥**

यदि कैकेयी के उभाड़ने से हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जाय, तो अवध्य होने पर भी, उनको निःशङ्क हो, मार डालना चाहिये ॥ १२ ॥

**गुरोरप्यवलिप्स्य कार्याकार्यमजानतः ।**

**उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥ १३ ॥**

यदि गुरु भी करने अनकरने सभी काम कर उठे और अहङ्कार वश बुरे रास्ते पर चलने लगे, तो उसको भी दण्ड देना अनुचित नहीं है ॥ १३ ॥

**बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषर्षभ ।**

**दातुमिच्छति कैकेयै राज्यं स्थितमिदं तव ॥ १४ ॥**

राजा किस बलबूते पर या किस हेतु से, ज्येष्ठा रानी के पुत्र के विद्यमान रहते, व्याय से तुम्हें प्राप्त यह राज्य, कैकेयी के पुत्र को दे सकते हैं ? ॥ १४ ॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम् ।

काऽस्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिनाशन् ॥ १५ ॥

हे शत्रुघ्नों के मारने वाले ! आपसे या हमसे वैर कर, किस की मजाल है, जो भरत को राज्य दे सके ॥ १५ ॥

[ लक्ष्मण जी पुनः कौशलया जी से कहने लगे । ]

अनुरक्तोस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।

सत्येन धनुषा चैव दत्तेन<sup>१</sup> नेष्टेन<sup>२</sup> ते शपे ॥ १६ ॥

हे देवि ! मैं सत्य की, धनुष की, अपने दान की तथा देवार्चनादि ( करके जो पुण्य सञ्चय किया है उस ) की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मैं श्रीरामचन्द्र के सब प्रकार से अधीन हूँ । अर्थात् मेरी उनसे सब्दी प्रीति है ॥ १६ ॥

दीपमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।

प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

हे देवि ! श्रीरामचन्द्र यदि जलता हुई आग में अथवा बन में, जहाँ कहीं भी प्रवेश करेंगे, वहाँ मुझे तू पहले ही से विद्यमान देखेंगी ॥ १७ ॥

हरामि वीर्यदुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।

देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

जिस प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से अँधकार को नष्ट कर देते हैं, उसी प्रकार आप और भाई श्रीरामचन्द्र देखते रहें, मैं आपके सारे दुखों को अपने पराक्रम से अभी नष्ट किये डालता हूँ ॥ १८ ॥

१ दत्तेन—दानेन । २ इष्टेन—देवार्चनादिना । ( गो० )

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।

कृपणं चास्थिरं बालं वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

कैकेयी के वशीभूत, वृद्ध, कृपण, चञ्चलचित्त, लड़कबुद्धि और बुद्धाई के कारण जिनकी बुद्धि बिगड़ गयी है, उन पिता को भी मैं मार डालूँगा ॥ १९ ॥

एततु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा ॥ २० ॥

महात्मा लक्ष्मण जी की इन बातों को सुन, शोक से विकल और रोती हुई कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।

यदत्रानन्तरं तत्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

हे बत्स ! तुम अपने भाई की सलाह सुन चुके । अब इसके बाद तुम्हें जो अच्छा जान पड़े सो करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपल्न्या मम भाषितम् ।

विहाय शोकसन्तसां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

तुम सौत की अधर्मसूलक बात मान, मुझ शोकसन्तसा अपनी माता को छोड़ यहाँ से मत जाना ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ यदि धर्मिष्टो धर्मं चरितुमिच्छसि ।

शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

हे धर्मज्ञ ! यदि तुम धर्मिष्ट हो और तुम्हें धर्माचरण ही करना है, तो यहाँ रह कर, मेरी शुश्रूषा कर के धर्माचरण करो । माता की सेवा से बढ़ कर उत्तम और कौन धर्म है ॥ २३ ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्रः स्वगृहे नियतो वसन् ।

परेण तपसा युक्तः कश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

हे वत्स ! देखो, कश्यप ऋषि को अपने घर में नियम और तपस्था युक्त रहने से और माता की सेवा करने से स्वर्गप्राप्त हुआ था ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।

त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

जिस पूज्य भाव से महाराज तुम्हारे पूज्य हैं, उसी भाव से मैं भी तुम्हारी पूज्या हूँ । मैं तुम्हें बन जाने की अनुमति नहीं देती और कहती हूँ कि, बन मत जाओ ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा ।

त्वया सह मम श्रेयस्तुणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में न तो मुझे कुछ सुख है और न मुझे जीने ही की अभिलाषा है । अतः तुम्हारे साथ तिनके खा कर रहने में भी मेरे लिये भलाई है ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।

अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

यदि तुम मुझ शोक सन्तप्ता को छोड़ कर, बन चले गये, तो मैं भोजन न करूँगी और विना भोजन किये मेरा जीना असम्भव है । अर्थात् मैं मर जाऊँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्त्यसे पुत्रं निरयं लोकविश्रुतम् ।

ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

मेरे आत्महत्या करने पर, हे पुत्र ! जिस प्रकार समुद्र को (अपनी माता का कहना न मानने से) ब्रह्महत्या का पाप लगा था और उसे नरक जाना पड़ा था उसी प्रकार मेरा कहना न मानने से तुमको भी नरक में जाना पड़ेगा । इस बात को सब लोग जानते हैं ॥ २८ ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।  
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार दीन दुखियारो माता को विलाप करते देख, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उससे ये धर्मयुक्त वचन बोले ॥ २६ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।  
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

हे देवि ! मुझमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि, मैं पिता की आङ्गा उल्लङ्घन करूँ । अतः मैं तुझे प्रणाम कर, तुझे प्रसन्न कर और तेरी अनुमति ले, वन जाया चाहता हूँ ॥ ३० ॥

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता व्रतचारिणा ।  
गौर्हता जानता धर्मं कण्ठुनापि विपश्चिता ॥ ३१ ॥

देख, कण्ठु मुनि ने जो ब्रतचारी थे और वडे पण्डित थे, अधर्म कार्य जान कर भी गौ मार डाली थी, किन्तु पिता की आङ्गा रहने के कारण उनको गोहत्या नहीं लगी ॥ ३१ ॥

अस्माकं च कुले पूर्वं सगरस्याङ्गया पितुः ।  
खनद्विः सागरैर्भूमिमवासः सुमहान्वधः ॥ ३२ ॥

हमारे ही कुल में पहले ज़माने में सगर की आङ्गा से उनके साठ हज़ार पुत्रों ने, भूमि को खोदते हुए, अपनी जान गँवा दी थी ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।

कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ॥ ३३ ॥

और जमदग्न्य के पुत्र परशुराम ने वन में पिता की आङ्गा से अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च वहुर्भिर्देवि देवसमैः कृतम् ।

पितुर्वचनमङ्गीवं<sup>१</sup> करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

हे देवि ! इन लोगों ने तथा अन्य लोगों ने भी, जो देवतुल्य थे, दृढ़ता पूर्वक अपने पिता का कहा माना । अतएव जिस काम के करने से पिता की भलाई होती देख पड़ेगी, उस काम को मैं अकातर करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।

एतैरपि कृतं देवि ये मया तव कीर्तिताः ॥ ३५ ॥

हे माता ! केवल मैं ही पिता की आङ्गा मानता हूँ—सो बात नहीं है, किन्तु जिन महात्माओं के नाम मैंने लिये, वे सब लोग अपने पिता के आङ्गाकारी थे ॥ ३५ ॥

नाहं धर्मपूर्वं<sup>२</sup> ते प्रतिकूलं<sup>३</sup> प्रवर्तये ।

पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गेऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

१ अङ्गीवं—अकातरम् । २ अपूर्व—नवीनं । ( शि० ) ३ प्रतिकूलं—स्वकुलानुरूपम् । ( शि० )

मैं न तो किसी नवोन और न अपनी वंशपरम्परा के प्रति-  
कूल मार्ग पर ही चल रहा हूँ, प्रथ्युत मैं तो उसी मार्ग का अनुसरण  
कर रहा हूँ, जिस पर पूर्वज चल चुके हैं। अर्थात् जिस बात को  
सब लोग आज तक मानते रहे हैं, वही मैं भी मान रहा हूँ, कोई  
अनौखी बात नहीं मान रहा ॥ ३६ ॥

तदेतत्तु ममा कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।

पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

अतएव मैं जो कर रहा हूँ, वह ऐसा काम नहीं है, जो संसार  
में कहीं हुआ ही न हो। अर्थात् सारे भूतल पर लोग पिता की  
आज्ञा मानते हैं, ऐसा कहीं नहीं होता कि, पिता की आज्ञा न मानी  
जाय। फिर जो पिता की आज्ञा के अनुसार काम करता है, वह  
कभी भी धर्मच्युत नहीं होता ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जनर्नीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् ।

वाक्यं वाक्यविदांश्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् ।

विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

वकाशों में श्रेष्ठ और धनुषधारियों में लब्धकीर्ति श्रीरामचन्द्र  
जी, माता से इस प्रकार कह, फिर लक्ष्मण जी से बोले। हे लक्ष्मण !  
मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा बहुत अनुराग है। मुझे तुम्हारा  
बल, और पराक्रम मालूम है। मैं जानता हूँ कि, तुम्हारा तेज दूसरे  
नहीं सह सकते ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महादुःखमतुलं शुभलक्षण ।

अभिप्राय॑मविज्ञाय सत्यस्य॒ च शमस्य च ॥ ४० ॥

हे शुभलक्षणों वाले लहमण ! मेरी माता तो धर्म और शम (आत्मसंयम) का रहस्य न जानने के कारण महाशोक से कातर हो रही है (किन्तु तुम तो सब जानते हो—अतः तुम क्यों धर्मविरुद्ध बात अपने मुँह से निकाल माता की हाँ में हाँ मिलाते हो) ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् ।

धर्मसंश्रितप्रेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

(क्या तुम नहीं जानते कि,) संसार में यावत् पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। क्योंकि धर्म का पर्यवसायी सत्य है। मेरे पिता जी की आज्ञा धर्मानुसारित होने के कारण, माता की आज्ञा से उत्कृष्ट है। (अतः पितृआज्ञा मेरे लिये पालनीय है—माता की नहीं) ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा ।

न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्यै तिष्ठता ॥ ४२ ॥

हे वीर ! पिता, माता अथवा ब्राह्मण से किसी काम के करने की प्रतिज्ञा कर के, पीछे उसे न करना, धर्मरूपी फल की इच्छा रखने वालों का कर्तव्य नहीं है। अर्थात् जो धर्मात्मा है—उन्हें प्रतिज्ञा कर के, फिर उसे न बदलना चाहिये। और जो ऐसा करते हैं, वे अधर्म करते हैं ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोगमतिवर्तितुम् ।

पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याऽहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

१ उत्तमम्—मातुर्वचनपेक्षया उत्कृष्टं । (गो०) २ धर्ममाश्रित्यतिष्ठता—धर्मरूपफलमिच्छता । (गो०) ३ नियोग—आज्ञा । (गो०)

सो मैं पिता की आङ्गा को उल्लङ्घन नहीं कर सकता । हे वीर ! पिता जी के कहने ही से कैकेयी ने मुझे प्रेरित किया है ॥ ४३ ॥

**तदेनां विसृजानार्यां<sup>१</sup> क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् ।**

**धर्माश्रय मा तैक्षण्यं मदुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥**

अतपव हे लक्ष्मण ! तुम इस ज्ञात्र-धर्म का अनुगमन करने वाली इसी लिये दुष्ट ( पिता को मार कर राज्य ले लेने की ) और मार काट करने का बुद्धि का ( सम्भवि का ) त्याग दो । उग्रता त्याग कर, धर्म का आश्रय ग्रहण करो और मेरी बुद्धि के अनुसार चलो । अर्थात् संभार में सर्वत्र केवल नीति ( Diplomacy ) ही से काम न लेना चाहिये, किन्तु लोक पर-लोक का विचार कर, धर्म का भी आश्रय लेना चाहिये ) ॥ ४४ ॥

**तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद्भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः ।**

**उवाच भूयः कौशल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥४५॥**

लक्ष्मण के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी स्नेहपूर्वक लक्ष्मण को इस प्रकार समझा कर, तदनन्तर फिर हाथ जोड़ और सिर सुका कर, कौशल्या जी से बोले ॥ ४५ ॥

**अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् ।**

**शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥**

हे देवि ! अब मुझे यहाँ से वन जाने की आङ्गा दीजिये । तुम्हे मेरे प्राणों की शपथ है । अब तो तू वनवास में मेरे कुशल के लिये स्वस्त्यवाचनादि आवश्यक कर्म कर ॥ ४६ ॥

<sup>१</sup> अनार्यां—दुष्टां । ( गो० )

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।

यथातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

मैं प्रतिज्ञा पूरी कर फिर यहीं लौट आऊँगा जैसे राजर्षि यथाति स्वर्ग से भूमि पर गिर, फिर स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ४७ ॥

शोकः<sup>१</sup> सन्धार्यतां<sup>२</sup> मातर्हृदये साधु मा शुचः ।

वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

हे माता ! शोकातुर पिता जी को तू समझा बुझा कर, शान्त कर (यदि तू कहै कि मैं तो स्वयं शोकातुर हूँ—मैं भला क्या समझा सकती हूँ, तो कहते हैं ।) तू भी किसी बात का अपने मन में सोच (चिन्ता) मत कर । क्योंकि मैं पिता जी की आज्ञा के अनुसार चौदह वर्ष वनवास कर, पुनः घर लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।

पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

तुमको, मुझको, वैदेही को, लक्ष्मण को और सुमित्रा को, पिता की आज्ञानुसार ही चलना चाहिये । क्योंकि सनातन से यही शिष्टाचार चला आता है ॥ ४९ ॥

अम्ब संहृत्य सम्भारान्दुःखं हृदि निगृह्य च ।

वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

हे माता ! अपने मन का दुःख दूर करो और यह अभिषेक के लिये जो सामान जोड़ा है इस सब को हटा दो और मेरे वन

<sup>१</sup> शोकः—शोकविशिष्टः पितेतिशेषः । ( शि० ) <sup>२</sup> सन्धार्यताम्—  
वेध्यतामित्यर्थः । ( शि० )

वास का श्रौचित्य समझ, मेरे मत का समर्थन करो ( अर्थात् जिस प्रकार धर्मतः वन जाना मैं उन्नित समझता हूँ—वैसे ही तू भी समझ ) ॥ ५० ॥

एद्वचस्तस्य निशम्य माता  
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लबं च ।  
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी  
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धर्म एवं धीरतायुक और कादरतारहित वचन सुन, कौशलया जी, जो ( कुछ समय के लिये ) मृतकवत् हो गयी थीं, सचेत हो कुछ काल तक तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर इकट्ठक देखती रहीं, तदनन्तर बोलीं ॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं  
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्या च ।  
न त्वाऽनुजानामि न मां विहाय  
सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥ ५२ ॥

यदि तुम अपने धर्म\* पर दूषि रख और उपकारों† का विचार कर देखो, तो तुम्हारे लिये जैसे तुम्हारे पिता पूज्य हैं, वैसी ही मैं भी हूँ । मैं कहती हूँ कि, मुझ अभागिनी को छोड़ तुम वन मत जाओ ॥ ५२ ॥

\* स्वस्य आत्मनः पुत्रस्येत्यर्थः । ( शि० )

† अपने धर्म पर—अर्थात् पुत्रधर्म पर अथवा पिता माता के प्रति पुत्र के कर्तव्यों पर । † उपकारों—अर्थात् पिता माता के किये हुए उपकारों के प्रति ।

किं जीवितेनेह विना त्वया मे  
 लोकेन वा किं स्वधया॑ भूतेन॒ ।  
 श्रेयो मुहूर्तं तव सन्निधानं  
 ममेह कृत्स्नादपि जीवलोकात्॑ ॥ ५३ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे विना न तो मुझे अपने जीवन से, न इस लोक से न पितॄलोक से और न स्वर्गलोक और न बड़ी कठिनता से प्राप्त जीवों के लिये परमानन्दप्रद महर्लोकादि ही से कुछ प्रयोजन है। मेरे लिये तो मुहूर्त भर भी तुम्हारा मेरे पास रहना ही कल्याणदायी है ॥ ५३ ॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्मानो॑  
 महागजोऽध्वानं॑ मनुप्रविष्टः ।  
 भूयः प्रजज्वाल विलापमेनं  
 निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

माता का करुणायुक विलाप सुन, श्रीरामचन्द्र उसी प्रकार ओंध और कुद्ध सन्ताप से ज्ञवध हुए, जिस प्रकार रात्रि में हाथ में मशाल लिये हुए लोगों से मार्ग रोके जाने पर, कोई महागज अँधकार में पड़कर, कुद्ध और सन्ताप हो ज्ञवध होता है ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसर्जकल्पा-  
 मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतपम् ।

१ स्वधया—पितॄलोकप्राप्तसिद्धया । (गो०) २ भूतेन—स्वर्गलोकप्राप्ति-सिद्धेन । (गो०) ३ जीवलोकात्—आनन्दहेतुभूतमहर्लोकाद्यपरितन लोकान्तर्वर्तिंजीववर्गात् । (गो०) ४ अपोह्मानः—निवार्यमाणापि । (गो०) ५ अध्वानं—मार्ग । (गो०)

धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं

यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने, अपनी मूर्क्षितप्राय माता को और दुःखी पवं सन्तास लक्ष्मण को प्रवेष्ट करने के लिये, ये धर्मयुक्त वचन, जो श्रीरामचन्द्र जी के ही मुख से निकलने योग्य थे, कहे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव  
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।

मम त्वभिप्रायमसन्निरीक्ष्य  
मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे लक्ष्मण ! मुझमें तुम्हारी जैसी भक्ति है और तुम जैसे पराक्रमी हो सो मैं भली भाँति जानता हूँ । परन्तु इस समय तुम्हें मेरा अभिप्राय समझे विना ही मुझे उत्पीड़ित करने में, माता के सहायक बने हुए हो । अर्थात् तुम व्यर्थ मुझे माता के साथ कष्ट दे रहे हो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः किल तात लोके  
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।

ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे  
भार्येव वश्याऽभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

हे भाई ! इस संसार में धर्मफलोदय अर्थात् सुखप्राप्ति के लिये, धर्म अर्थ और काम तीन कारण हैं । निस्सन्देह इन तीनों का सम्पादन सकल धर्माचरणों से वैसे ही हो सकता, है जैसे

अकेली भार्या पति की अनुगमिनी बन कर धर्म को, प्रिया ही कर काम को और पुत्रवती ही कर, अर्थ को सम्पादन करती है ॥ ५७ ॥

यस्मिस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा  
धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत् ।  
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके

कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥

अतएव जिस काम के करने से ये तीनों प्राप्त न हो सकें, उसको तो क्लौड देना चाहिये और जिससे धर्म का लाभ हो, उस काम का आरम्भ करना चाहिये । क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य केवल अर्थतत्पर होता है, उसका मित्र कोई भी नहीं होता, प्रत्युत उसके सब बैरी हो जाते हैं । इसी प्रकार मनुष्य के लिये काम में तत्परता भी ( किसी भी धर्मरहित कार्य में तत्परता )—सर्वथा निन्द्य है ॥ ५८ ॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः  
क्रोधात्प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।  
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्म  
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

देखो, प्रथम तो महाराज हमारे गुरु हैं, दूसरे वे हमारे पिता हैं और तीसरे वृद्ध हैं । वे क्रुद्ध हों, प्रसन्न हों अथवा काम के वशवती हो मुझे जो कुछ आङ्गा दें, उसका पालन करना मेरा धर्म है—अथवा धर्म की दृष्टि से मुझे उचित है । ऐसा कौन क्रूर स्वभाव पुत्र होगा, जो अपने पिता का कहना न माने ॥ ५९ ॥

स वै न शक्रोमि पितुः प्रतिज्ञा-  
मिमामकर्तुं सकलां यथावत् ।

स ह्वावयोस्नात गुरुनियेगे

देव्याथ भर्ता स गतिः स धर्मः ॥ ६० ॥

मुझसे तो यह नहीं हो सकता कि, पिता की समस्त आज्ञा को यथोचितरीत्या पूरी न कर, उसे टाल दूँ। क्योंकि वे मेरे पिता हैं, उनको मेरे ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त है और वे देवी कौशल्या के भी पति हैं। वे ही इनके लिये धर्म और वे ही इनकी गति हैं। अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पर पिता का पूर्ण अधिकार है वैसे ही अपनी पत्नी पर पति का पूर्ण अधिकार है। दोनों का यह धर्म है कि, पुत्र पिता का और पत्नी अपने पति का कहना मानें ॥ ६० ॥

तस्मिन्पुनर्जीवति धर्मराजे

विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।

देवी मया सार्धमितोपगच्छे-

त्कथं स्थिदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

फिर माता कौशल्या, ऐसे धर्मराज महाराज के जीवित रहते और राजकाज करते हुए महाराज को ढोड़, विधवा लड़ी की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती हैं ॥ ६१ ॥

सा माऽनुमन्यस्य वनं ब्रजन्तं

कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।

यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं

यथा हि सत्येन पुनर्यथातिः ॥ ६२ ॥

हे देवि ! मुझे वन जाने की अनुमति दे और मेरे लिये स्वस्य-वाचनादि कर, जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, वैसे ही लौट

कर यहाँ आ जाऊँ, जैसे सत्य के बल महाराज यथाति पुनः स्वर्ग को लौट गये थे ॥ ६२ ॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-

अ पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।  
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते

वृणेऽवरामद्य महीपर्धर्मतः ॥ ६३ ॥

मैं केवल राज्यप्राप्ति के लिये पिता की आङ्गा पालन रूपी महायश की ओर से पीठ नहीं फेर सकता अथवा अपना मुँह नहीं मोड़ सकता । हे माता ! थोड़े दिनों के जीवन के लिये मैं अधर्म द्वारा, इस पृथिवी का राज्य लेना नहीं चाहता ॥ ६३ ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स्वमातरं

पराक्रमाऽजिजगमिषुरेव दण्डकान् ।  
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं<sup>१</sup>

चकार तां हृदिं जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इति एकविंशः सर्ग ॥

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र ने अपनी जननी को मनाया और कैकेयी की प्रेरणा से दण्डकवन में जाना चाहा । तथा लक्ष्मण जी को अपना मत समझा कर, माता की प्रदक्षिणा करने का अपने मन में सङ्कल्प किया ॥ ६४ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥

—;\*;—

१ पराक्रमात् —कैकेयी प्रेरणात् । ( गो० ) २ दर्शनं—स्वमतं । ( गो० )

३ हृदिप्रदक्षिणं च वार —प्रदक्षिणं कर्तुः सङ्कलिप्तवान् । ( गो० )

## द्वार्विंशः सर्गः

---

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषमपर्षितम् ।

श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, अपने बनगमन से लक्ष्मण जी को अति दुखी और उस दुःख को सहने में असमर्थ तथा कैकेयी पर कुद्ध हो, हाथी की तरह फुँसकारते और आँखें फाढ़े देख, ॥ १ ॥

आसाध रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम् ।

उवाचेदं स धैर्येण धारयन्सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

और उन्हें अपना व्यारा भाई और हितेषी मित्र समझ, बड़े धैर्य से अपनी चिन्ता को मन ही में रोक कर, लक्ष्मण से यह बोले ॥ २ ॥

निगृह्ण रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम् ।

अवमानं निरस्येम गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३ ॥

हे भाई ! अब तुम क्रोध और शोक को त्याग कर, धैर्य धारण करो और इस अनादर का ज़रा भी विचार न कर अथवा इस अनादर को भूल कर, प्रसन्न हो जाओ । अर्थात् कैकेयी पर कुद्ध मत हो, राज्य न मिलने के लिये शोक मत करो और राज्य की अप्राप्ति के अपमान को भी भूल जाओ । प्रत्युत इस बात पर प्रसन्न हो कि, मैं पिता की आज्ञा का पालन करता हूँ ॥ ३ ॥

उपकलृतं हि यत्किञ्चिदभिषेकार्थमध्य मे ।

सर्वं विसर्जय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरत्ययम् ॥ ४ ॥

मेरे अभिषेक के लिये आज जा ये तैयारियाँ की गयी हैं, उनकी और ध्यान न दे कर और तुरन्त उन सब को हटा कर, जो काम करना है, उसे करो अर्थात् मेरे बनगमन की तैयारी करो ॥ ४ ॥

**सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः ।**

**अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः ॥ ५ ॥**

हे लक्ष्मण ! मेरे अभिषेक के लिये सामग्री एकत्र करने को तुमने जिस प्रकार प्रयत्न किया था, उसी प्रकार का प्रयत्न अब अभिषेक न होने के लिये करो अथवा उसी प्रकार बन जाने की सामग्री एकत्र करने के लिये तुम प्रयत्न करो ॥ ५ ॥

**यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते ।**

**माता मे सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६ ॥**

मेरी माता कैकेयी का मन मेरे अभिषेक के लिये सन्तुष्ट हो रहा है । अतः तुम ऐसा करो जिससे उसके मन की शङ्का दूर हो जाय ( अर्थात् कैकेयी के मन में जो यह शङ्का उत्पन्न हो गयी है कि, कहीं लक्ष्मण वरजोरी श्रीरामचन्द्र को राज्य न दिला दे—सो इस शङ्का को कैकेयी के मन से दूर करने के लिये प्रयत्नवान हो । ) ॥ ६ ॥

**तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।**

**मनसि प्रतिसञ्चातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७ ॥**

हे लक्ष्मण ! कैकेयी के मन में यह शङ्का उत्पन्न होने के कारण जा दुःख है, उसे मैं एक मुहूर्त भी न तो सह ही सकता हूँ और न देख ही सकता हूँ ॥ ७ ॥

**न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।**

**मातृणां वा पितुर्वाऽहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८ ॥**

क्योंकि जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने आज तक कभी भी जान-बूझ कर या अनजाने पिता माता का कोई साधारण सा भी अपराध नहीं किया ॥ ८ ॥

सत्यः सत्याभिसन्धश्च नित्यं सत्यपराक्रमः<sup>१</sup> ।

परलोक भयाद्रीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९ ॥

सदा सत्यप्रतिष्ठा और परलोक विगड़ जाने के भय से ग्रस्त, तथा अमोघ पराक्रमी हमारे पिता महाराज दृशरथ निर्भय हों । ( हे लक्ष्मण ! हम तुमको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये ) ॥ ९ ॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन्कर्मण्यप्रतिसंहृते ।

सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥ १० ॥

यदि मैं अपने अभिषेक की कामना त्याग न दूँगा, तो महाराज के मन में, अपने वरदान के पूरे होने न होने की चिन्ता से, जो सन्ताप हो रहा है, वह सन्ताप मुझे भी सन्तप्त करेगा ॥ १० ॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण ।

अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुनः ॥ ११ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! इस राज्याभिषेक के विधान को परित्याग कर, मैं शीघ्र ही यहाँ से वन जाना चाहता हूँ ॥ ११ ॥

मम प्रत्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मज ।

सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयिता ततः ॥ १२ ॥

क्योंकि आज मेरे वन जाने ही से कैकेयी कृतकार्य हो और अपने पुत्र भरत को बुला, सुचित हो, उनको राज्य दे सकेगी ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> सत्यपराक्रमः—अमोघपराक्रमः । ( गो० )

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि ।

गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥ १३ ॥

जब मैं चीर और मृगचर्म धारण कर और सिर पर जटा बधि, वन को चला जाऊँगा, तब ही कैकेयी के मन में प्रसन्नता होगी । अर्थात् जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक कैकेयी प्रसन्न नहीं हो सकती ॥ १३ ॥

बुद्धिः<sup>१</sup> प्रणीताः<sup>२</sup> येनेयं मनश्च सुसमाहितम्<sup>३</sup> ।

तं तु नार्हामि संकलेष्टं प्रव्रजिष्यामि माचिरम् ॥ १४ ॥

जिसने मुझे वनवास की यह शिक्षा दी और वन जाने के लिये मेरा मन पोढ़ा किया, उसे मैं क्षेष देना नहीं चाहता । अतः मैं वन जाऊँगा । अब जिससे विलंब न ही सो करो ॥ १४ ॥

कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे दृष्टव्यो मत्प्रवासने ।

राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥ १५ ॥

कैकेयाः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम पीडने ।

यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्ता<sup>४</sup>विहितो भवेत् ॥ १६ ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य का मिलना न मिलना दैवाधीन है, इसमें किसी का कुछ वस नहीं । क्योंकि यदि दैव मेरे प्रतिकूल न होता, तो मुझे पोड़ा देने के लिये कैकेयी की बुद्धि कभी ऐसी न होती अर्थात् वह मुझे वन भेजने का दुराग्रह न करती ॥ १५ ॥ १६ ॥

<sup>१</sup> इयंबुद्धिः—वनवासबुद्धिः । (गो०) २ प्रणीता—शिक्षिता । (गो०)

३ मनश्च सुसमाहितं—स्थिरीकृतं । (गो०) ४ प्रतिपत्तिः—बुद्धिः । (गो०)

५ कृतान्तः—दैवः । (गो०)

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् ।

भूतपूर्व विशेषो वा तस्या मयि सुतेष्यि वा ॥१७॥

हे सौम्य ! यह तो तुम जानते हो हो कि, मैंने माताओं में  
कभी भेददृष्टि नहीं रखी और न कैकेयी ही ने आज तक मुझमें  
और भरत में कुछ भी अन्तर माना ॥ १७ ॥

सोऽभिषेकनिवृत्यर्थः प्रवासार्थेश्वरुर्वचैः ।

उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यदैवात्समर्थये ॥ १८ ॥

किन्तु आज उसी कैकेयी ने मेरा अभिषेक रोकने और मुझे  
वन भेजने के लिये कैसे कैसे उग्र और बुरे वचन कहे । सो इसका  
कारण दैव को छोड़ अन्य कुछ भी नहीं है ॥ १८ ॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा ।

ब्रूत्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तसन्धिधौ ॥ १९ ॥

यदि यह बात न होती तो ऐसे सुन्दर स्वभाव वाली और  
गुणवती कैकेयी राजपुत्री हो कर, नोच गँवारों की तरह, पति के  
सामने मुझे मर्माहत करने को क्यों ऐसी बातें कहती ॥ १९ ॥

यदचिन्त्यं तु तदैवं भूतेष्वपि न हन्यते ।

व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥

जो समझ के बाहर ही, उसका नाम दैव अथवा भाष्य है ।  
भाष्य की रेख को ब्रह्मा जो भी नहीं मिटा सकते । उसी दुर्निवार्य  
दैव ने मुझमें और कैकेयी में इतना भेदभाव उत्पन्न कर  
दिया ॥ २० ॥

\*कश्चिहैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।

यस्य न ग्रहणं किञ्चित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥ २१ ॥

हे लहमण ! कर्मफल भोगने के सिवाय, जिसके जानने का अन्य कोई साधन ही नहीं है, उस दैव अथवा भाष्य से लड़ने का कौन पुरुष साहस कर सकता है ॥ २१ ॥

**सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ ।**

यच्च किञ्चित्थाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २२ ॥

देखो सुख दुःख, भय क्रोध, लाभ हानि, और जीवन मरण तथा अन्य वातें जो इन्हीं के समान हैं वे सब दैव ही के कृत्य हैं । अर्थात् ये सब वातें भाग्याधीन हैं ॥ २२ ॥

[ “हानि लाभ जीवन मरण

जस अपजस विधि हाथ । ” गो० तुलसीदास ]

**ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः ।**

उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान्ब्रंश्यन्ते काममन्युभिः ॥ २३ ॥

बड़े बड़े कठोर तप करने वाले तपस्वी लोग भी भाष्य के द्वारा सताये जाने पर, अपने उग्र नियमों का परित्याग कर, काम और क्रोध से भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

**असङ्कलिप्तमेवेह यदकस्मात्पवर्तते ।**

निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥ २४ ॥

जिसे करने के लिये कभी विचार भी न किया हो और वह अचानक हो जाय और जिस काम का विचार कर करो और वह न हो, वस इसी को दैव का कर्म समझना चाहिये ॥ २४ ॥

**एतया तत्त्वया<sup>१</sup> बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानैमात्मनाऽ ।**

**व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥ २५ ॥**

<sup>१</sup> भवाभवौ—उत्पत्ति विनाशौ । ( गो० ) २ तत्त्वया—अवाधितया ।

( गो० ) ३ आत्मनं—अन्तःकरण । ( गो० ) ४ आत्मना—स्वयमेव । ( गो० )

ऐसी अवाधित बुद्धि से अपने अन्तःकरण की निश्चल कर के, स्वयमेव अभिषेक के कार्य के स्थगित होने का, मुझे ज़रा भी पश्चात्ताप नहों है ॥ २५ ॥

तस्मादपरितापः सन्स्त्वमप्यनुविधाय माम् ।

प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकींक्रियाम्<sup>१</sup> ॥ २६ ॥

अतएव तुम भी, मेरे कहने से, सन्ताप को त्याग कर, मेरा अनुसरण करो और इस अभिषेक की सजावट को बंद करवा दो ॥ २६ ॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः ।

मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! ये घड़े जो मेरे अभिषेक के लिये भरे हुए घरे हैं, उनसे अब मेरा तापस-व्रत-स्नान होगा ॥ २७ ॥

अथवा किं ममैतेन राजद्रव्यमतेन तु ।

उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥ २८ ॥

अथवा अब मुझे इन अभिषेकार्थ लाये हुए तीर्थ के जलों से भरे घटों से का काम ? मैं तो अब अपने हाथ से कुएँ का जल भर कर, व्रताधिकार पूरा कर लूँगा ॥ २८ ॥

मा च लक्ष्मण सन्तापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये ।

राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! मुझको राज्याधिकार न मिलने के लिये तुम सन्ताप मत करो । क्योंकि विवेचन करने से राज्य और अरण्य-

<sup>१</sup> अभिषेचनिकींक्रिया—बलद्वृणादि । ( गो० )

वास में कुछ भी अन्तर नहीं, प्रत्युत मेरे लिये तो अरण्यवास ही महाफलप्रद है। ( क्योंकि राज्य करने में वडे भारी भंभट्टे होती हैं और वनवास में ऋषि महात्माओं के दर्शन से बड़ा पुण्य होता है ) ॥ २६ ॥

न लक्ष्मणस्मिनखलु कर्मविन्दे  
माता यवीयस्यतिशङ्कनीया ।  
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं  
जनासि दैर्व च तथाप्रभावम् ॥ ३० ॥

॥ इति द्वाविंशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! राज्य मिलने में चिन्ह पड़ने का कारण मेरी छोटी माता कैकेयी है, ऐसी शङ्का अपने मन में तुम कभी मत करना। क्योंकि दैव के वशवर्ती हो कर ही लोग अनिष्ट वाते कह डाला करते हैं। दैव का प्रभाव तो तुमको मालूम ही है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का वाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

त्रयोविंशः सर्गः

—:०:—

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽधःशिरा मुहुः ।  
श्रुत्वा मध्यं जगामेव मनसा दुःखवर्षयोः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के समझाने पर नीचे सिर झुकाये हुए लक्ष्मण जो मन ही मन दुःखी और हर्षित हुए ( दुःखी तो

इस लिये कि भाई को राज्य नहीं मिला और हवित इस लिये कि धर्म का मर्म भाई ने समझा दिया ) ॥ १ ॥

तदा तु वद्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।

निशश्वास महासर्पे विलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

परन्तु कुछ ही देर बाद भौंहें टेढ़ी कर मारे क्रोध के बिल में बैठे हुए कुद्ध सर्प की तरह वे नरश्रेष्ठ ( लक्ष्मण ) दीर्घ निःश्वास त्यागने लगे ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तदभ्रुकुटीसहितं तदा ।

बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

उस सप्तय भौंहें टेढ़ी करने से उनका मुख, कुद्ध सिंह की तरह भयानक हो गया ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः ।

तिर्यगूर्ध्वै शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥

हाथी जिस प्रकार अपनी सूँड़ इधर उधर धुमाता है, उसी प्रकार लक्ष्मण जी अपने हाथ कंपा और मारे क्रोध के अपना सिर धुन कर ॥ ४ ॥

अग्राक्षणा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।

अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥

और तिरक्की नज़र से भाई को देख कर बोले—हे भाई ! बुरे समय में तुमको यह वड़ा भ्रम हो गया है ॥ ५ ॥

धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्क्या ।

कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥

आपका यह समझना कि, पिता की आङ्गाका पालन न करने से धर्म की हानि होगी और लोग बुरा कहेंगे अथवा आप यदि पिता की आङ्गाका पालन न करेंगे तो अन्य लोग भी ऐसा न करेंगे और सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जायगी—सो आपका ऐसी शङ्का करना बड़े भ्रम की बात है। आप जैसे निर्भ्रान्त पुरुष को तो ऐसा कहना भी न चाहिये ॥ ६ ॥

यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ ।

किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥

आप क्षत्रियश्रेष्ठ और दैव का सामना करने में समर्थ हो कर भी, एक असमर्थ पुरुष की तरह, अशक्त और दीन हो, दैव की प्रशंसा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।

सन्ति धर्मेपधाः शलक्षणा धर्मात्मनिंक न बुध्यसे ॥८॥

क्या आपको उन पापियों के बारे में शङ्का नहीं होती। हे धर्मात्मा ! क्या आपको यह नहीं मालूम कि, इस संसार में धर्म-छलिया भी अनेक लोग हैं ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः ।

यदि नैवं व्यवसितं स्याद्दि प्रागेव राघव ॥ ९ ॥

देखिये स्वार्थ में पड़ कर, महाराज और कैकियी शठता पूर्वक आपको बनवास देते हैं। यदि ऐसा न होता तो, हे राघव ! दे आपके अभिषेक में ऐसा विघ्न डठा कर खड़ा न कर देते। ( रा० ) ॥ ६ ॥

तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः ।

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ॥ १० ॥

यदि वर देने की बात ठीक होती तो अभिषेक की तैयारी आरम्भ होने के पूर्व ही वरदान देने की सूचना क्यों नहीं दी गयी ! यदि कहा जाय कि, महाराज ने यह काम भूल से किया है, तो भी इस भूल से बड़ी भारी हानि है । क्योंकि इससे लोगों में विद्वेष फैलेगा । फिर यह सरासर अनुचित भी है कि, बड़े के रहते छोटा राज्य पावे ॥ १० ॥

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुर्मर्हसि ।

येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ॥ ११ ॥

अतः मैं तो यह नहीं सह सकता । हे वीर ! इसके लिये आप मुझे ज्ञान करें । हे महामते ! जिस धर्म के द्वारा आपकी बुद्धि इस प्रकार की हो गयी है ॥ ११ ॥

स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसङ्गाद्यस्य मुहूर्सि ।

कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ॥ १२ ॥

वह भी मुझे मान्य नहीं—क्योंकि उसीसे तो आपको मोह प्राप्त हुआ है । आप किस प्रकार सामर्थ्यवान हो कर भी, कैकेयी के वशवर्ती ॥ १२ ॥

करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ।

यद्यनं किलिवषाऽद्वेदः कृतोऽप्येवं न गृह्णते ॥ १३ ॥

पिता की उस आशा का, जो अधर्मयुक्त और निन्दित है, पालन करेंगे । वरदान का बहाना बतला आपके अभिषेक में बाधा डालने को, आप कपट नहीं समझते ॥ १३ ॥

जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्क्षयं गर्हितः ।

मनसाऽपि कर्थं कामं कुर्यास्त्वं कामवृत्तयोः ॥ १४ ॥

इसका मुझे दुःख है । मैं तो ऐसी धर्म की आसक्ति को निन्द्य समझता हूँ । क्योंकि आपको क्लाइ ऐसा दूसरा कौन होगा, जो उन दोनों का, जो कामी है, ॥ १४ ॥

तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्रवोः पित्रभिधानयोः ।

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारा सदा अहित चाहने वाले हैं और माता पिता हो कर भी शत्रुता कर रहे हैं, कहना मन से भी मानेगा । यद्यपि आपका मत है कि, उन दोनों ने जो कुछ अहित किया है, उसका कारण दैव है ॥ १५ ॥

तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ।

विक्लबो वीर्यहीनो यः सदैवमनुवर्तते ॥ १६ ॥

तथापि मुझे तो आपका यह मत अच्छा नहीं लगता । क्योंकि दैव का क्या भरोसा । कातर और वीर्यहीन पुरुष ही लोग दैव की मानते हैं ॥ १६ ॥

वीराः सम्भाविताः त्मानो न दैवं पर्युपासते ।

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रवाधितुम् ॥ १७ ॥

किन्तु वीर और धीर दैव को नहीं मानते । जो पुरुष अपने पुरुषार्थ से दैव को अपने अधीन कर सकता है ॥ १७ ॥

न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ।

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ॥ १८ ॥

१ सम्भाविता—सम्यक् प्रापितः दद्यावत् । ( गो० ) २ प्रवाधितुम्—  
अतिक्रम्यवर्तितुं । ( गो० )

उसका दैव न तो कुछ बिगाढ़ सकता है और न वह कभी दुःखी होता है। आज लोग दैव और पुरुष के ( भाग्य और पुरुषार्थ के ) बल और पौरुष को देखें कि, इन दोनों में कौन प्रबल है ॥ १८ ॥

**दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता<sup>१</sup> व्यक्तिर्भविष्यति ।**

**अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ॥ १९ ॥**

दैव ( भाग्य ) बलबान है अथवा पुरुष ( पुरुषार्थ ) इसका विवेचन आज ही स्पष्ट प्रकट हो जायगा । आज मेरे पौरुष द्वारा मारे गये दैव को, वे लोग देखेंगे ॥ १९ ॥

**यदैवादाहतं<sup>२</sup> तेऽद्य हृष्टं राज्याभिषेचनम् ।**

**अत्युद्गुशमिवोद्दामं<sup>३</sup> गजं मदबलोद्धतम्<sup>४</sup> ॥ २० ॥**

जिन्होंने दैवद्वारा तुम्हारे राज्याभिषेक में विघ्न पड़ता हुआ देखा है । मैं आज उस दैव रूपी हाथी को, जो अङ्गुष्ठ को कुछ भी नहीं समझता, जिसने पैर की बेड़ियाँ तोड़ डाली हैं, और जो मद और बल से गर्वोला हो कर, ॥ २० ॥

**प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ।**

**लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ॥ २१ ॥**

बेरोकटोक इधर उधर दौड़ रहा है, अपने पौरुष से निवृत्त करता हूँ । जब आपके राज्याभिषेक को समस्त लोकपाल ॥ २१ ॥

१ व्यक्ता—स्फुटा । ( गो० ) २ व्यक्तिः—प्रबलदुर्बलविवेकः । ( गो० )

३ आहतं—विघ्नतं । ( गो० ) ४ उद्दामं—छिन्ननिश्चलं । ( गो० )

५ मदबलोद्धतम्—मदबलाभ्यामूर्गर्विष्टम् । ६ प्रधावितं—दुर्निवरं । स्वच्छन्दगमनम् । ( गो० )

न च कृत्स्नांख्यो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ।  
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन्समर्थितः ॥ २२ ॥

और तीनों लोकों के समस्त निवासी अन्यथा नहीं कर सकते,  
तब अकेले पिता की क्या सामर्थ्य है, जो राज्याभिषेक न होने दें। जिन  
लोगों ने आपके बन जाने का समर्थन किया है, हे राजन् ! ॥ २२ ॥

अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ।

अहं तदाशां छेत्स्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ॥ २३ ॥

अभिषेकविधातेन पुत्रराज्याय वर्तते ।

मद्ग्लेन विरुद्धाय न स्यादैवबलं तथा ॥ २४ ॥

वे ही लोग चौदह वर्ष तक बन में रहेंगे। मैं उस पिता और  
माता की आशा पर, जो आपको राज्य न दे कर, भरत को  
देना चाहती है, पानी फेर ढूँगा। मेरे बल के, जो लोग विरुद्ध  
हैं, उनको दैवबल ॥ २३ ॥ २४ ॥

प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ।

ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ॥ २५ ॥

उतना दुःखदायी न होगा, जितना कि, मेरा उग्र पौरुष दुःख  
देने वाला होगा। हज़ार वर्ष राज्य कर चुकने के अनन्तर, ॥ २५ ॥

आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ।

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासो विधीयते ॥ २६ ॥

आप बन जाना और तब आपके पुत्र राज्य करेंगे। बन  
ही में रहना है, तो हमारे पूर्वज राजा लोग जिस प्रकार वृद्धा-

१ कृत्स्नाः—अन्यूनाः । ( गो० )

वस्था में वनवास करते थे, उस प्रकार आप भी वनवास कीजिये ॥ २६ ॥

प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ।

स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया ॥ २७ ॥

नैवमिच्छसि धर्मात्मनराज्यं राम त्वमात्मनि ।

प्रतिजाने च ते वीर मा भूर्वं वीरलोकभाक् ॥२८॥

पूर्ववर्तीं राजा लोग ( वृद्धावस्था में ) प्रजा को पुत्र के समान पालन करने का भार अपने पुत्रों को सौंप, आप वन में जा, तप किया करते थे । हे आर्य ! यदि आप यह समझते हों कि, महाराज की आज्ञा के विरुद्ध राज्य लेने से राज्य में गड़वड़ी मच जाने की शङ्का है, और इसीलिये आप राज्य लेना नहीं चाहते, तो मैं प्रतिज्ञा कर के कहता हूँ कि, मुझे वीरगति प्राप्त न हो ॥ २७ ॥ २८ ॥

राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ।

मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो<sup>१</sup> भव ॥ २९ ॥

मैं तुम्हारे राज्य की रक्षा उसी प्रकार करूँगा, जिस प्रकार समुद्रतट की भूमि, समुद्र से पृथिवी की रक्षा करती है । अब आप मङ्गलाचार पूर्वक अपना राज्याभिषेक करवाने की ओर मन लगाइये ॥ २६ ॥

अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ।

न शोभार्थादिमौ वाहू न धरुभूषणाय मे ॥ ३० ॥

मैं अकेला ही उन सब राजाओं को, जो इस कार्य में वाधा डालने को अन्तर होंगे, अपने पराक्रम से हटाने को पर्याप्त (काफी)

<sup>१</sup> व्यापृतोभव—आसक्तचित्तोभव । ( गो० )

हूँ। मेरी ये दोनों वाहें शरीर की शोभा बढ़ाने के लिये नहीं हैं और न मेरा यह धनुष शरीर का शृङ्खार करने के लिये कोई आभूषण ही है ॥ ३० ॥

नासिरावन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः<sup>१</sup> ।

अमित्रदमनार्थ मे सर्वमेतच्चतुष्टयम् ॥ ३१ ॥

न खड़ केवल कपर में लटकाने के लिये है और न वाण केवल तरकस में पड़े रहने के लिये हैं। मेरी ये चारों चीजें तो शत्रु का दमन करने के लिये ही हैं ॥ ३१ ॥

न चाहं कामयेऽत्यर्थ यः स्याच्छत्रुमतो मम ।

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा ॥ ३२ ॥

जो हमारा शत्रु बन कर रहना चाहता है, उसका अस्तित्व मुझे सह्य नहीं। (राजाओं की तो बात ही क्या) मैं अपनी तेज़ धार बाली और विजली को तरह चमचमाती तलवार से ॥ ३२ ॥

पश्चातीतेन वै शत्रुं विजिणं वा न कर्लपये ।

खड्ननिष्पेषनिष्पिष्टैर्हना दुश्शरा च मे ॥ ३३ ॥

हस्त्यश्वनरहस्तोशशिरोभिर्भविता मही ।

खड्नधाराहता मेऽय दीप्यमाना इवाद्रयः ॥ ३४ ॥

यदि हन्द भी शत्रु बन कर मेरे सामने आवें, तो उनके भी टुकड़े टुकड़े कर डालूँगा। इस तलवार के बार से काढे हुए हाथी घोड़े और मनुष्यों के हाथों पैरों और सिरों से भूमि पर ढेर लगा दूँगा, जिससे आने जाने का यस्ता तक न रहेगा। अर्थात् रणभूमि को मुद्दों से भर कर बड़ा भयङ्कर बना दूँगा। मेरी तलवार से कटे प्रदीप पर्वत को तरह ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

<sup>१</sup> हस्तम्भहेतवः—तूष्या स्थापन हेतव । (गो०)

पतिष्ठ्यन्ति द्विषा भूमौ मेघा इव सविद्युतः ।

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने ॥ ३५ ॥

शत्रु लोग उस प्रकार ज़मीन पर गिरेंगे, जिस प्रकार विजली सहित मैं गिरते हैं। जब मैं गोह की खाल के बने दस्ताने पहिन हाथ में धनुष लूँगा ॥ ३५ ॥

कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ।

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्वैकेन\* च बहूज्ञनान् ॥ ३६ ॥

तब मैं देखूँगा कि, वह कौनसा शूराभिमानी वीर है, जो मेरा सामना करता है। मैं बहुत से बाण चला कर, एक शत्रु को और एक ही बाण से अनेक शत्रुओं को ॥ ३६ ॥

विनियोक्त्याम्यहं वाणान्तवाजिगजमर्मसु ।

अद्य मेऽन्तप्रभावस्य<sup>१</sup> प्रभावः<sup>२</sup> प्रभविष्यति ॥ ३७ ॥

राजश्वाप्रभुतां कृतुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ।

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च ।

वसूनां<sup>३</sup> च विमोक्षस्य<sup>४</sup> सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥

विनाश कर, सैनिकों, धोड़ों और हाथियों के मर्मस्थानों को बाणों से छेद डालूँगा। आज महाराज की प्रभुता मिटाने और आपकी प्रभुता जमाने में मेरे अस्त्रों के महात्म्य का प्रताप भी प्रकट हो जायगा। हे राम! आज मेरी ये दोनों बाहें जो चन्दनलेप, आभूषण धारण और द्रव्य दान देने तथा शत्रुओं से हितैषियों की रक्षा करने योग्य हैं ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

<sup>१</sup> अद्यप्रभावस्य—अद्यमहात्म्यस्य । (गो०) <sup>२</sup> प्रभावः—प्रतापः । (गो०)

<sup>३</sup> वसूनां—धनानां । (गो०) <sup>४</sup> विमोक्षस्य—त्यागस्य । (गो०)

\* पाठान्तरे—“ज्ञेकेन” ।

अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः ।

अभिषेचनविघ्रस्य कर्तृणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

वे आपके अभिषेक में विघ्न डालने वालों के निवारण में अपने अनुरूप काम करेंगी ॥ ३६ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां  
तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।

यथा तवेयं वसुधा वशे भवे-  
त्तथैव मां शाधि तवास्मि किङ्करः ॥ ४० ॥

हे रामचन्द्र ! मैं आपका दास हूँ । मुझे आप अपने शत्रु को बतलाइये और आज्ञा दीजिये, जिससे मैं अभी उसे उसके प्राण, यश और हितैषियों से अलग कर दूँ और इस पृथिवी का राज्य आपके हस्तगत हो जाय ॥ ४० ॥

विमृज्य वाप्णं परिसान्त्व्य चासकृ-  
त्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।

उवाच पित्र्ये वचने व्यवस्थितं  
निवोध मामेष हि सौम्य सत्पथे ॥ ४१ ॥

॥ इति त्रयोविंशः सर्गः ॥

रघुकुल के बढ़ाने वाले श्रोरामचन्द्र जी लक्ष्मण की इन बातों को सुन और उनके आसू पौङ्क वारंवार उनको समझाने लगे और कहने लगे—हे सौम्य ! मुझे तो तुम, पिता की आज्ञा मानने में अटल सत्पथगामी समझो । अथवा मैं पिता की आज्ञा मानूँगा,

क्षेत्रोंकि पिता की आङ्गा मानना मानों सत्पथ पर चलना है अर्थात् सत्पुरुषों के लिये यही करणीय भी है ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्ड का तेइसदाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

### चतुर्विंशः सर्गः

— : \* : —

तं समीक्ष्य त्ववहिर्तु पितुर्निदेशपालने ।

कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब कौशल्या जी ने देखा कि, धर्मिष्ठ श्रीरामचन्द्र पिता की आङ्गा मानने के लिये तत्पर हैं ; तब वे आँखों में आँखु भर और गदगद कण्ठ से बोलीं ॥ १ ॥

अदृष्टुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ।

मयि जातो दशरथात्कथमुच्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

हे राम ! जिसने कभी दुःख नहीं रुहा और जो धर्म में सदा तत्पर रहने वाला एवं सब से प्रिय वचन बोलने वाला है और जो महाराज दशरथ के श्रीरास से मेरे गर्भ में उत्पन्न हुआ है, वह वन में किस प्रकार ऋषिवृत्ति से निर्वाह कर सकेगा ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्र दासाश्र मृष्टान्यन्नानि भुज्जते ।

कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥

जिसके नौकर चाकर मिठाई खाया करते हैं, वह मेरा, राम किस प्रकार वन में कन्दमूल फल खायगा ॥ ३ ॥

क एतच्छ्रद्धेच्छुत्वा कस्य वा न भवेद्दयम् ।  
गुणवान्दयितो राजा राघवो यद्विवास्यते ॥ ४ ॥

महाराज दशरथ अपने गुणवान् प्यारे पुत्र को देशनिकाला दे रहे हैं, यह बात सुन कर, इस पर कौन विश्वास करेगा और इस पर किसकी भय न होगा । ( जो कोई यह बात सुनेगा वही अपने पिता को ओर से भयभीत हो जायगा कि, जब महाराज जैसे श्रेष्ठ जन ने अपने निरपराध गुणी प्यारे पुत्र को निकाल दिया, तब हमारे पिता तो हमें क्यों घर में रहने देंगे ) ॥ ४ ॥

नूनं तु वलवाँलोके कृतान्तः सर्वमादिशन् ।  
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

जब सब जोगों के प्यारे तुम ( श्रीरामचन्द्र ) वन दो जाओगे, तब सुख दुःख के नियमन-कर्ता दैव ही को निस्सन्देह सब से बड़ा मानना पड़ेगा ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः ।  
विलापदुःखसमिथो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥

चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवादर्शनचित्तजः ।  
कर्शयित्वा भृशं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥  
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् ।  
प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥

हे वत्स ! मेरे मन की यह शोकरूपी आँच, जो तुम्हारे अदर्शन रूपी हवा से जलेगी और विलाप एवं दुःख रूपी ईधन तथा आँखू

१ सर्वं — सुखदुःखादिकं । ( रा० ) २ चित्रभानुः—वन्योग्निरिव । ( गो० )

रूपी धी के पड़ने से प्रज्जवलित होगी और जिससे चिन्ता रूपी धूआं निकलेगा—वह मुझे सुखा कर उसी प्रकार भस्म कर डालेगी, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु के बीतने पर, दावानल ( वन की आग ) वन के घासफूस और लतागुलमों को भस्म कर डालता है ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति ।

अहं त्वाजुऽगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥ ९ ॥

हे वत्स ! जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे दौड़ कर जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे पीछे पीछे जहाँ कहीं तुम जाओगे—वहाँ चलूँगी ॥ ६ ॥

तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः ।

श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १० ॥

जब कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र जी से इस प्रकार कहा, तब श्री-रामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुःखिनी अपनी माता से यह कहा ॥ १० ॥

कैकेया वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।

भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥ ११ ॥

हे माता ! महाराज को कैकेयी ने धोखा दे कर, अत्यन्त क्लेशित कर दिया है, मैं भी इस समय महाराज से विछुड़ कर, वन जा रहा हूँ, तिस पर यदि तुम भी मेरे साथ चल दों तो, महाराज कभी जीवित न बचेंगे ॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।

स भवत्या न कर्तव्यो मनऽसापि विगर्हितः ॥ १२ ॥

खी के लिये सब से बढ़ कर निष्ठुर काम केवल पतिपरित्याग ही है। सो ऐसे निन्य कार्य की कल्पना भी तुम्हें अपने मन में न करनी चाहिये ॥ १२ ॥

**यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।**

**शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥ १३ ॥**

जब तक मेरे पिता महाराज दशरथ जीवित हैं, तब तक तुम उनकी सेवा करो, तुम्हारे लिये यही सनातन धर्म है ॥ १३ ॥

**एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना<sup>१</sup> ।**

**तथेत्युवाच सुप्रीता राममङ्गिष्ठकारिणम् ॥ १४ ॥**

बड़े से बड़े कठिन कार्य को सहज में करने वाले श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार समझाने पर, धर्मबुद्धि वाली महारानी कौशल्या मान गयीं और प्रसन्न हो कर बोलीं, (वेटा !) तुम ठीक कहते हो ॥ १४ ॥

**एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतांवरः ।**

**भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥ १५ ॥**

धर्मात्माओं में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी, माता की स्वीकारोक्ति सुन, अपनी अत्यन्त दुःखिनी माता से फिर बोले ॥ १५ ॥

**मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।**

**राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥ १६ ॥**

हे देवि ! मुझे और तुम्हें पिता की आज्ञा अवश्य माननी चाहिये । क्योंकि महाराज एक तो तुम्हारे पति हैं, दूसरे मेरे गुरु हैं, तीसरे पिता हैं और चौथे सब के पातन घोषण करने वाले स्वामी और प्रभु हैं ॥ १६ ॥

<sup>१</sup> शुभदर्शना—धर्मबुद्धिरित्यर्थः । (गो०)

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नवं पञ्चं च ।

वर्षाणि परमप्रीतः स्थास्यामि वचने तव ॥ १७ ॥

मैं चौदह वर्षों को हँसी खुशी में बिता, तुरन्त लौट कर आता हूँ । तब तु जो कहैगी वही मैं करूँगा ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा ।

दुःखान्यसहमाना सा कौसल्या राममब्रवीत्\* ॥ १८ ॥

प्रिय पुत्र की इन बातों को सुन, छलछल बहने वाले आँसुओं से भरे नेत्रों वाली और सर्वप्रकार के दुःखों को सहने में असमर्थ, महारानी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र से बोलीं ॥ १८ ॥

आसां राम सप्तब्रीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् ।

नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथां ।

यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया<sup>†</sup> ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! मैं यहाँ सौतों के बीच रहने में असमर्थ हूँ, अतः यदि तुमने पिता की आङ्गा से वन जाने ही का निश्चय कर लिया है तो, मुझे भी बनैली हिरनी की तरह अपने साथ ही लेते चलो ॥ १६ ॥

[ नोट—बनैली हिरनी के साथ उपमा देने का भाव यह है कि, जिस प्रकार वन की हिरनी वन में प्रसन्न रहती है—वैसे ही मैं भी वहाँ प्रसन्न रहूँगी और तुम्हें किसी बात के लिये कष्ट न दूँगी । ( गो० ) ]

तां तथा रुदतीं रामो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

इस प्रकार चिलाप करती हुई माता से, श्रीरामचन्द्र जी रो कर, कहने लगे ॥ २० ॥

<sup>१</sup> पितुरपेक्षया—पितुरिच्छया । ( गो० ) \* पाठान्तरे—<sup>१०</sup> उवाच परमार्ता तु कौसल्यां पुत्रवत्सला । ” † पाठान्तरे—“मृगीमव” ।

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।

भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥ २१ ॥

जब तक खी जिये, तब तक उसे उचित है, कि वह अपने पति ही को अपना देवता और मालिक माने । अतः इस समय तुम्हारे और मेरे मालिक महाराज ही हैं ॥ २१ ॥

न ह्यनाथा वर्यं राजा लोकनाथेन धीमता ।

भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥ २२ ॥

लोकनाथ और बुद्धिमान महाराज के रहते हम लोग अनाथ नहीं हो सकते ( कौशल्या ने जो कहा कि मैं सौत के साथ नहीं रह सकूँगी इस बात के उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ) भरत भी धर्मात्मा हैं और उब से प्रिय बोलने वाले अर्थात् सज्जन हैं ॥ २२ ॥

भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।

यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥ २३ ॥

वे सब प्रकार तुम्हारा मन रखेंगे और तुम जो कहोगी वही वे करेंगे । मेरे बन जाने पर, मेरे वियोग में, जिससे महाराज की ॥ २३ ॥

श्रमं नावाण्युयात्किञ्चिदप्रमत्ता तथा कुरु ।

दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥ २४ ॥

ज़रा भी कष्ट न हो सो काम बड़ी सावधानी से करती रहना । इस दारुण शोक से वे मरने न पावें ॥ २४ ॥

राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥

महाराज की अब वृद्धावस्था है, अतः वडो सावधानी से उनके हित में तत्पर रहना। क्योंकि जो परमोत्तम खो ब्रतोपवास तो किया करती है ॥ २५ ॥

**भर्तारं नानुवर्तेत् सा तु पापगतिर्भवेत् ।**

**भर्तुः सुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥**

किन्तु अपने पति की सेवा नहीं करती, वह पापियों की गति को प्राप्त होती है अर्थात् नरक में डाली जाती है और जो खी (ब्रतोपवास न कर) अपने पति (ही) की सेवा शुश्रूषा में लगी रहती है, उसे स्वर्ग मिलता है ॥ २६ ॥

**अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।**

**शुश्रूषा मेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥**

भले ही वह खी किसी देवो देवता की पूजा न करे, किन्तु यदि वह पति की सेवा ही करती हुई, सदा पति की भलाई करने में तत्पर रहे तो, उसे निश्चय ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है ॥ २७ ॥

**एष धर्मः पुरादृष्टोऽलोके वेदे श्रुतः३ स्मृतः ।**

**अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥**

द्वियों के लिये पतिसेवा ही प्राचीन-लोकाचार-सिद्ध, वेद और स्मृत्यानुकूल धर्म है। हे देवि ! शान्तिक पौष्टिक कर्म कर के पुण्यादि से देवताओं का पूजन और ॥ २८ ॥

**पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्रैव सुव्रताः ।**

**एवं कालं प्रतीक्षस्य ममागमनकाङ्क्षणी ॥ २९ ॥**

१ पुरादृष्टः—पुरातनालोकाचारसिद्ध । (गो०) २ वेदेश्रुतः—वेदा-

वगत । (गो०)

सुब्रती ब्राह्मणों का सत्कार, मेरे मङ्गल के लिये करती रहना  
और यह अनुष्ठान करती हुई, मेरे लौटने की प्रतीक्षा करना ॥ २६ ॥

नियता<sup>१</sup> नियताहारा<sup>२</sup> भर्तुशुश्रूषणे रता ।

प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति ॥ ३० ॥

यदि धर्मभृतांशेष्टो धारयिष्यति जीवितम् ।

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥

स्नानादि कर और मधु मांसादि छोड़ कर, शुद्धाहार कर, तू  
महाराज की सेवा करना । मेरे लौटने तक यदि धर्मात्माओं में श्रेष्ठ  
महाराज जीवित रहे, तो तेरा बड़ा मनोरथ पूर्ण होगा । जब श्रीराम-  
चन्द्र जी ने इस प्रकार ( महाराज की सेवा करने को अयोध्या ही  
में रहने के लिये) समझाया, तब आँखों में आँसू भर ॥ ३० ॥ ३१ ॥

कौशल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्रोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥

पुत्र वियोग के शोक से आर्त, कौशल्या जी ने श्रीरामचन्द्र जी  
से कहा । हे वत्स ! जब तुम बन जाने की अपने मन में ठान  
ही चुके ; तब मुझमें शक्ति नहीं कि तुम्हें ॥ ३२ ॥

विनिवर्तयितुं वीरं नूनं कालो दुरत्ययः ।

गच्छ पुत्रं त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभेष ॥ ३३ ॥

रोक सकूँ । हे वीर ! सचमुच काल दुर्लभ हैं । अर्थात् भावी  
को कोई नहीं रोक सकता । अतः हे पुत्र ! तुम एकाग्र मन से

१ नियता—स्नानादिनियम युक्ता । ( गो० ) २ नियताहारा—मधु-  
मांसादिवर्जनेन शुद्धाहारा । ( गो० )

अर्थात् सावधानतापूर्वक बन जाओ । तुम्हारा सदा कल्याण हो ॥ ३३ ॥

पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा<sup>१</sup> ।

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितवते ॥ ३४ ॥

पितुरानृण्यतां प्राप्ते त्वयि लप्स्ये परं सुखम् ।

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ॥ ३५ ॥

तुम्हारे लौट आने पर ही मेरा क्लेश दूर होगा । हे महाभाग ! जब तुम लौट आओगे, जब तुम्हारा यह ब्रत पूरा हो जायगा और जब तुम पिता के इस ऋण से उऋण हो जाओगे ( पिता की आक्षा पालन कर चुकोगे ) ; तब मुझे बड़ा आनन्द होगा । इस संसार में भाग्य की गति कभी समझ नहीं पड़ती ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

यस्त्वां सञ्चोदयति मे वच आच्छिद्य राघव ।

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।

नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना शुद्धेन चेतसाः\* ॥ ३६ ॥

क्योंकि यह भाग्य ही की गति है, जो मेरे कथन के प्रतिकूल तुमको प्रेरणा कर रही है । हे राघव ! तुम अब जाओ और कुशल पूर्वक लौट कर आ जाओ और शुद्ध चित्त से मुझे हर्षित करो ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः ।

यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावलकलधारिणम् ॥ ३७ ॥

<sup>१</sup> गतक्लमा—गतक्लेश । (गो०) \* गठान्तरे—“वास्येन चारुणा” ।

हे वत्स ! मैं तो चाहतो हूँ कि, वह समय शीघ्र आवे, जब मैं तुम्हें  
वन से लौटे हुए और जटा बल्कल धारण किये हुए देखूँ ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं

समीक्ष्य देवी परमेण<sup>१</sup> चेतसा ।

उवाच रामं शुभलक्षणं वचो

बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

उस समय महारानी कौशल्या जी श्रीरामचन्द्र जी को परम-  
आदर पूर्वक वन जाने के लिये निश्चय किये हुए जान, स्वस्ति-  
वाचन करने की इच्छा से, उनसे शुभवचन बालीं ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौदीसर्वा सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

### पञ्चविंशः सर्गः

—:०:—

सापडनीय तमायासमुपसृष्टय जलं शुचि ।

चकार माता रामस्य मङ्गलानि यनस्तिनी ॥ १ ॥

शोक को त्याग कौशल्या जी ने जल से शाचमन किया और  
पवित्र हो, वे श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये मङ्गलाचार करने  
लगीं ॥ १ ॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूतम ।

शीघ्रं च विनिवर्तस्य वर्तस्य च सतां क्रमे ॥ २ ॥

<sup>१</sup> परमेणचेतसा—आदरेणेति । (गो० )

हे रघुवंशियों में उत्तम ! मैं अब तुमको नहीं रोक सकती । अब तुम जाओ और शीघ्र ही वहां से लौट कर, सज्जनों के अनुसरण किये हुए मार्ग का अनुसरण करो ॥ २ ॥

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च ।  
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ३ ॥

हे राघवशार्दूल ! जिस धर्म को तुम धैर्य और नियमित रूप से पाल रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र चैत्येष्वायतनेषु च ।  
ते च त्वामभिरक्षन्तु बने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥

जिन देवताओं को तुम चौराहों और देवमन्दिरों में प्रणाम करते हो, वे महर्षियों सहित वन में तुम्हारी रक्षा करें ॥ ४ ॥

यानि दत्तानि तेऽन्नाणि विश्वामित्रेण धीमता ।  
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं<sup>१</sup> सदा ॥ ५ ॥

बुद्धिमान विश्वामित्र जी ने तुम्हें जितने अख्ल दिये हैं, वे सब अष्ट गुणयुक्त अख्ल तुम्हारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा ।  
सत्येन च महावाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥

हे महावाहो ! पिता की सेवा (के फल) से और माता की सेवा (के फल) से तथा सत्य की रक्षा (के फल) से रक्षित, तुम बहुत दिनों जीओ ॥ ६ ॥

<sup>१</sup> समुदितं—अष्ट (गो०)

समित्कुशपवित्राणि वेदश्चायतनानि च ।

स्थण्डिलानि<sup>१</sup> विचित्राणि शैला वृक्षाः क्षुपाः हृदाः ॥७॥

हे नरोत्तम ! समिध, कुश, कुश की बनी पवित्री, वेदियाँ, देव-मन्दिर, चित्रविचित्र देवपूजास्थल, पर्वत, छोटे बड़े वृक्ष, जलाशय ॥७॥

पतञ्जाः पञ्चगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम ।

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षयः ॥ ८ ॥

पक्षी, सर्प और सिंह तुम्हारी रक्षा करें । साध्यगण, विश्वदेव, उम्भचास पवन, सब महर्षि तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ८ ॥

स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोर्यमा ।

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ॥ ९ ॥

धाता, विधाता, पूषा, अर्यमा, इन्द्रादि लोकपाल, तुम्हारा मङ्गल करें ॥ ९ ॥

ऋतवश्चैव पक्षाश्च मासाः संवत्सराः क्षपाः ।

दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥ १० ॥

कः ऋतुएँ, दोनों पक्ष, बारहों मास, सब संवत्सर, रात दिन, तथा मुहूर्त, तुम्हारी रक्षा करें ॥ १० ॥

स्मृतिर्धृतिश्च<sup>५</sup> धर्मश्च<sup>६</sup> पातु त्वां पुत्र सर्वतः ।

स्कन्दश्च<sup>७</sup> भगवान्देवः<sup>८</sup> सोमश्च<sup>९</sup> सबृहस्पतिः ॥११॥

१ स्थण्डिलानि—देवपूजास्थलानि । ( गो० ) २ क्षुपाः—हस्तवशास्त्रस्तरवः । ( रा० ) ३ स्मृतिः—ध्यानं । ( गो० ) ४ धृतिः—ऐकाशं । ( गो० ) ५ धर्मः—श्रुतिस्मृत्युदितः । ( गो० ) ६ स्कन्दः—सनक्कुमारः । कुमारो वा । ( गो० ) ७ भगवान्देवः—देवो महादेवः । ( शि० ) ८ सोमः—उमासहितः । ( शि० )

हे वत्स ! ज्ञान, एकाग्रता ( अर्थात् निष्पन्न योग ) और श्रुति-स्मृति-उक्त धर्म, सर्वत्र तुम्हारी रक्षा करें । भगवान्, सनकुमार, उमा सहित श्रीमहादेव जी, ( अथवा महादेव और चन्द्रमा ) बृहस्पति ॥ ११ ॥

सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः ।

ये चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥ १२ ॥

सप्तर्षि, और नारद जी सदैव तुम्हारी रक्षा करें । ज्ञा और सिद्ध लोग और सब दिशाओं के स्वामी हैं ॥ १२ ॥

स्तुता मया वने तस्मिन्पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः ।

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ॥ १३ ॥

हे पुत्र ! उन सब की मैं स्तुति करती हूँ कि, वे सब नित्य तुम्हारी रक्षा करें । सब पर्वत, सब समुद्र, राजा वरुण ॥ १३ ॥

द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी नद्यः सर्वास्तथैव च ।

नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सहदेवताः ॥ १४ ॥

आकाश, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सब नदी, सब नक्षत्र, देवताओं सहित सब ग्रह ॥ १४ ॥

अहोरात्रे तथा सन्ध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् ।

ऋतवश्चैव षट् पुण्या मासाः संवत्सरास्तथा ॥ १५ ॥

दिन रात और दोनों सन्ध्यायाँ, वन में तुम्हारी रक्षा करें । छहों ऋतुएँ, बारहों मास, सब संवत्सर, ॥ १५ ॥

[ नोट—१० वें श्लोक में भी छः ऋतुएँ आदि वर्णित हो चुकी हैं । इसी प्रकार आगे भी कौशल्या जी के कथन में पुनरुक्ति पायी जाती है । इन पुनरुक्तियों का कारण केवल यह है कि, भावों पुत्रवियोग के कारण कौशल्या जी का मन स्थिर नहीं है । ]

कलाशच काष्ठाशच तथा तव शर्म<sup>१</sup> दिशन्तु ते ।

महावने विचरतो मुनिवेषस्य धीमतः ॥ १६ ॥

कला, काष्ठा, तुमको सुख दें । बुद्धिमान् एवं मुनिवेष धारण  
कर, वन में विचरते हुए ॥ १६ ॥

तवादित्याश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा ।

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥ १७ ॥

तुम्हारे लिये आदित्यादि देवता और दैत्य, सदा सुखदायी  
हों । राक्षस, पिशाच, तथा भयङ्कर एवं क्रूर कर्म करने वाले जितने  
जीव हैं ॥ १७ ॥

क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूतपुत्रक ते भयम् ।

पुत्रगाः<sup>२</sup> वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ॥ १८ ॥

और जितने मांस भक्षी जीव हैं, इन सब से तुम्हें वन में भय न  
हो । वानर, वीढ़ी, डाँस, मच्छर ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन्गहने तव ।

महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा क्रुक्षाश्च दंष्ट्रिणः ॥ १९ ॥

पहाड़ी सर्प, कीड़े, ये भी तुम्हें वन में दुःखदायी न हों । मत-  
वाले हाथी, सिंह, बाघ, रीछ आदि भयङ्कर दातों वाले जान-  
वर ॥ १९ ॥

महिषा शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुहन्तु पुत्रक ।

नृमांसभोजिनो रौद्रा ये चान्ये सत्त्वजातयः<sup>३</sup> ॥ २० ॥

<sup>१</sup> शर्म—सुख । (गो०) <sup>२</sup> पुत्रगाः—वानराः ( गो० ) <sup>३</sup> सत्त्वजातयः

—क्रूरजन्तवः । ( गो० )

जंगली भैंसे, जिनके सींग बड़े भयङ्कर हैं, हे पुत्र ! तुमसे द्रोह न करें। अन्यायी क्रूर जन्तु, जो मनुष्यमांस भक्षी और भयङ्कर हैं ॥ २० ॥

मा च त्वां हिसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्वह ।

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ॥२१॥

उन सब की मैं यहाँ अराधना करती हूँ कि, वन में वे तुम्हारी हानि न करें। तुम्हारे मार्ग मङ्गल रूप हों और तुम्हारा पराक्रम सिद्ध हो ॥ २१ ॥

[ नोट—शिरोमणिटीकाकार ने “आगम” का अर्थ किया है, आगमनानु-कूल व्यापार—अर्थात् वेदविहित जितने कर्म हैं वे सब मङ्गलविशिष्ट हीं अर्थात् निर्विघ्न पूरे होते रहें । ]

सर्वसम्पत्तये<sup>१</sup> राम स्वस्तिमानगच्छ पुत्रक ।

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥२२॥

हे पुत्र ! वन के फल मूलादि, तुम्हें मिलते रहें और तुम निर्विघ्न वन में विचरते रहो। आकाश और पृथिवी के पदार्थों से बार बार तुम्हारी रक्षा हो ॥ २२ ॥

सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः<sup>२</sup> ।

शक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदेवथ यमस्तथा ॥ २३ ॥

सब देवताओं से तथा उन सब से जो तुम्हारे शत्रु हों; इन्द्र, चन्द्रमा, सूर्य, कुवेर, यम ॥ २३ ॥

१ सर्वसम्पत्तये—वन्य फल मूलादि सम्पत्तये । ( गो० ) २ परिपन्थिनः—शक्रवः ( गो० ) ।

पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ।

अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखाच्च्युताः<sup>१</sup> ॥२४॥

ये सब तुमसे पूजित हो कर, दण्डकवन में तुम्हारी रक्षा करें ।  
अग्नि, वायु, धूम और तुम्हें ऋषियों के बतलाये मंत्र ॥ २४ ॥

उपस्पर्शनकाले<sup>२</sup> तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ।

सर्वलोकप्रभुव्रह्मा भूतभर्ता<sup>३</sup> तर्थर्षयः ॥ २५ ॥

हे रघुनन्दन ! अद्वृतों के छूते समय अथवा अस्पृश्य पदार्थों को  
छूने के समय, तुम्हारी रक्षा करें । सब लोकों के स्वामी ब्रह्मा,  
प्राणिमात्र का पालन करने वाले विष्णु, ऋषि ॥ २५ ॥

ये च शेषाः सुरास्ते त्वां रक्षन्तु वनवासिनम् ।

इति माल्यैः सुरगणान्गन्धैश्चापि यशस्विनी ॥ २६ ॥

तथा अन्य देवता जो मुझसे कूट गये हों, वे सब वन में तुम्हारी  
रक्षा करें । इस प्रकार यशस्विनी माता कौशल्या ने पूल चन्दन से  
देवताओं की पूजा ॥ २६ ॥

स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायितलोचना ।

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ॥ २७ ॥

और उनको यथायोग्य स्तुति नी । तदनन्तर अग्नि प्रज्वलित  
करवा विधि विधान जानने वाले महात्मा ब्राह्मण द्वारा ॥ २७ ॥

<sup>१</sup> मुखाच्च्युता—निर्गताः, त्वयागृहीता । ( वि० )   <sup>२</sup> उपस्पर्शनकाले—  
अस्पृश्यस्पर्शनसमये । ( शि० )   <sup>३</sup> भूतभर्ता—नारायण । ( गो० )

\* पाठान्तरे “ अनुकूलाभिः ” ।

हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ।

धृतं श्वेतानि माल्यानि समिधः श्वेतसर्षपान् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये विधिपूर्वक हवन करवाया ।  
घी, सफेद फूल, समिधा और सफेद सरसों ॥ २८ ॥

उपसम्पादयामास कौशल्या परमाङ्गना ।

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ॥ २९ ॥

आदि हवन का सामान कौशल्या जी ने एकत्र कर, वेदी के पास रख दिया । तब हवन करने वाले ब्राह्मण ने, सर्वोपद्रव शान्ति के लिये तथा श्रीरामचन्द्र जी की आरोग्यता के उद्देश्य से, हवन किया ॥ २९ ॥

हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ।

मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्य द्विजांस्ततः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हवन से वचे हुए साकल्य से होमस्थान के बाहर स्थल पर लोकपालों को बलि दी और शहत, दही, अक्षत, घी द्वारा ब्राह्मणों से ॥ ३० ॥

वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाः ।

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ॥ ३१ ॥

वन में, श्रीरामचन्द्र जी के मङ्गल के लिये, स्वस्तिवाचन कर्म करवाया । तदनन्तर इस कर्म कराने वालों में मुख्य जो ब्राह्मण था, उसको श्रीरामचन्द्र जी की यशस्विनी माता कौशल्या जी ने ॥ ३१ ॥

१ शान्तिं—सर्वोपद्रव शान्तिं । (गो०) २ अनामयम्—आरोग्यं ।  
(गो०) ३ बाह्यं—होमस्थानाद्विभवं । (गो०)

दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ।

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ॥ ३२ ॥

मुँहमांगो दक्षिणा दी और श्रीरामचन्द्र जी से कहा । हे राम !  
जैसा मङ्गल सब देवताओं से नमस्कृत इन्द्र का ॥ ३२ ॥

वृत्रनाशे समभवत्तते भवतु मङ्गलम् ।

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताऽकल्पयत्पुरा ॥ ३३ ॥

वृत्रासुर के नाश के समय हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा  
हो । जैसा मङ्गल पूर्वकाल में विनता की प्रार्थना से गङ्ग जी  
का, ॥ ३३ ॥

अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ।

अमृतोत्पादने दैत्यान्ध्रतो वज्रधरस्य यत् ॥ ३४ ॥

जब वे अमृत लेने गये थे, हुआ था, वैसा ही मङ्गल तुम्हारा  
हो । समुद्र से अमृत निकलाने के समय वज्रधारी इन्द्र, जब दैत्यों  
को मारने के लिये प्रवृत्त हुए ॥ ३४ ॥

अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तते भवतु मङ्गलम् ।

त्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ॥ ३५ ॥

तब उनकी माता अदिति ने उनका जैसा मङ्गल किया था,  
वैसा ही तुम्हारा भी हो । अतुल तेजधारी त्रिविक्रम भगवान का,  
जो तीन पाद से तीनों लोक नाप रहे थे ॥ ३५ ॥

यदासीन्पङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ।

ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ॥ ३६ ॥

जैसा मङ्गल हुआ था, हे राम ! वैसा ही मङ्गल तुम्हारा हो ।  
ऋतुएँ, समुद्र, द्वीप, वेद, लोक और दिशाएँ तुम्हारा, ॥ ३६ ॥

मङ्गलानि महावाहो दिशन्तु शुभमङ्गलाः ।

इति पुत्रस्य शेषांश्च<sup>१</sup> कृत्वा शिरसि भासिनी ॥३७॥

हे महावाहो ! शुभ मङ्गल करें । इस प्रकार मङ्गलपाठ पढ़,  
पुत्र के मस्तक पर कौशलया जी ने अक्षत चढ़ाये ॥ ३७ ॥

गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ।

ओषधीं चापि सिद्धार्थां<sup>२</sup> विशल्यकरणीं शुभाम् ॥३८॥

और फिर विशालाक्षी कौशलया ने श्रीराम जी के मस्तक पर  
चन्दन लगाया और प्रत्यक्ष फल देने वाली शुभ विशल्यकरिणी\*  
नाम की छल्लरी भी रखी ॥ ३८ ॥

चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ।

उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनो ॥ ३९ ॥

तदनन्तर कौशलया ने श्रीरामचन्द्र की रक्षा के लिये मंत्र जपे ।  
यद्यपि श्रीराममाता उस समय अत्यन्त दुःखी थीं, तथापि ( यात्रा  
के समय दुःखी होने का शास्त्रीय निषेध होने के कारण ) हर्षित हो,  
बोलीं ॥ ३९ ॥

वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ।

आनन्द्य मूर्ध्नि चाग्राय परिष्वज्य यशस्विनी ॥४०॥

१ शेषान्—अक्षतानि । ( गो० ) २ सिद्धार्थां—दृष्टकलां । ( गो० )

\* “विशल्यकरिणी” का गुण यह है कि, इसके लगाते ही शरीर में  
घुसा हुआ बाण या काढ़ा, अपने आप बाहिर निकल आता है ।

किन्तु बोलते ही मारे प्रेम के उनकी वाणी गदगद हो गयी । उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा कर, उनका सिर सूँधा ॥ ४० ॥

अवदत्पुत्र सिद्धार्थे गच्छ राम यथासुखम् ।

अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ४१ ॥

और बोलीं, हे वेटा ! अब जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ चले जाओ और तुम रोग रहित शरीर से, पिता की आङ्गा पालन कर, फिर अयोध्या को लौट आओ ॥ ४१ ॥

पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं राजवर्त्मनि ।

प्रनष्टुःखसङ्कल्पार्ह ईर्षविद्योतितानना ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! जब तुम ( बन से लौट कर ) राजा होगे और मैं जब तुमको मन भर कर, देखूँगी, मुझे तभी आनन्द प्राप्त होगा । उस समय मेरे मन की सब चिन्ताएँ नष्ट हो जायेंगी । मुझे प्रसन्नता होगी और मेरे मन की उम्मग पूरी होगी ॥ ४२ ॥

द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवादितम् ।

भद्रासनगतं भद्रं वनवासादिहागतम् ॥ ४३ ॥

बन से लौट कर आये हुए और पूर्णमासी के पूर्ण चन्द्रमा की तरह उदित और भद्रासन पर बैठे हुए तुम्हारे मङ्गल रूप को देख, मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी ॥ ४३ ॥

१ सुस्थितंराजवर्त्मनि—प्राप्तराज्यमितियावृ । ( ४० ) २ प्रनष्टुःख  
सङ्कल्पा—सङ्कल्पःमानसंकर्म—वनेरामस्याकिभविष्यतीति चिन्तात्मक इत्यर्थः ।  
( गो० )

द्रक्ष्यामि \*त्वामहं पुत्र तीर्णवन्तं पितुर्वचः ।

मङ्गलैरूपसम्पन्नोऽवनवासादिहागतम् ॥

वध्वा॒ मम च नित्यं त्वं कामान्संवर्ध याहि भो ॥४४॥

हे पुत्र ! जब मैं देखूँगी कि, तुम पिता की आङ्गा पालन कर चुके हो और चन से लौट कर राजेाचित वस्त्र तथा आभूषण धारण किये हुए हो, मुझे तो तभी प्रसन्नता होगी । हे राघव ! अब तुम गमन करो और सीता जी के तथा मेरे मनोरथों को सदा पूर्ण करो ॥ ४४ ॥

मयाऽर्चिता देवगणाः शिवादयो

महर्षयो भूतमहासुरोरगाः ।

अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते

हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥ ४५ ॥

हे राघव ! मैंने जिन शिवादि देवताओं की, महर्षियों की, भूतगण की और दिव्य सर्पों की आज तक पूजा की है, वे सब तथा सब दिव्याल, चिरकाल पर्यन्त, वनयात्रा में तुम्हारा मङ्गल करते हैं ॥ ४५ ॥

इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना

समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं

पुनः पुनश्चापि निपीड्य सख्जे ॥ ४६ ॥

१ मङ्गलैरूपसम्पन्नो—राजेाचितवस्त्राभरणैः । ( रा० ) २ वध्वाः—

सीताया ; । ( रा० )

\* पाठान्तरे — “ च पुनश्चां तु । ” † पाठान्तरे — “ इहागतः । ”

इस प्रकार आशीर्वाद दे, कौशलया जी ने स्वस्तिवाचन कर्म यथाविधि पूरा किया और आंखों में आँसू भर, श्रीरामचन्द्र की प्रदक्षिणा की और उनको बार बार हृदय से लगा, वे उनके मुख की ओर एकटक निहारती रहीं ॥ ४६ ॥

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो  
निपीड्य<sup>१</sup> मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।  
जगाम सीतानिलयं महायशाः  
स राघवः प्रज्वलितः स्वया<sup>२</sup> श्रिया ॥४७॥  
इति पञ्चविंशः सर्गः ॥

जब देवी कौशलया बारंबार श्रीरामचन्द्र जी की प्रदक्षिणा कर चुकीं, तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी बारंबार उनके चरण छुए । फिर महायशस्त्री श्रीरामचन्द्र स्वतःसिद्ध शोभा से दीप्तिमान् सीता के घर चले गये ॥ ४७ ॥

अयोध्याकाण्ड का पञ्चीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

### षड्विंशः सर्गः

—:o:—

अभिवाद्य च कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।  
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठेः<sup>३</sup> वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

<sup>१</sup> निपीड्य—नमस्कृत्य । ( रा० ) <sup>२</sup> स्वया—स्वतः सिद्धया । ( गो० )

<sup>३</sup> धर्मिष्ठे—अतिशयित धर्मे । ( गो० )

स्वस्तिवाचन हो जाने पर, अर्तशय धर्म में स्थित धर्मात्मा, श्रीरामचन्द्र जी माता के लोगों को प्रणाम कर, घन जाने को तैयार हुए ॥ १ ॥

**विराजयन्राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् ।**

**हृदयान्यामपन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥**

श्रीरामचन्द्र जी लोगों ( की भीड़ ) से भरे हुए राजमार्ग को सुशोभित करते एवं अपने गुणों के प्रभाव से सब लोगों के मनों को मथन करते हुए, चले जाने लगे ॥ २ ॥

**वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी ।**

**तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥**

अभी तक यह सारा बृत्तान्त तपस्विनी सीता जी ने नहीं सुना था । उनके मन में उस समय श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक ही की बात थी ॥ ३ ॥

**देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञाऽ हृष्टचेतना ।**

**अभिज्ञा राजधर्माणां॒ राजपुत्रं प्रतीक्षते ॥ ४ ॥**

अतः उस समय स्वयं देवपूजादि कर्म समाप्त कर, राजचिन्हों को जानने वाली सीता जी, अभिषिक्त हुए श्रीरामचन्द्र जी की अभ्यर्थना करने के लिये प्रसन्न हो, प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ४ ॥

१ कृतज्ञा—अभिषिक्तभर्तुर्विषयेपटमहिषिभिः गन्धपुष्पादिनाकृतपादार्चनादिसमाचारज्ञेत्यर्थः । ( गो० ) २ राजधर्माणामभिज्ञा—अभिषिक्तराजा साधारण लक्षणानि श्वेतच्छव्रचामर पुरस्कृत भद्रासनादीनिज्ञातवती । ( गो० )

प्रविशन्नेव\* रामस्तु स्वं वेशम् सुविभूषितम् ।

प्रहृष्टजनसम्पूर्णं हिया किञ्चिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतने ही में श्रीरामचन्द्र जी लज्जा से मुख नीचे किये हुए, भली भाँति सजे हुए और प्रसन्न मनुष्यों से भरे हुए अपने घर में गये ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् ।

अपश्यच्छोकसन्तसं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता जी, शोक और चिन्ता से विकल श्रीरामचन्द्र जी को देख, कांपती हुई आसन से उठ खड़ी हुई ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् ।

तं शोकं राघवः सोदुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्त्वन्नममर्षणम् ।

आह दुःखाभिसन्तप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता को देख, अपने मानसिक शोक के बेग को न रोक सके। पति का उतरा चेहरा, उनको प्रस्वेद (पसीना) युक्त और अत्यन्त शोकान्वित देख, स्वयं दुःखसन्तप्त हो कर, सीता जी ने श्रीरामचन्द्र जी से पूछा—हे प्रभो ! यह क्या हुआ ? ॥ ७ ॥ ८ ॥

अद्य वार्हस्पतः श्रीमानुक्तः पुष्यो नु राघव ।

प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राङ्मैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

आज तो चन्द्रमा के सहित पुष्य नक्षत्र का योग है और लग्न में बृहस्पति जी वैते हुए हैं। विद्वान् ब्राह्मणों के मतानुसार आज

\* पाठान्तरे—“ प्रविवेशाथ ” ।

का दिन राज्याभिषेक के लिये अच्छा है। सो तुम ऐसे उदास क्यों हो रहे हो? ॥ ६ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च ।

आवृतं वदनं वल्गु ॥४॥ छत्रेणापि विराजते ॥ १० ॥

सौ कीलियों का बना हुआ जलफेन के समान सफेद छत्र तुम्हारे ऊपर तना हुआ मैं नहीं देखती ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् ।

चन्द्रहंसप्रकाशभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

और क्या कारण है जो चन्द्रमा और हंस के समान सफेद चँवर तुम्हारे ऊपर नहीं दुर रहे हैं ॥ ११ ॥

वामिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नर्षभ ।

स्तुवन्तो नात्र दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

हे नरश्चेष्ट ! आज वामी बन्दीजन प्रसन्न हो, तुम्हारी स्तुति नहीं करते और न सूत और मागध ही मङ्गलपाठ पढ़ते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः ।

मूर्धिन मूर्धाभिषिक्तस्य दधति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

राज्याभिषिक तुम्हारे सिर पर वेदज्ञ ब्राह्मणों ने शहद और दही यथाविधि क्यों नहीं किएका ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः ।

अनुब्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

फिर मंत्री, पुरवासी, राजनिवासी तथा दरवारी लोग अनेक प्रकार के बढ़िया कपड़े और गहने पहन कर क्यों आपके पीछे चलना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

**चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषतैः\***

**मुख्यः पुष्यरथो<sup>१</sup> युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥ १५ ॥**

आज वडे बेग वाले और सोने के आभूषणों से सजे हुए चार उत्तम घोड़ों से युक्त उत्सवरथ तुम्हारे आगे क्यों नहीं चलता ॥ १५ ॥

**न हस्ती चाग्रतः श्रीमांस्तव लक्षणपूजितः ।**

**प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥**

सुलक्षणों से युक्त काले मेघ के समान रंग वाला और पर्वत के समान ऊँचा हाथी तुम्हारे प्रयाण ( जलूस ) में क्यों नहीं देख पड़ता ॥ १६ ॥

**न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शनं ।**

**भद्रासनं पुरस्कृत्य यातं वीरपुरस्कृतम् ॥ १७ ॥**

हे वीर ! आज सोने का बना हुआ और अति सुन्दर तुम्हारा भद्रासन, जिसे नौकर आगे ले कर चलता था, क्यों दिखलाई नहीं पड़ता ॥ १७ ॥

**अभिषेको गिरा सज्जः किमिदानीमिदं तव ।**

**अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥**

\* पुष्यरथः—उत्सवायकलिपतरथ इत्यर्थः । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“भूषणैः” । † पाठान्तरे—“यथा” ।

जब कि अभिषेक की सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं तब फिर आपके चेहरे का रंग ऐसा अपूर्व क्यों हो रहा है। चेहरे पर प्रसन्नता की रेख तक न देख पड़ने का कारण क्या है? ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः ।

सीते तत्रभवांस्तातः प्रवाजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

सीता जो के ऐसे दुःख भरे बचन सुन, श्रीरामचन्द्र जो ने कहा—हे सीते! पूज्य पिता जी ने मुझे वन जाने की आशा दी है ॥ १६ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि ।

शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाभ्यागतं मम ॥ २० ॥

हे बड़े कुल में उन्धन, धर्म जानने वाली और धर्म करने वाली जानकी! सुनो, जिस प्रकार मुझे यह वनवास की आशा मिली है, उसे बतलाता हूँ ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन च ।

कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तो महावरौ ॥ २१ ॥

सत्यप्रतिज्ञ मेरे पिता महाराज दशरथ ने, मेरी माता कैकेयी को पूर्व काल में (आज से बहुत दिनों पहले) दो वर दिये थे ॥ २१ ॥

तयाऽद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपेद्यते ।

प्रचोदितः ससमयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

सो कैकेयी ने, महाराज को, मेरा राज्याभिषेक करने में दद्यत देख, उस समय के वरों की बात डंठा कर, सत्यद्वारा महाराज को अपने वश में कर लिया ॥ २२ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया ।

पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

( उन दो वरों के अनुसार अब ) मुझको चौदह वर्ष तक दण्डकधन में रहना पड़ेगा और भरत का युवराजपद पर अभिषेक होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् ।

भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥

तुझे देखने के लिये मैं यहाँ आया हूँ । क्योंकि मैं तो अब बन जा रहा हूँ । देखना भरत के सामने मेरी प्रशंसा मत करना ॥ २४ ॥

ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् ।

तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

क्योंकि समृद्धिवान् पुरुषों को दूसरों की प्रशंसा सह्य नहीं होती । अतः तू भरत के सामने मेरी बड़ाई मत करना ॥ २५ ॥

नापि त्वं तेन भर्तव्या विशेषेण कदाचन ।

अनुकूलतया शक्यं समीपे त्वस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

नहीं तो भरत विशेषरूप से तेरा भरण पोषण न करेंगे । यदि तू भरत जी को इच्छा के अनुकूल चली, तो ही तेरा यहाँ निर्वाह हो सकेगा ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् ।

स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

भरत को महाराज ने सनातन यौवराज्य दिया है । अतः तुझको उचित है कि, इस तरह रहना जिससे वे तुझ पर प्रखण्ड बने रहें । क्योंकि राजा को प्रसन्न रखना ही चाहिये ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् ।

वनमद्वैव यास्थामि स्थिरा भव मनस्विनी ॥ २८ ॥

अब मैं पिता की आङ्गा का पालन करने के लिये अभी वन जाता हूँ । सो है मनस्विनी ! तू स्थिरचित्त हो कर रह ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।

व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

हे अनघे ! जब मैं मुनिवेषधारी हो वन को छला जाऊँ, तब तू व्रतोपवास करना अर्थात् जब हम वन में मुनिवेष धारण कर रहेंगे ; तब तुझे भी यहाँ शृङ्खारादि से कुक्र प्रयोजन नहीं है ॥ २९ ॥

[ नोट—यह उपदेश धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है । याज्ञवलक्ष्य महर्षि ने लिखा है कि, “ हाल्यं परगृहे पानं त्यजेत् प्रोषित भर्तुं का । ” ]

काल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।

वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः ॥ ३० ॥

प्रातःकाल उठ देवताओं का यथाविधि पूजन करना । फिर मेरे पिता महाराज दशरथ जी को प्रणाम करना ॥ ३० ॥

माता च मम कौशल्या दृद्धा सन्तापकर्शितः ।

१धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

मेरी माता कौशल्या एक तो दृद्धा हैं, दूसरे मेरे वन जाने के सन्ताप से पीड़ित हैं ; अतः उनका सम्मान करना तुम अपना धर्म समझना ॥ ३१ ॥

१ धर्ममेवाग्रतः कृत्वा—धर्मएव तत्कलं मुरुव्यं दृद्धौ कृत्वा तत्सम्मानः कार्यं दृतिभावः । ( रा० )

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।

स्नेहैप्रणयैसम्भेगैः३ समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

शेष जो मेरी माताएँ हैं, उनको भी नित्य प्रणाम करना । क्योंकि मुझमें उनकी प्रीति और उनका सौहाद्र वैसा ही है, जैसा माता कौशल्या का और उन्होंने भी मेरा पालन पोषण वैसे ही किया है जैसे कि, माता कौशल्या ने । अतः वे माता कौशल्या से मेरी छष्टि में, किसी प्रकार कम पूज्य नहीं हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।

त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

भाई भरत और शत्रुघ्न को, जो मुझे अपने प्राणों से भी बढ़ कर प्रिय हैं, अपने भाई और पुत्र की तरह देखना । अर्थात् भरत को जो बड़े हैं भाई की तरह और शत्रुघ्न को जो तुमसे छोटे हैं पुत्रवत् मानना ॥ ३३ ॥

विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।

स हि राजा प्रभुश्वैव देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

भरत के साथ कभी बिगड़ मत करना—क्योंकि वे देश के राजा और कुल के मालिक हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन४ प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।

राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

१ स्नेहः—प्रीतिः । २ प्रणयः—सौहाद्र । (गो०) ३ सम्भेगः—सेवा अक्षयानादि विशेष प्रदानम् । ४ शीलेन—अकुटिकवृत्त्या । (गो०)

देखो, शील से अर्थात् अकुटिल भाव से सेवा करने तथा प्रयत्न पूर्वक सेवन करने से राजा लोग प्रसन्न होते हैं और इसके प्रतिकूल करने से वे कुद्ध होते हैं ॥ ३५ ॥

और सानपि पुत्रान्हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।

समर्थनंसंप्रगृह्णन्ति परानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

राजा लोग अहित करने वाले अपने और स पुत्रों को भी त्याग देते हैं, और हित करने वाले लोगों को, भले ही वे दूसरे ही लोग क्यों न हों—( अर्थात् अपने सम्बन्धी न भी हों तो भी ) ग्रहण करते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।

भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥

हे कल्याणि ! तू राजा भरत की आज्ञा में रह कर तथा उनकी हितैषिणी बन कर एवं अमोघव्रत धारण कर यहाँ रह ॥ ३७ ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये

त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि ।

यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचि-

तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

इति षड्विशः सर्गः ॥

हे भामिनि ! मैं तो बन जाता हूँ । तुझको यहाँ रहना चाहिये । मेरी तुझको यही शिक्षा है कि, ऐसा बर्ताव करना, जिससे तुझसे कोई बुरा न माने ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का छवीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—;\*;—

## सप्तविंशः सर्गः

—०—

**एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।  
प्रणयादेव<sup>१</sup> संकुद्धा भर्तरमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥**

प्रिय बोलने वाली और प्रीति की पात्र वैदेही से जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा ( अयोध्या ही में रहने को कहा ) ; तब जानकी जो प्रीतियुक्त ( किन्तु ऊपर से ) कोध प्रदर्शित कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ १ ॥

**किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।  
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥ २ ॥**

हे राम ! आप यह कैसी हल्की बात कहते हैं । इसे सुन कर तो, हे राजकुमार ! मुझे हँसी आती है ॥ २ ॥

**आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्तुषा ।  
स्वानि पुण्यानि भुज्ञानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥ ३ ॥**

हे आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब अपने पुण्यों की भोगते हुए, अपने अपने भाग्य के भरोसे रहते हैं ॥ ३ ॥

**भर्तुर्भाग्यं तु भार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।  
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ४ ॥**

<sup>१</sup> प्रणयादेव—सौहदादेव नतुवैरात् । ( गो० )

किन्तु स्त्री ( अद्वाङ्गिनी होने के कारण ) अपने पति के भाष्य का फल भोगती है । इस लिये मुझे भी महाराज की आङ्गा बन जाने की हो चुकी ॥ ४ ॥

न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।

इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ५ ॥

स्त्री के मरने पर, परलोक में उसके पति को छोड़, पिता, पुत्र, भाईबन्धु, माता, सखी सहेलियों में से कोई भी उसके काम नहीं आता । स्त्री के लिये क्या इस लोक में और क्या परलोक में पति ही सब कुछ है ॥ ५ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्ग वनमद्यैव राघव ।

अग्रतस्ते गमिष्यामि मृदृगन्ती कुशकण्टकान् ॥ ६ ॥

यदि तुम आज ही बन के जा रहे हो तो, मैं तुम्हारे आगे आगे कुश और कौटों को हटा, रास्ता साफ करती पैदल ही चलूँगी ॥ ६ ॥

ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम् ।

नय मां वीर विस्त्रिधः<sup>१</sup> पापं मयि न विद्यते ॥ ७ ॥

हे वीर ! ईर्ष्या और रोष को त्याग कर, निश्चङ्क हो मुझे अपने साथ ले चलो । क्योंकि मुझमें कोई ऐसा पाप नहीं है, जो मेरे यहाँ छोड़ने के लिये पर्याप्त कारण कहा जा सके ॥ ७ ॥

प्रासादाग्रैर्विमानैर्वा वैहायसगतेन<sup>२</sup> वा ।

सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छायाः<sup>३</sup> विशिष्यते ॥ ८ ॥

१ विस्त्रिधः—निःशङ्कः । ( गो० ) २ वैहायसगतेन—अणिमाद्यैश्वर्य सिद्धि सम्पन्नोचितविहायसम्बन्ध गमनाद्वा । ( गो० ) ३ पादच्छाया—पाद-सेवा । ( गो० )

चक्रवर्ती राजाओं के महलों में वास करने से, अथवा स्वर्ग के विमानों में रहने से अथवा आठों प्रकार के अणिमादि पेश्वयों की प्राप्ति से जो सुख होता है, उभसे कहीं अधिक सुख ली को पति की सेवा करने में प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

**अनुशिष्टाऽस्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम् ।**

**नास्मि सम्प्रतिवक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ ९ ॥**

खी को अपने पति के प्रति किस प्रकार से व्यवहार करना चाहिये—यह बात मुझे मेरे माता पिता ने अनेक प्रकार से समझा दी है । अतः इस विषय में मुझे अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं है ॥ ९ ॥

**अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।**

**नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृक्षेवितम् ॥ १० ॥**

मैं निश्चय ही आपके साथ उस निर्जन वन में चलूँगी जो नाना भाँति के बनैले जीवों से पूर्ण, और शार्दूल एवं वृकादि ( भेड़ियों ) से सेवित है ॥ १० ॥

**सुखं वने विवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।**

**अचिन्तयन्ती त्रीललोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ ११ ॥**

हे स्वामिन् ! मैं वन में बड़े सुख से वैसे ही रहूँगी, जैसे मैं अपने पिता के घर में सुख से रहनी थी । वहाँ मुझे केवल पतिसेवा ही की चिन्ता रहैगी । मैं तोनों लोकों के सुख की कभी कल्पना भी अपने मन में उद्य न होने दूँगी ॥ ११ ॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।  
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १२ ॥

हे वीर ! मैं नित्य नियमपूर्वक, काम-भोग-विवर्जिता हो,  
आपके साथ उन मधुर गन्धयुक वनों में विचर्णा ॥ १२ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम् ।  
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १३ ॥

हे प्राणनाथ ! जब आप वन में असंख्य मनुष्यों का भरण  
पोषण करने का भार उठा सकते हैं, तब क्या आप मुझ अकेली  
की रक्षा न कर सकेंगे ? ॥ १३ ॥

सह त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः ।  
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! मैं भी आज अवश्य आपके साथ वन चलूँगी ।  
आप मेरे इस उत्साह को भङ्ग नहीं कर सकते । अथवा अब आप  
निषेध न कीजिये ॥ १४ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।  
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया ॥ १५ ॥

मैं वन में उत्पन्न फल मूलों हो से नित्य अपना निर्वाह कर,  
आपके साथ वन में रहूँगी और आपको कष्ट न दूँगी ॥ १५ ॥

इच्छामि सरितः शैलान्पल्वलानि वनानि च ।  
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता ॥ १६ ॥

मैं आप जैसे बुद्धिमान प्राणनाथ से रक्षिता हो कर भीलें,  
पहाड़, तालाब और वन निशङ्क हो देखना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ।

इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण सङ्गता ॥ १७ ॥

मैं चाहती हूँ कि, आप जैसे वीर के साथ, हंस और कारण्डव  
पक्षियों से सेवित और सुन्दर फूली हुई कमलिनियों से युक्त तड़ागों  
को सुखपूर्वक अर्थात् भली भाँति देखूँ ॥ १७ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतत्रता ।

सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ॥ १८ ॥

हे विशालाक्ष ! उनमें मैं नित्य आपके साथ स्नान करूँगी और  
परम आनन्द के साथ जलकीड़ा भी करूँगा ॥ १८ ॥

एवं वर्षसहस्राणां शर्तं वाऽहं त्वया सह ।

व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गेऽपि न हि मे मतः ॥ १९ ॥

इस प्रकार आपके साथ चाहें हज़ार वर्ष भी क्यों न व्यतीत  
हो जाय, मुझे न जान पड़ेंगे । आपके साथ रहने के सुख के सामने  
स्वर्गसुख भी मुझे पसन्द नहीं ॥ १९ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।

त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥ २० ॥

हे राघव ! यदि आपके विना मुझे स्वर्ग में रहना पड़े, तो मुझे  
वह भी पसन्द नहीं है ॥ २० ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं

मृगायुतं वानरवारणैर्युतम् ।

वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे  
तवैव पादावुपगृह्ण संयता ॥ २१ ॥

मैं तो आपके साथ उस दुर्गम वन में चलूँगी, जो हिरनों से  
युक्त और बंदरों तथा हाथियों से सेवित है। आपकी चरणसेवा  
करती हुई, मैं वहाँ उसी प्रकार सुखपूर्वक रहूँगी, जिस प्रकार मैं  
अपने पिता के घर सुख से रहती थी ॥ २१ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं  
त्वया वियुक्तां परणाय निश्चिताम् ।  
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां  
न ते मयाऽतो गुरुता भविष्यति ॥ २२ ॥

मैं तो आपको द्विद्वय किसी को नहीं जानती। मेरा मन  
आप ही मैं अनुरक्त है। अतः यदि आपसे विद्रोह हुआ, तो मैं  
अपने प्राण ल्याने को तैयार हूँ। हे नाथ ! मेरी प्रार्थना स्वीकार  
कर, मुझे अपने साथ लेते चलिये। मेरा कुछ भी भार आपको  
ढाना न पड़ेगा ॥ २२ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलोऽ  
न च स्म सीतां नृवरो निनीषतिर् ।  
उवाच चैनां वहु सञ्चिवर्तने  
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २३ ॥  
इति सप्तशः सर्गः ॥

१ धर्मवत्सलः—कान्ताङ्केशासहिष्णुः । ( गो० ) २ निनीषति—नेतु  
मिष्ठिति । ( गो० )

सीता जी के इस प्रकार अनुनय विनय पूर्वक प्रार्थना करने पर भी, सीता जी को कष्टित देखने में असमर्थ श्रीरामचन्द्र जी, जानकी जी को अपने साथ वन में ले जाने को राज़ी न हुए। प्रत्युत वनवास के अनेक कष्टों का वर्णन कर, जिससे जानकी जी वन जाने का विचार छोड़ दे, बोले ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्ताइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

### अष्टाविंशः सर्गः

—:०:—

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ।

न नेतुं कुरुते बुद्धि वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मज्ञ और धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी वन के कष्टों को स्मरण कर, सीता जी के बहुत कहने पर भी, उनको अपने साथ वन ले जाने को राज़ी न हुए ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु \*बाष्पपर्यकुलेक्षणाम् ।

निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

रोती हुई जानकी जी को उन्होंने फिर समझाया और धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वन न जाने के लिये सीता जी से यह कहा ॥ २ ॥

सीते महाकुलीनाऽसि धर्मे च निरता सदा ।

इहाचर स्वधर्मं त्वं मा यथा मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

\* पाठान्तरे—“ बाष्पदूषितलोचनाम् । ”

हे सीते ! तू बड़ो कुलीन घर की लड़की है और सदा धर्म-पालन में निरत रहती है। अतः यहीं रह कर धर्मचरण कर, जिससे मेरा मन सुखी हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाऽबले ।

वने दोषा हि बहवो वदतस्तान्निवोध मे ॥ ४ ॥

हे श्रीबले सीते ! मैं जो कहता हूँ तू वही कर। वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं। मैं बतलाता हूँ तू उन्हें सुन ॥ ४ ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता पतिः ।

बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥

हे सीते ! तू अपने वन जाने के विचार को त्याग दे। क्योंकि वनवास में बड़े कष्ट हैं। वन को कान्तार इसी लिये कहते हैं कि, वह जाने के योग्य नहीं है ॥ ५ ॥

हितबुद्धया खलु वचो मयैतदभिधीयते ।

सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

मैं तेरी भलाई के लिये कहता हूँ। वन में कभी कुछ भी सुख नहीं है। प्रत्युत नहीं सदा कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ६ ॥

गिरिनिर्भरसम्भूता गिरिकन्दरवासिनाम् ।

सिहानां निनदा दुःखाः<sup>१</sup> श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥ ७ ॥

क्योंकि पर्वतों से निकली हुई नदियों को पार करना महाकष्ट-दायी है, फिर पहाड़ों की गुफाओं में रहने वाले सिहों को दहाड़ सुनने से बड़ा कष्ट होता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट हैं ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> दुःखाः—दुःखकराः । ( गो० )

क्रीडमानाश्र विस्तव्या मत्ताः शून्ये महामृगाः ।  
दृष्टा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम् ॥ ८ ॥

हे सीते ! निर्जन वन में निःशङ्क हो कीड़ा करने वाले अनेक वनजन्तु, मनुष्य को देखते ही मार डालने के लिये आक्रमण करते हैं, अतः वनवास कष्टदायी है ॥ ८ ॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यश्च दुस्तराः ।  
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥ ९ ॥

फिर नदियों में मगर घड़ियाल रहते हैं और उनमें दलदल रहने से उनको पार करना भी बड़ा कठिन है । इन दलदलों में यदि फँस जाय, तो हाथी का भी निकलना असम्भव है । फिर वन में बड़े बड़े मत्त गज भी घूमा करते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ ९ ॥

लताकण्टकसङ्कीर्णाः कृकवाकूपनादिताः ।  
निरपाश्र सुदुर्गाश्र मार्गा दुःखमतो वनम् ॥ १० ॥

प्रायः वनों के मार्ग पैर में लिपट जाने वाली बेलों और पैर में चुभ जाने वाले काटों से ढके रहते हैं और वहाँ वनकुक्कुट (वन-मुर्ग ) बोला करते हैं । रास्तों में दूर तक पीने की जल भी नहीं मिलता । वन के रास्ते बड़े भयङ्कर होते हैं । अतः वन में बड़े क्लेश होते हैं ॥ १० ॥

सुप्यते पर्णशश्यासु स्वयं भग्नासु भूतले ।  
रात्रिषु श्रमस्विन्नेन तस्मादुःखतरं वनम् ॥ ११ ॥

दिन भर के थके माँदे वनवासी को रात के समय, सोने के लिये कोमल गहे तकिये नहीं, किन्तु अपने आप सूख कर गिरी हुई

पत्तियाँ विद्धा कर, उन पर सेना पड़ता है। उसे वहाँ पलंग नहीं मिलता, प्रत्युत ज़मीन ही पर लेटना पड़ता है। अतपव बनवास बड़ा कष्टप्रद है॥ ११॥

**अहोरात्रं<sup>१</sup> च सन्तोषः कर्तव्यो नियतात्मनाः<sup>२</sup> ।**

**फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १२॥**

हे सीते ! भोजन की अन्य वस्तुओं पर मन न चला, सायं प्रातः वृक्षों से गिरे हुए फल खा कर ही सन्तोष करना पड़ता है। अतः वन में कष्ट ही कष्ट है॥ १२॥

**उपवासश्च कर्तव्यो यथाप्राणेन<sup>३</sup> मैथिलि ।**

**जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारिणा॥ १३॥**

हे मैथिलि ! वन में यथाशक्ति उपवास भी करना पड़ता है और वृक्ष की छाल, वस्त्रों की जगह पहननी पड़ती है॥ १३॥

**देवतानां पितरां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम् ।**

**प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम्॥ १४॥**

वहाँ देवताओं और पितरों तथा समय पर आये हुए अतिथियों का विधिपूर्वक नित्य पूजन करना पड़ता है॥ १४॥

**कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः ।**

**चरता नियमेनैव तस्मादुःखतरं वनम्॥ १५॥**

नियम पूर्वक रहने वालों को नित्य (किसी ऋतु विशेष में नहीं) समय समय पर तीन बार स्नान करने पड़ते हैं। अतः वन में बड़ा क्लैश है॥ १५॥

१ अहोरात्रं—सायं प्रातश । (गो०) २ नियतात्मला—नियतमनस्केन । इतराजभिलाषिणेत्यर्थः । (गो०) ३ यथाप्राणेन—यथाशक्तया । (गो०)

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।

आर्षेण विधिना वेद्यां वाले दुःखमतो वनम् ॥ १६ ॥

हे वाले ! वन में अपने हाथ से फूल तोड़ कर, ऋषियों की बतलाई हुई विधि से, वेदों की पूजा करनी पड़ती है, इस लिये वन में क्लेश ही क्लेश हैं ॥ १६ ॥

यथालब्धेन सन्तोषः कर्तव्यस्तेन मैथिलि ।

यताहारैर्वनचरैर्नित्यं दुःखमतो वनम् ॥ १७ ॥

वनवासी को जो कुक्कु और जितना भेजन के लिये मिले उसे उतने ही नित्य नियत आहार से उसको सन्तोष करना पड़ता है । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १७ ॥

अतीव वातास्तिमिरं बुभुक्षा चात्र नित्यशः ।

भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम् ॥ १८ ॥

वनों में बड़ी आँधी चला करती हैं, अँधेरा भी ढा जाता है, नित्य ही भूख भी बहुत अधिक लगती है और वहाँ और भी अनेक भय के कारण उपस्थित रहते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १८ ॥

सरीसृपाश्वै वहवो बहुरूपाश्वै भामिनि ।

चरन्ति पृथिवीं दर्पात्ततो दुःखतरं वनम् ॥ १९ ॥

हे भामिनि ! वन में बड़े मौटे मौटे पहाड़ी साँप या अजगर बड़े दर्प के साथ घूमा करते हैं । अतः वनवास बड़ा कष्टदायी है ॥ १९ ॥

१ सरीसृपाः—गिरिसर्पाः । (गो०) २ बहुरूपाः—पृथुशारीराः । (गो०)

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।

तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानं ततो दुःखतरं वनम् ॥ २० ॥

वहाँ नदियों में रहने वाले सांप जो नदी ही की तरह टेढ़ी मेही बाल से चला करते हैं, मार्ग रोक कर, सामने खड़े हो जाते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २० ॥

पतञ्जा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।

बाधन्ते नित्यमबले तस्माददुःखतरं वनम् ॥ २१ ॥

हे अबले ! वहाँ पतंगे, विच्छू, कीड़े, बनैली मक्खियाँ, मच्छड़ आदि नित्य ही सताया करते हैं। अतएव वनवास बड़ा क्लेशकारक है ॥ २१ ॥

द्रुपाः कण्टकिनश्चैव कुशकाशाश्र<sup>१</sup> भामिनि ।

वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखतरं वनम् ॥ २२ ॥

हे भामिनि ! काँटे और कुशकाश की तरह पत्तों और बनैले वृक्षों से सारा घन भरा हुआ है। अतः वनवास बड़ा कष्टकारक है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च वहवो भयानि विविधानि च ।

अरण्यवासे वसतो दुखमेव ततो वनम् ॥ २३ ॥

फिर वन में रहने से शारीरिक अनेक क्लेश हाते हैं और नाना प्रकार के भय उत्पन्न हुआ करते हैं। अतएव वनवास बड़ा दुःखदायी है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।

न भेतव्यं च भेतव्ये नित्यं दुःखमतो वनम् ॥ २४ ॥

<sup>१</sup> कुशकाशयोःशाखाः—कुशकाशपर्णान्येव । ( गो० )

हे सीते ! वन में, कोध और लोभ को त्याग कर तप में मन लगाना पड़ता है। डरने योग्य वस्तुओं से भी डरना नहीं होता—  
अतः वनवास दुःखप्रद है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षमं न हि वनं तव ।

विमृशन्निह पश्यामि बहुदोषतरं वनम् ॥ २५ ॥

अतः तू वन जाने की इच्छा मत कर, क्योंकि तेरे बसने योग्य वन नहीं है। मैं जब विचार करता हूँ, तब मुझे वनवास में कष्ट ही कष्ट दिखलायी पड़ते हैं ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिस्तदा  
बभूव रामेण यदा महात्मना ।

न तस्य सीता वचनं चकार त-  
त्तोऽन्नवीद्राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार जब सीता जी को श्रीरामचन्द्र जी ने वन में ले जाना न चाहा, तब सीता जी उनकी इस बात को न मान कर और अत्यन्त दुःखी ही, यह बोलीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्टाइसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—\*—

## एकोनत्रिंशः सर्गः

—०—

एतत् वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।

प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

धीरामचन्द्र जी के इस प्रकार के वचन सुन सीता जी दुःखी हुई और रो कर, धीरे धीरे कहने लगीं ॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिं दाषा वने वस्तव्यतां प्रति ।

गुणानित्येव तान्वीक्षेः\* तव स्नेहपुरस्कृतान् ॥ २ ॥

हे राम ! वनवास के जो दोष तुमने बतलाये, वे सब तुम्हारे स्नेह के सामने मुझे गुण दिखलायी पड़ते हैं ॥ २ ॥

मृगः सिंहा गजाश्रैव शार्दूलाः शरभास्तथा<sup>१</sup> ।

पक्षिणः सुमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥

मृग, सिंह, गज, शार्दूल, शरभ ( श्राठ पैर का एक वनजन्मु विशेष ) पक्षी और नील गायें तथा अन्य वन में रहने वाले जीव जन्मु ॥ ३ ॥

अदृष्टपूर्वरूपत्वात्सर्वे ते तव राघवः ।

रूपं दृष्टाऽपसर्पेयुर्भये सर्वे हि विभ्यति ॥ ४ ॥

स्वयं ही, हे राघव ! आपके इस अपूर्व रूप को देख और भय-भीत हो, भाग जायगे । क्योंकि आपसे तो सब ही डरते हैं ॥ ४ ॥

<sup>१</sup> शरभाः—अष्टपादमृगाः । ( गो० ) सुमराः गवयाः । ( गो० )

\* पाठान्तरे “तान्विद्धि” ; “तान्मन्ये” ।

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाङ्गया ।

त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

मुझको बड़े लोगों का यह आदेश है कि, मुझे सदा आपके साथ अवश्य चलना चाहिये । नहीं तो मुझे आपके वियोग में प्राण-त्याग देना पड़ेगा ॥ ५ ॥

न च मां त्वत्समीपस्थामपि शक्रोति राघव ।

सुराणामीश्वरः शक्रः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

जब कि मैं आपके साथ रहूँगी, तब देवताओं के स्वामी इन्द्र भी अपने पराक्रम से मेरा कुछ नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।

काममेवंविधं राम त्वया मम विदर्शितम् ॥ ७ ॥

हे राम ! तुम्हीने तो मुझे यह बात बतलायी है कि, पतिव्रता रखी, पति विना नहीं जी सकती ॥ ७ ॥

अथ वापि महाप्राङ्ग ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।

पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

हे महाप्राङ्ग ! पिता के घर रहते समय ज्योतिषी ब्राह्मणों से मैंने यह बात सुनी थी कि, मुझे वन में निश्चय ही रहना पड़ेगा ॥ ८ ॥

लक्षणिभ्यो<sup>१</sup> द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं पुरा ।

वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥

<sup>१</sup> लक्षणिभ्यः—सामुद्रिकलक्षणज्ञभ्यः ।

हे महाबलवान् ! सामुद्रिक जानने वाले ब्राह्मणों को कहते, मैं पहले ही यह छुन चुकी हूँ । अतः वन जाने का मेरा उत्साह तभी से है ॥ ६ ॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।

सा त्वया सह तत्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥

सा वनवास की आङ्गा मुझे अवश्य लेनी ही चाहिये । अतः हे प्रिय ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी । इसके विपरीत नहीं हो सकता ॥ १० ॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि सह त्वया ।

कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवाऽभवतु द्विजः ॥ ११ ॥

आपके साथ वन जाने ही से मैं गुरुजनों की आङ्गापालन करने वाली हो सकूँगी । ब्राह्मणों की भविष्यद्वाणी के सन्य होने का यह समय भी उपस्थित हो गया है ॥ १२ ॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।

प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह मुझे मालूम है कि, वनवास में बड़े बड़े कष्ट होते हैं ; किन्तु ये दुःख होते उन्होंको है जो अजितेन्द्रिय हैं । ( न कि आप सरीखे पुरुषों के साथ ) ॥ १२ ॥

कन्या च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया ।

भिक्षिण्याः<sup>१</sup> \*साधुवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥

१ अकृतात्मिः—अशिक्षितमनस्कैः । ( गो० ) २ भिक्षिण्याः—तापस्याः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“शमवृत्तायाः” ।

जब मैं पिता के घर थी, तब मैंने एक साधुवृत्ति तपस्विनी के मुख से, माता के सामने, अपने इस वनवास की बात सुनी थी ॥ १३ ॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं वै बहुविधं प्रभो ।

गमनं वनवासस्य काढ़क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! कई बार वनकोड़ा के लिये मैं आपसे प्रार्थना भी कर चुकी हूँ, सो अब वह अवसर आया है, अतः मेरी प्रार्थना मान, मुझे अपने साथ वन ले चलिये ॥ १४ ॥

कृतक्षणाऽहं<sup>१</sup> भद्रं ते गमनं प्रति राघव ।

वनवासस्य शूरस्य<sup>२</sup> चर्या हि मम रोचते ॥ १५ ॥

हे राघव ! आपका मङ्गल हो । सो ( अब ) आपके साथ वन जाने का अवसर प्राप्त हुआ है और वनवास में आपको सेवा भी करना मुझे बहुत रुचता है ॥ १५ ॥

शुद्धात्मनं प्रेमभावाद्विभिष्यामि विकल्पषा ।

भर्तारपनुगच्छन्ती भर्ता हि<sup>३</sup> मम दैवतम् ॥ १६ ॥

हे ईर्ष्यादि रहित स्वामिन् ! अपने प्रीतियुक्त स्वभाव से आपके पीछे गमन करती हुई, मैं पाप रहित हो जाऊँगा । क्योंकि यह प्रसिद्ध बात है कि, मेरे लिये आप ही मेरे देवता हैं ॥ १६ ॥

प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः<sup>४</sup> सङ्गमो मे सह त्वया ।

श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां तपस्विनाम्<sup>५</sup> ॥ १७ ॥

१ कृतक्षणा —प्राप्तावसरा । ( गो० ) २ शूरस्य —तव । ३ शुद्धात्मन्—  
ईर्ष्यादिरहित ( गो० ) ४ प्रेमभावात्—प्रेमस्वभावात् । ( गो० ) ५ हि:—प्रसिद्धौ ।  
( गो० ) ६ कल्याणः—शोभनः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“यशस्विनाम्” ।

(इस लोक का तो कहना ही क्या है) परलोक में भी मैं आपके साथ रह कर, शोभा को प्राप्त होऊँगी। यह वात मैंने यशस्वी पवित्र ब्राह्मणों के मुख से सुनी है ॥ १७ ॥

इह लोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महामते ।

अद्विद्दत्ता स्वधर्मेण<sup>१</sup> प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥

इस लोक में विवाहों की विधि के अनुसार पिता जिस स्त्री को जिस पुरुष को दे देता है, परलोक में भी वही स्त्री उस पुरुष की होती है ॥ १८ ॥

एवमस्मात्स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम् ।

नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥

अतः अपनी सदाचारिणी पतिव्रता स्त्री मुझको अपने साथ ले चलना आपको क्यों नहीं रुचता? इसका कारण क्या है? ॥ १९ ॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः ।

नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

हे काकुत्स्थ! आपमें पूर्ण भक्ति रखने वाली, दीन, सुख दुःख में समान रहने वाली और आपके सुख में सुखी तथा आपके दुःख से दुःखी मुझको आप अपने साथ ले चलिये ॥ २० ॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि ।

विषमग्रिं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> स्वधर्मेण—स्वस्ववर्णक्तब्राह्मणादिविवाहविधिना । ( गो० )

यदि आप मुझ दुःखिनी को अपने साथ बन न ले चलोगे, तो मैं विष खा कर या अग्नि में जल कर अथवा पानी में छूब कर, प्राण दे दूँगी ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।

नानुमेने महावाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी के साथ बन जाने के लिये सीता जी बहुत प्रार्थना करती थीं, परन्तु श्रीरामचन्द्र उनको अपने साथ विजन बन में ले जाने को राजी नहीं होते थे ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।

स्नापयन्ती गामुणैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

तब सीता जी श्रीरामचन्द्र जी को असम्मत देख, अत्यन्त चिन्तित हुई और उनके नेत्रों से निकलो हुई गरम गरम अश्रुधारा पृथिवी को तर करने लगी—अर्थात् उनके आसुओं से वहाँ की ज़मीन तर हो गयी ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तथा तां तु निवर्त्यितुमात्मवान् ।

क्रोधाविष्टां च ताम्रोष्टीं काकुत्स्थो बहसान्त्वयत् ॥ २४ ॥

इति एकोनत्रिंशः सर्गः ॥

सीता जी को चिन्तित और मारे क्रोध के लाल लाल ओड किये देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी को बहुत समझाया, जिससे वे उनके साथ बन न जाय ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—१०१—

१ गो—भुवं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“कुचावुष्णौः” ।

## त्रिशः सर्गः

---

सान्त्वयमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।  
वानवासनिमित्ताय भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

साथ वन न चलने के लिये सीता को श्रीरामचन्द्र जी ने बहुत तरह से समझाया, किन्तु सीता जी ने उनके साथ वन जाने के लिये फिर अपने पति से यह कहा ॥ १ ॥

सा तमुत्तमसंविग्रा' सीता विपुलवक्षसम् ।  
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेपं राघवम् ॥ २ ॥

बीरबर श्रीरामचन्द्र जी से डर के मारे कांपती हुई जानकी जी ने, प्रेम और अभिमान के साथ, उपहास पूर्ण बचन कहे ॥ २ ॥

किं त्वाऽयन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।  
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

हे राम ! यदि मेरे पिता मिथिलेश यह जानते कि, आप आकार मात्र के पुरुष हैं और व्यवहार में छोड़ते हैं, तो वे कभी मेरा विवाह आपके साथ कर आपको कभी अपना दामाद न बनाते । ( अर्थात् आप पुरुष हो कर वन में मेरी रक्ता न कर सकेंगे—यह कहना आप जैसे बीरबर पुरुष को शोभा नहीं देता ) ॥ ३ ॥

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद्यद्वि वक्ष्यति ।  
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

---

१ उत्तमसंविग्रा—अत्यन्तं कम्पमाना । ( गो० ) २ विपुलवक्षसम्—शर-  
मिति यावद् । ( गो० ) ३ परिचिक्षेप—सोपहासवचनमुक्तवती । ( रा० )

खेद की वात है। जोग अज्ञान वश कहने लगे कि, राम सूर्य के समान ते जस्ती देख पड़ते हैं, किन्तु इनमें वास्तव में तेज है नहीं ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।  
यत्परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

हे राम ! आप किस लिये इतने डदाम हो रहे हैं अथवा आप किस वात के लिये इतने डर रहे हैं कि, जो मुझ जैसी अपनी अनन्य भक्ता को यहाँ छोड़ कर, बन जाना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीर सत्यवन्तमनुव्रताम् ।  
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

वीरवर राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान में सावित्री के तुल्य मुझे भी अपने वश में जानो। अर्थात् द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान के पीछे पीछे सावित्री जैसे बन को गयी थी, वैसे ही मैं भी आपके पीछे पीछे चलूँगी ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसाऽप्यन्यं द्रष्टास्मि त्वद्वतेऽनघ ।

त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

हे अनघ ! मैंने आपको छोड़, परपुरुष को देखने की कभी मन में भी कल्पना नहीं की। जैसी को कुलकलड़िनी खियां परपुरुषरत होती हैं, वैसी मैं नहीं हूँ। अतः मैं आपके साथ चलूँगी ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्या कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।  
शैलूष<sup>१</sup> इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> शैलूष—जायाजीव । ( गो० )

हे राम ! बहुत दिनों से आपके पास रहने वाली, कौमारा-वस्था ही मैं आपके साथ विवाहित, मुझ सती—पतिव्रता की, नट की तरह आप अपने से भिन्नपुरुष ( अर्थात् भरत ) के पास छोड़ना क्यों चाहते हैं ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यं च रामात्थ यस्य चार्थेऽवरुद्ध्यसे ।

त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदाऽनघ ॥ ९ ॥

हे अनघ ! आप जिसका हित चाहते हैं और जिसके कारण आपके राज्याभिषेक में वाधा पड़ी ( अर्थात् कैकेयी और भरत ) उसके वश में और उसके आज्ञाकारी आप ही बनें । मैं उसके वश में होना अथवा उसकी आज्ञानुवर्तिनी बन कर रहना नहीं चाहती ॥ ९ ॥

स मामनादाय बनं न त्वं प्रस्थातुमर्हसि ।

तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात्त्वया सह ॥ १० ॥

अतः आप मुझे अपने साथ हो बन में ले चलिये । चाहे आप तप करें, चाहे आप बनवास करें और चाहें स्वर्गवास करें—मुझे तो आपके साथ ही रहना उचित है ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित्पथि परिश्रमः ।

पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव<sup>१</sup> ॥ ११ ॥

मुझे मार्ग चलने में कुछ भी परिश्रम न होगा । प्रत्युत आपके पीछे पीछे चलने में मुझे ऐसा सुख जान पड़ेगा जैसा कि बागों में घूमने फिरने से अथवा आपके साथ शयन करने से प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> विहारशयनेष्विव—विहारः परिश्रमः, उद्यानसञ्चार इति । “विहारस्तु रिक्षमः” इत्यमरः । ( गो० )

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।

तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

हे राम ! कुशकाश, सरपत, मूँज तथा अन्य और भी जो कटीले बृक्ष हैं, वे आपके साथ रास्ता चलने पर मुझे रह और मृगचर्म की तरह कोमल जान पड़ेंगे ॥ १२ ॥

महावातसमुद्धूतं यन्मामपकृरिष्यति ।

रजो रमण तन्मन्ये परार्ध्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

हे राम ! आधी से उड़ कर जो धूल मेरे शरीर पर आ कर पड़ेगी, उसे मैं आपके साथ रह कर, उत्तम चन्दन के समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यथा शिश्ये वनान्ते वनगोचर ।

कुथास्तरणतल्पेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

मैं जब आपके साथ हगी हरी धास के बिछौने पर सोऊँगी, तब मुझे पलंग पर बिछे हुए, मुलायम गलीचे पर सोने जैसा सुख प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

पत्रं मूलं फलं यत्त्वमल्पं वा यदि वा बहु ।

दास्यसि स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

जो कुछ थोड़े अथवा बहुत शाक या फल आप स्वयं ला दिया करेंगे, वे ही मुझे अमृत जैसे स्वादिष्ट जान पड़ेंगे ॥ १५ ॥

न मातुर्न॑ पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः ।

‘आर्तवान्युपभुज्ञाना पुष्पाणि च फलानि च ॥१६॥

वन में ऋतुफलों का और ऋनुपुष्पों का उपभोग करती हुई  
मैं न तो मा की, न बाप की, और न घर ही की याद करूँगी ॥ १६ ॥

न च तत्र गतः किञ्चिद्द्रष्टुमर्हसि विप्रियम् ।

मत्कृते न च ते शोको न भविष्यति दुर्भरा ॥ १७ ॥

मेरे कारण वन में आपको न तो कुछ भी क्षेत्र होगा और न  
आपको शोच ही वाधा देगा और न मुझे खिलाने पिलाने की  
चिन्ता ही आपको करनी पड़ेगी ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गे निरयो यस्त्वया विना ।

इति जानन्परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥ १८ ॥

बहुत कहाँ तक कहूँ । आपके साथ रहने में मुझे सर्वत्र स्वर्ग  
के समान सुख है और आपके बिना सब जगह नरक के समान  
दुःख है । बस आप यही विवार कर और प्रसन्नता पूर्वक मुझे अपने  
साथ वन में ले चलिये ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां<sup>१</sup> वनं नैव नयिष्यसि ।

विषमद्यैव पास्यामि मा विशं द्विषतां वशम् ॥ १९ ॥

यदि आप मुझे, जिसे वन सम्बन्धी किसी भी बात का भय  
नहीं है, अपने साथ ले चलने को राजी न हुए, तो मैं आप ही  
के सामने विष पी कर प्राण त्याग दूँगी—किन्तु बैरियों की हो  
कर, मैं न रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् ।

उजिभतायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

<sup>१</sup> अव्यग्रा — वनगमनविषयभीतिरहिताम् । ( गो० )

हे नाथ ! आपके जाने के बाद भी तो दुःख से मुझे मरना ही है । आप द्वारा परित्यका, मुझे जैसी के लिये मरना ही अच्छा है ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे ।

किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

मैं आपके वियोग के शोक को मुहूर्त भर भी नहीं सह सकती, तब चौदह वर्ष के वियोगजन्य दुःख को, मैं क्यों कर सह सकूँगी ॥ २१ ॥

इति सा शोकसन्तसा विलप्य करुणं बहु ।

चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥ २२ ॥

सीता जी शोक से सन्तस हो, वारंवार करुणपूर्ण चिलाप कर और श्रीरामचन्द्र जी को आलिङ्गन कर, उच्च स्वर से रुदन करने जारी ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्घैरिव<sup>१</sup> गजाङ्गना ।

चिरसन्नियतं वाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥ २३ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी के वचनों से, विष में बुझे बाण से हथिनी की तरह विद्ध जानकी जी के बहुत काल से रुके हुए आँख वैसे ही प्रकट हुए, जैसे ग्ररणी से आग प्रकट होती है ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसङ्काशं वारि सन्तापसम्भवम् ।

नेत्राभ्यां परिसुस्ताव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

<sup>१</sup> दिग्घैः—विषलिसैबणैः । ( गो० )

जानकी जी के नेत्रों से स्फटिक पथर जैसे सफेद आँखुओं  
की बूँदे वैसे ही गिरीं जैसे कमलों से पानी की बूँदे टपकती  
हैं ॥ २४ ॥

तच्छैवामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम् ।

पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

उस समय प्रबल शोक की आग से पूर्णिमा के चन्द्र के समान  
चमचमाता हुआ सीता जी का मुखमण्डल, जल से निकाले हुए  
कमल की तरह, मुरझा गया ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।

उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

तब थीरामचन्द्र जी ने मूर्क्षितप्राय और शोकविकल जानकी  
जी को, अपनी दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर, उनको विश्वास  
दिलाते हुए कहा, ॥ २६ ॥

न देवि तव दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।

न हि मेऽस्ति भयं किञ्चित्स्वयंभोरिव सर्वतः ॥ २७ ॥

हे देवि ! तुझे कष्ट दे कर मुझे स्वर्ग की भी चाहना नहीं है ।  
( तू जो यह कहती है कि, डर के मारे मैं तुझे बन नहीं ले  
जाना चाहता—सो ठीक नहीं, क्योंकि ) मुझे कुछ भी भय नहीं  
है । जिस प्रकार ब्रह्मा जी किसी से नहीं डरते, वैसे ही मैं भी सब  
से निर्भय हूँ ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।

वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

( तेरा यह कहना भी ठोक नहीं कि, तुम हज़ारों का पालन और रक्षा कर सकते हो, तब क्या वन में मुझे श्रकैली की रक्षा और पालन न कर सकोगे—क्योंकि ) मैं सब भाँति तुम्हारी रक्षा कर सकता हूँ, किन्तु मुझे तुम्हारे मन का अभिप्राय मालूम नहीं था, इसी लिये मुझे तुम्हारा वन में रहना पसन्द नहीं था ॥ २८ ॥

यत्सुष्टाऽसि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।

न विहातुं मया शक्या कोर्त्तिरात्मवताः॑ यथा ॥२९॥

यदि तुम मेरे साथ वनवास<sup>१</sup> के ही लिये बनायी गयी हो—अथवा तुम्हारे भाष्य में यदि मेरे साथ वनवास ही लिखा है, तो मैं तुम्हें छोड़ कर, वैसे ही नहीं जा सकता, जैसे शीलवान् अपनी कीर्ति नहीं छोड़ सकता ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्गुराचरितः पुरा ।

तं चाहमनुवर्तेऽद्य यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

हे गजनासोरु ! पहले के सज्जन लोग जैसा धर्मचरण कर चुके हैं, उसीका अनुसरण मैं भी करूँगा और तू भी कर। जैसे सुवर्चला देवी सूर्य भगवान् का अनुसरण करती हैं, वैसे ही तू भी मेरा अनुसरण कर ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।

वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

हे जनकनन्दिनी ! मैं अपनी इच्छा से वन नहीं जा रहा। किन्तु सत्य के पाश में बँधे हुए पिता की आङ्गा का पालन करने के लिये मैं वन जा रहा हूँ ॥ ३१ ॥

<sup>१</sup> आत्मवता—शीलवता । ( गो० )

एष धर्मस्तुं सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।

आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

हे सुश्रोणि ! पिता और माता का कहना मानना ही पुत्र के लिये धर्म है । पिता माता की आज्ञा को उल्लङ्घन कर, मैं जीना भी नहीं चाहता ॥ ३२ ॥

स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ॥ ३३ ॥

जो दैव अर्थात् प्रत्यक्ष प्रगट नहीं है, उसके ऊपर भरोसा कोई कैसे कर सकता है ; किन्तु माता, पिता और गुरु तो प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं, अतः इनकी आज्ञा का उल्लङ्घन न करना चाहिये ॥ ३३ ॥

यत्र्यं तत्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।

नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

जिनकी ( अर्थात् माता, पिता और गुरुजनों की ) आराधना करने से धर्म, धर्म और काम—इन तीनों की प्राप्ति होती है और जिनकी आराधना करने से तीनों लोकों की आराधना हो जाती है, उनकी आराधना से बढ़ कर, पवित्र कार्य इस पृथिवी तल पर दूसरा कोई नहीं है, इसी लिये मैं इनकी आराधना करता हूँ ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा न यज्ञाश्वासदक्षिणाः ।

तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता<sup>१</sup> ॥ ३५ ॥

<sup>१</sup> हिता—हितकारी । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“ अतश्च तं । ”

हे सीते ! सत्य, दान, मान और दक्षिणा सहित यज्ञ, परलोक-प्राप्ति के लिये उतने हितकर नहीं, जितनी कि पिता आदि गुरु जनों की सेवा है। अर्थात् पितादि गुरुजनों की सेवा करने से परलोक में जो फल प्राप्त होता है, वह फल सत्य बोलने, दान मानादि करने से अथवा दक्षिणा सहित यज्ञ करने से प्राप्त नहीं होता ॥३५॥

स्वर्गे धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च ।  
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

जो लोग पिता मातादि गुरुजनों की सेवा किया करते हैं, उनके लिये, केवल स्वर्गादि लोक, धन धान्य, विद्या, सन्तानादि के सुख ही नहीं, किन्तु उनको कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान्ब्रह्मलोकांस्तथा नराः ।  
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

जो महात्मा लोग माता पिता की सेवा किया करते हैं, उनको देवलोक, गन्धर्वलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक तथा अन्य लोकों की भी प्राप्ति होती है ॥ ३७ ॥

स मां\* पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।  
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

अतः सत्यमार्ग में स्थित नेरे पिता मुझे जो आशा दें, मुझे तदनुसार ही करना चाहिये। यही सनातन धर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्नामितिः सीते त्वां नेतुं दण्डकावनम् ।  
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥३९॥

\* सन्ना—तद्वावापरिज्ञानात्क्षीणा । ( गो० ) \* पाठान्तरे “मा । ”

हे सीते प्रथम तो, तुम्हारे मन का अभिप्राय न जानने के कारण  
मेरो इच्छा तुम्हें अपने साथ वन में ले चलने की न थी, किन्तु अब  
मैंने तुम्हारी दृढ़ता देख—तुम्हें अपने साथ दण्डकवन में ले चलने  
का भली भाँति निश्चय कर लिया है ॥ ३६ ॥

सा हि सृष्टाऽनवद्याङ्गी वनाय मदिरेक्षणे ।

अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

क्योंकि जब तु वन जाने ही के लिये बनायी गयी, है तब हे  
मदिरेक्षणे ! (लाल लाल नेत्रों वाली !) तू मेरे साथ वन को चल  
और मेरे धर्मानुष्ठान में तू भी योग दे ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च ।

व्यवसायमतिक्रान्ता सीते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

हे सीते ! तूने जो मेरे साथ वन में चलना विचारा है, सो यह  
बहुत ही अच्छी बात है और तेरा मेरे साथ चलना मेरे और  
मेरे कुल के सर्वथा अनुरूप कार्य है ॥ ४१ ॥

आरभस्व गुरुश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः ।

नेदानीं त्वद्वते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

हे गुरुश्रोणि ! अब वनवास की तैयारी कर । इस समय तेरे  
विना मुझे स्वर्ग भी नहीं रुचता ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम् ।

देहि चाशंसपानेभ्यः सन्त्वरस्व च मा चिरम् ॥ ४३ ॥

अतः ब्राह्मणों को सब रत्न दान कर और भिक्षुकों को भोजन  
दे कर, चलने की जल्दी तैयारी कर । देर न होने पावे ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च ।

रमणीयाश्च ये केचित्कीडार्थश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥

अपने वहुमूल्य भूषण, और अनेक प्रकार के श्रेष्ठ वस्त्र तथा अन्य जो कुछ तेरे और मेरे विनोद का सामान हैं, वह सब ॥ ४४ ॥

शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च ।

देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

और मेरे और अपने ओढ़ने विकौनि, सवारी आदि ब्राह्मणों को दे कर, जो बचे—उन्हें नौकरों चाकरों को दे दो ॥ ४५ ॥

अनुकूलं तु सा भर्तुज्ञात्वा गमनमात्मनः ।

क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेवोपचक्रमे ॥ ४६ ॥

शोरामचन्द्र जो को अपने अनुकूल देख और उनके साथ अपना बनगमन निश्चय जान, सोना जो प्रसन्न हुई और ( पति की आङ्गा के अनुसार ) सब वस्तुएँ देने लगीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा<sup>१</sup>

यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम् ।

धनानि रक्नानि च दातुमङ्गना

प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

इति त्रिशः सर्गः ॥

<sup>१</sup> प्रतिपूर्णमानसा—निइचन्तेत्यर्थः । ( गो० )

यशस्विनी सीता, पति को अपने अनुकूल बोलते देख, प्रसन्न और निश्चिन्त हो गये। मनस्विनी जानकी जी धर्मात्मा ब्राह्मणों को धन, रक्षादि अपनी सब वस्तुएँ दान करने लगीं ॥४७॥

अयोध्याकाण्ड का तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

—\*—

### एकत्रिंशः सर्गः

—\*—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः ।  
बाषपपर्याकुलमुखः शोकं सोदुमशक्तुवन् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी और सीता जी की इस प्रकार आपस में बात-चीत आरम्भ होने के पूर्व ही लक्ष्मण वहाँ पहुँच गये थे। इस बात-चीत को सुन, मारे दुःख के लक्ष्मण जी की आँखों से अश्रु की धाराएँ बहने लगीं। वे इस समय शोक के वेग को रोकने में असमर्थ थे ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाहं निपीड्य रघुनन्दनः ।  
सीतामुवाचातियशा राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

लक्ष्मण जी ने भाई के चरणों में प्रणाम कर, महायशस्विनी जानकी जी और महाव्रतधारी श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २ ॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम् ।  
अहं त्वाऽनुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

यदि मृग और गजों से भरे हुए वन में जाने का आप निश्चय कर चुके हैं, तो मैं आपके आगे धनुष बाण ले कर चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि बहूनि विचरिष्यसि ।

पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

मेरे साथ आप उन रमणीय वनों में, जिनमें पक्षी और हिरनों के सुखद चारों ओर नाना प्रकार के शब्द करेंगे, घूमना ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।

ऐश्वर्यं वाऽपि लोकानां कामये न त्वया विना ॥५॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आपको क्षेत्र, न तो मुझे देवलोक की, न अमरत्व की, और न अन्य लोकों के ऐश्वर्य की चाहना है ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिवनवासाय निश्चितः ।

रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के इस प्रकार कहने पर और उनको वन में जाने को उद्यत देख, बहुत प्रकार से समझाया, और वन में चलने को बर्जा । तब लक्ष्मण जी फिर बोले ॥ ६ ॥

अनुज्ञातश्च भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।

किमिदानीं पुनरिदं क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

भाई ! पहिले आपने मुझे जो आज्ञा दी थी, उसका निषेध अब आप कर्ते हैं । अर्थात् आप पहले मुझसे कह चुके हैं कि, वन में चलना, अब आप अपने साथ मुझे ले चलने के लिये मना कर्ते हैं ? ॥ ७ ॥

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।

एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

जिस कारण से आप मुझे बन जाने से रोकते हैं, हे अनघ !  
वह मैं जानना चाहता हूँ। क्योंकि इस निषेध का सुन, मुझे बड़ा  
सन्देह हो गया है॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामे लक्ष्मणमग्रतः ।

स्थितं प्राग्गामिनं वीरं याचमानं कुताञ्जलिम् ॥९॥

हाथ जोड़ कर, बन जाने के लिये याचना करते हुए और  
पहिले यात्रा करने के लिये सामने तैयार खड़े हुए लक्ष्मण जी के  
इन वचनों को सुन, महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ९ ॥

स्निग्धोऽ धर्मरतो वीरः सततं सत्पथे स्थितः ।

प्रियः प्राणसमो वश्योऽ भ्राता चापिसखा च मे ॥१०॥

हे लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्म में रत, शूर, सदैव सन्मार्ग  
पर चलने वाले, प्राण के समान प्रिय, मेरे दास, छोटे भाई और  
मित्र भी हो ॥ १० ॥

मयाऽय सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।

को भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥११॥

( अतः तुम्हारे मेरे साथ चलने से मुझे सब प्रकार का सुपास  
होगा ; किन्तु ) यदि धाज तुम मेरे साथ बन चल दिये, तो  
यशस्विनी माता कौशल्या और सुमित्रा का पालन कौन  
करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।

स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

१ स्निग्धः—मद्विषयकस्नेहवान् । ( शि० ) २ इतरेषांमवश्यः ममतु  
विषया किङ्करः । ( स० )

देखो जो महातेजस्वी महाराज, सब के मनोरथों को उसी प्रकार पूर्ण करते थे, जिस प्रकार मेघ पृथिवी के सब मनोरथों को पूर्ण करते हैं, वे तो कामवश हो रहे हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।

दुःखितानां सपनीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

अश्वपति को बेटी कैकेयी जब राजमाता होगी, तब वह अपनी दुःखिनी सौतों के प्रति अच्छा वर्ताव न करेगी ॥ १३ ॥

न स्मरिष्यति कौशल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।

भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

वह न तो कौशल्या का और न सुमित्रा ही का ज्ञान रखेगी । भरत जी ( भी ) राज्य पा कर, कैकेयी ही के आक्षानुसार काम करेंगे ॥ १४ ॥

तमार्या॑ स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।

सौमित्रे भर कौशल्यामुक्तमर्थमिमं चर ॥ १५ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! तुम यहीं रह कर, स्वयं अथवा राजा के अनुग्रह को प्राप्त कर, अथवा जैसे हो वैसे, कौशल्यादि का भरण पैषण करो । यह मेरा कथन तुमको पूरा करना उचित है ॥ १५ ॥

एवं मम च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।

धर्मज्ञ गुरुर्पूजायां॑ धर्मश्राप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

हे धर्मज्ञ ! इस प्रकार कार्य करने से, मेरे में तुम्हारी परम भक्ति प्रदर्शित होगी और साथ ही माताओं की सेवा से तुमको बड़ा भारी पुण्य भी होगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।

अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्ना न भवेत्सुखम् ॥ १७ ॥

हे लक्ष्मण ! मेरा कहना मान कर, तुम ऐसा ही करो । क्योंकि हम दोनों के यहाँ न रहने पर हमारी माताओं को सुख न होगा ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्षणया गिरा ।

प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने जब कहा, तब लक्ष्मण जी ने वाक्य-विशारद श्रीरामचन्द्र जी को मधुर वचनों से उत्तर दिया ॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति

कौशल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नात्र संशयः ॥ १९ ॥

हे वीर ! आपके प्रताप से भरत जी कौशल्या और सुमित्रा का प्रतिपालन करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥

[यदि दुष्टो न रक्षेत भरतो राज्यमुक्तमम् ।

प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥

हे वीर ! और यदि दुष्ट भरत इस उत्तम राज्य को पा कर, दुष्टता से और विशेष कर गर्व से, माताओं की रक्षा न करेंगे, ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः ।

तत्पक्ष्यानपि तान्सर्वाख्येलोक्यमपि किं नु सा ॥ २१ ॥]

तो मैं उस नीच और नृशंस को मार डालूँगा—इसमें भी सन्देह नहीं है । उसकी हिमायत में भले ही तीनों लोक ही क्यों

न खडे हों—मैं उसके सब हिमायतियों अथवा पञ्चपातियों का संहार करूँगा ॥ २१ ॥

कौशल्या विभृयादार्या सहस्रामपि मद्विधान् ।

यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम्\* ॥ २२ ॥

हे श्रार्य ! माता कौशल्या तो मुझ जैसे हज़ारों का स्वयं भरणे पैषण कर सकती हैं, क्योंकि जिनके नेग पाने वाले सहस्रों गाँवों के मालिक हैं ॥ २२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च ।

पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय यशस्विनी ॥ २३ ॥

वे यशस्विनो माता कौशल्या अवश्य ही अपना और मेरी माता का अथवा मुझ जैसे ( हज़ारों ) का पालन भली भाँति कर सकती हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते ।

कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्पते ॥ २४ ॥

अतएव आप मुझे अपना अनुचर बनाइये । मेरे बन चलने में कुछ भी अधर्म न होगा । प्रत्युत मैं तो कृतार्थ हो जाऊँगा और आपका भी अर्थ साधन होगा ॥ २४ ॥

धनुरादाय सशरं खनित्रपिटकाधरः ।

अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमनुदर्शयन् ॥ २५ ॥

( अर्थसाधन क्या होगा ? यही ) मैं तीरों सहित धनुष, खंता (ज़मीन से कंदमूल खोदने का औज़ार) और बाँस की बनी फल फूल रखने की कंडो लिये हुए, आपके आगे आगे मार्ग बतलाता हुआ चलूँगा ॥ २५ ॥

\* पाठान्तरे “ जीवनम् । ”

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च ।

वन्यानि यानि चान्यानि स्वाहाराणि<sup>१</sup> तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

और कन्दमूल तथा फल तथा तपस्वियों के भोजन करने योग्य वन में उत्पन्न होने वाले शाक पातादि तथा अन्य वस्तुएँ भी नित्य ला दिया करूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसातुषु रंस्यते ।

अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः<sup>२</sup> स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

आप वैदेही सहित पर्वतों के शिखरों पर विहार कीजियेगा । मैं सोते जागते अर्थात् हर समय आपके सब काम कर दिया करूँगा ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम् ।

ब्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण जी के इन वचनों को सुन, अति प्रसन्न हो, उनसे बोले—हे लक्ष्मण ! तुम माता सुमित्रा और अपने सब सुहृज्जनों से मेरे साथ वन चलने की आज्ञा ले आओ ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम् ।

जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥

और वरुण देव ने स्वयं राज्यिं जनक के, उनके महायज्ञ में जो रौद्र रूप दो धनुष ॥ २९ ॥

\*अभेद्येकवचे दिव्ये तूणी चाक्षयसायकौ ।

आदित्यविमलौ चोभौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥

<sup>१</sup> स्वाहाराणि—सुखेननाहर्तुंभोक्तुंयोग्यानि । (गो०) <sup>२</sup> जाग्रतः स्वपतश्चेत्यनेन स्वस्थ निद्रा वशीकरण सामर्थ्यं सूचितम् । (शि०)

\* पाठान्तरे “अभेद्य । ”

सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसव्वनि ।

स त्वमायुधमादाय क्षिप्रमावज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

अमोघ कवच और दिव्य दो शक्तय तरकस (ऐसे तरकस जिनसे बाण कभी चुकते ही न थे) और सूर्य की तरह चमचमाती और सुनहले काम की दोनों तलवारें दी थीं, और (जो हमें महाराज जनक से विवाह के दहेज़ में मिले हैं) जो वशिष्ठ जी के घर में बड़ी चैकसी के साथ रखे हैं, लक्ष्मण ! इस समय तुम उन सर्वआयुधों का ले कर, जल्दी यहाँ चले आओ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

स सुहृजनमायन्त्र वनवासाय निश्चितः ।

इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

अपना वन जाना निश्चित हुआ जान, लक्ष्मण जी ने सुहृजनों से विदा माँगी और वशिष्ठ जी के घर से, उन उत्तम आयुधों को ले आये ॥ ३२ ॥

तदिव्यं रघुशार्दूल सत्कृतं माल्यभूषितम् ।

रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

जो बड़े यत्न से रखे हुए थे और जो पुर्णों से भूषित थे । उन सब आयुधों को वहाँ से लक्ष्मण जी ने ला कर, श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवानरामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम् ।

काले त्वमागतः सौम्य काङ्गक्षिते मम लक्ष्मण ॥ ३४ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने (आये हुए) लक्ष्मण जी से प्रसन्न हो कर, कहा—हे सौम्य ! तुम भले समय पर आ गये ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मायकं धनम् ।

ब्राह्मणेभ्यस्तपस्त्विभ्यस्त्वया सह परन्तप ॥ ३५ ॥

हे भाई ! मेरे पास जो कुछ धन है—उसे मैं ब्राह्मणों और तपस्त्रियों को देना चाहता हूँ। सो तुम इस कार्य में मुझे सहायता दो ॥ ३५ ॥

‘वसन्तीहै दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः ।

तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

इस नगर में जो ब्राह्मणोत्तम गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाले वसते हैं, उन सब को और अपने नौकरों चाकरों को धन देना चाहित है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्य

त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम् ।

अभिप्रयास्यामि वनं समस्ता-

नभ्यर्च्य शिष्टानपरान्द्विजातीन् ॥ ३७ ॥

इति एकत्रिंशः सर्गः ॥

वशिष्ठ जी के पुत्र सुयज्ञ की जो ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं, तुम जा कर, शीघ्र बुला लाओ। मैं इनका तथा अन्य शिष्ट ब्राह्मणों का सत्कार कर, वन जाऊँगा ॥ ३७ ॥

श्रयोध्याकाश्व का इकतीसवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

१ वसन्ति—गुरुषुभक्तया ये हृदं वसन्ति । (गो०) २ इह नगरे । (गो०)

## द्वात्रिंशः सर्गः

—०—

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः शुभतरं प्रियम् ।

गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा पाने पर, लक्ष्मण जी सुयज्ञ के घर गये ॥ १ ॥

तं विप्रमन्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत् ।

सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेशम् दुष्करकारिणः ॥ २ ॥

और यज्ञशाला में बैठे हुए सुयज्ञ को प्रणाम कर बोले—हे मित्र ! श्रीरामचन्द्र जी राज कोड कर, वन जा रहे हैं, सो आप घर चलिये और देखिये कि, वे कैसा दुष्कर कर्म कर रहे हैं ॥ २ ॥

ततः सन्ध्यामुपास्याशु गत्वा सौमित्रिणा सह ।

जुष्टं तत्प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, सुयज्ञ ने सन्ध्योपासन शीघ्र समाप्त किया और वे लक्ष्मण जी के साथ सुशोभित रमणीक राम-भवन में पहुँचे ॥ ३ ॥

तपागतं वेदविदं प्राश्वलिः सीतया सह ।

सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

वेदविद् और अग्नि के समान तेजस्वी सुयज्ञ को आते देख, सीता समेत श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े उठ खड़े हुए ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः ।

सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूर्वैर्लयैरपि ॥ ५ ॥

और अच्छे अच्छे सोने के गहने, सुन्दर कुण्डल, सुवर्ण सूत्र में गुथी मणियों की माला, केयूर ( बा.जूबंद ) कंकण ॥ ५ ॥

अन्यैश्च रत्नैर्वहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत् ।

सुयज्ञं स तदेवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥

तथा अन्य भूषणों तथा वहुत से रत्नों से श्रीरामचन्द्र जी ने उनका पूजन किया । तदनन्तर सीता जी की प्रेरणा से श्रीरामचन्द्र सुयज्ञ से बोले ॥ ६ ॥

हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय ।

रशनांचाधुना सीता दातुमिच्छति ते सखे ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! यह हार और यह सोने की गंज लो । हे सखे ! सीता जी ये तुम्हारी स्त्री के लिये देना चाहती हैं ॥ ७ ॥

अङ्गदानि विचित्राणि केयुराणि शुभानि च ।

प्रयच्छति सखे तुम्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

इनके अतिरिक्त ये बढ़िया बाजूबंद की जाड़ी तथा ये दिव्य केयूर, मेखला मेरे साथ बन को जाने वाली सीता, तुम्हारी स्त्री को देती हैं ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमउयास्तरणं नानारत्नविभूषितम् ।

तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

इस पलंग को भी जो कोमल स्वच्छ विद्वानों से युक्त है और जिसमें तरह तरह के रत्न जड़े हुए हैं, वैदेही आप ही को देना चाहती हैं ॥ ९ ॥

१ रशनांचते—भार्यायै सीतादातुमिच्छति तत्सचेहारय दापर्ययेत्यर्थः । (गो०)

नागः शत्रुञ्जयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम ।  
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुज्ञव ॥ १० ॥

यह शत्रुञ्जय नाम का हाथी, जो मुझे अपने मामा से मिला है, सो है द्विजोत्तम ! मैं तुम्हें हज़ार निष्क दक्षिणा सहित देता हूँ ॥ १० ॥

इत्युक्तः स हि रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत् ।

रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाः पश्चात् \*शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इस प्रकार कह कर दिये हुए पदार्थों को ले, सुयज्ञ ने श्रीराम लक्ष्मण और सीता को शुभाशीर्वादि दिया ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियं वदः ।

सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर, जिस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी इन्द्र से बोलते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अव्यग्र और प्रियवचन बोलने वाले, प्रिय लक्ष्मण जी से कहा ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभां ब्राह्मणोत्तमौ ।

आर्चयाहूय सौमित्रे रक्षैः सस्यमिवाम्बुधिः ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! अगस्त्य और विश्वामित्र के पुत्रों को भी बुला लो और इन दोनों उत्तम ब्राह्मणों को भी उसी प्रकार से रक्षों से सत्कारित करो, जिस प्रकार अनाज का खेत जल से सींचा जाता है ॥ १३ ॥

तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रैश्च मानद ।

सुवर्णै रजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

\* पाठान्तरे—“शुभाः ।”

दानों को एक एक हज़ार गौण और बहुमूल्य सेवने चांदी के मणिजटित आभूषण तथा बहुत सा धन दे कर तुस करो ॥ १४ ॥

**कौसल्यां च सुमित्रां च भक्तः पर्युपतिष्ठति ।**

**आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥**

तैतरीय शाखा के आचार्य इस ब्राह्मण को, जो कौशल्या और सुमित्रा को नित्य बड़ी भक्ति के साथ आशीर्वाद दिया करता है और सब वेद वेदान्त का ज्ञानने वाला है और सब प्रकार से योग्य है ॥ १५ ॥

**तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।**

**कौशेयानि च वस्त्राणि यावत्तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥**

सवारी, दासियों और रेशमी वस्त्र दो, जिससे यह ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाय ॥ १६ ॥

**सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।**

**तोषयैनं महाहैश्च रवैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥**

यह श्रेष्ठ चित्ररथ नाम का पुरुष, जो मेरा मंत्री है और बहुत दिनों से मेरे यहाँ रहता है, इसका बहुमूल्य रक्त, वस्त्र और धन दे कर सन्तुष्ट करो ॥ १७ ॥

**पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।**

**ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥**

ये जो मेरे कठ और कलाप शालाभ्यायो बहुत से ब्रह्मचारी हैं, इनको दस हज़ार गौण और अन्य बहुत से पशु दो ॥ १८ ॥

१ दण्डमाणवाः—सदापलाशदण्ड धारिणो ब्रह्मचारिण इत्यर्थः । (गो०)

नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्यत्कुर्वन्ति किञ्चन ।

अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥

क्योंकि वे सदा वेद पढ़ा करते हैं और कोई दूसरा काम नहीं करते । वे भिजावृत्ति करने में आलसी तो हैं, किन्तु स्वादिष्ट पदार्थ खाने को उनकी बड़ी इच्छा रहती है, किन्तु हैं वे बड़े सदाचारी ॥ १६ ॥

तेषामशीतियानानि॒ रत्नपूर्णानि दापय ।

शालिवाहसहस्रं॑ च द्वे शते भद्रकां॑स्तथा ॥ २० ॥

अतः इनको रत्नों से भरे अस्सी ऊँट, शाल नामक अम से भरे एक हज़ार तथा खेती के काम योग्य दो सौ बैल दो ॥ २० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।

मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ॥ २१ ॥

दही, धी, दूध खाने के लिये इनको अनेक गौएँ भी दे दो । देखो मेखला धारण किये हुए ब्रह्मचारियों की जो भीड़ माता कौशल्या के पास उपस्थित है, ॥ २१ ॥

तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ।

अम्बा यथा च सा नन्देत्कौसल्या मम दक्षिणाम् ॥२२॥

- १ महतां चापि सम्मताः—अतीव माधवाचारा इत्यर्थः । ( गो० )  
 २ यानानि—उष्ट्राः । ( गो० ) ३ शालिवाहसहस्रं—शालिधान्यवाहक-  
 वलीर्वद्सहस्रं । ( गो० ) ४ भद्रकान—कर्षणयोग्यानन्दुहइत्यर्थः ।  
 ( गो० )

उनमें से प्रत्येक को सहस्र गौ और सहस्र निष्ठ दे दो । अथवा जितनो दक्षिणा देने से माता कौशल्या आनन्दित हों, उतनी उतनी दक्षिणा ॥ २२ ॥

तथा द्विजार्तीस्तान्सर्वाल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ।

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद्धनं लक्ष्मणः स्वयम् ॥ २३ ॥

उनको दे कर, हे लक्ष्मण ! उन सब ब्राह्मणों का सत्कार करो । श्रीरामचन्द्र के इन वचनों को सुन, पुरुषश्चेष्ट श्रीलक्ष्मण जी ने स्वयं ॥ २३ ॥

यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद्धनदो यथा ।

अथाब्रवीद्वाष्पकलास्तिष्ठतश्चोपजीवनः ॥ २४ ॥

वह समस्त धन कुवेर की तरह उन ब्राह्मणों को दे दिया जैसा था, श्रीरामचन्द्र जी ने देने को कहा था । तदनन्तर उन उपजीवियों ( नौकरों तथा नेगियों ) में से, जो खड़े खड़े रो रहे थे, ॥ २४ ॥

सम्प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ।

लक्ष्मणस्य च यद्वेशम् गृहं च यदिदं मम ॥ २५ ॥

अशून्यं<sup>१</sup> कार्यमेकैकं<sup>२</sup> यावदागमनं मम ।

इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ॥ २६ ॥

प्रत्येक को जीविका के लिये बहुत सा द्रव्य दे कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा—जब तक मैं वन से लौट कर न आऊँ,

<sup>१</sup> अशून्यं—यथापूर्वमवस्थित्यविश्यरक्षणीयमित्यर्थः । ( गो० )

<sup>२</sup> एकैकं—पृथक् पृथक् । ( गो० )

तब तक लक्ष्मण का और मेरा घर खाली न रहने पावे और आप लोग एक एक कर ( अर्थात् बारो बारो से ) जैसी कि मेरे सामने रखचाली करतं हैं वैसी ही मेरे पीछे भी किया करना । सब नौकरों चाकरों को दुःखी देख, श्रीरामचन्द्र जी ने ॥ २५ ॥ २६ ॥

उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतामिति ।

ततोऽस्य धनमाजहुः सर्वमेवोपजीविनः ॥ २७ ॥

खजांशी से कहा धन ले आओ । यह आङ्गा पाते ही नौकरों ने ला कर धन का ढेर लगा दिया ॥ २७ ॥

स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो हृदयत् ।

ततः स पुरुषव्याघस्तद्धनं सहलक्ष्मणः ॥ २८ ॥

उस समय उस धन के ढेर की शोभा देखे ही वन आती थी ।  
तदनन्तर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह धन, ॥ २८ ॥

द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो हृदापयत् ।

तत्रासीतिपङ्क्लो गार्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः ॥ २९ ॥

ब्राह्मणों, बूढ़ों और दीन दुखियों को बँटवा दिया । वहाँ पर गर्ग गोत्री एक ब्राह्मण था, जिसका नाम त्रिजट था और ( चिन्ता के मारे ) उसका शरीर पीला पड़ गया था ॥ २९ ॥

उच्छृङ्खलित्वने नित्यं फालकुहाललङ्कली ।

तं वृद्धं तरुणी भर्या बालानादाय दारकान् ॥ ३० ॥

अब्रवीद्ब्राह्मणं वाक्यं दारिद्रेयणाभिपीडिता ।

अपास्य फालं कुदालं कुरुष्व वचनं मम ॥ ३१ ॥

वह उच्छ्वस्ति से निर्वाह करता था, वह नित्य फावड़ा, कुदाल तथा हल ले वन जाता और फलमूल जो कुछ वहाँ मिलते उनसे अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करता था। उस बूढ़े की युवती लड़ी, जो दारिद्र्य से पीड़ित थी, डोटे डोटे लड़ियों को ला कर, ब्राह्मण से बोली—अब इन फावड़ा कुल्हाड़ी को तो पटक दो और मैं जो कुछ कहूँ, उसे करो ॥ ३० ॥ ३१ ॥

रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किञ्चिद्वाप्स्यसि ।

भार्याया वचनं श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम् ॥३२॥

यदि तुम अभी धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी के पास जाओगे तो तुम्हें कुछ न कुछ अवश्य मिल जायगा। लड़ी का वचन सुन, ब्राह्मण पुराने फटे चीथड़े से किसी प्रकार अपना शरीर ढाँक ॥ ३२ ॥

स प्रातिष्ठृत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम् ।

भृग्वङ्गिरसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि ॥ ३३ ॥

आ पञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं किञ्चिद्वारयत् ।

स राजपुत्रमासाद्य त्रिजटो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के घर की ओर चल दिया। उस त्रिजट का तेज भृगु और अंगिरा के समान था। ( अर्थात् यथापि वह ब्राह्मण चिथड़ा लपेटे हुए था, तथापि वह ऋषियों के समान सदाचारी होने के कारण बड़ा तेजस्वी था—अतः ) वह बिना रोक टोक रामभवन की पांचवीं छोटी लाई, भीतर पहुँचा, जहाँ लोगों की भीड़ लगी थी। वहाँ जा त्रिजट ने राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महायशः ।

उच्छवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्य मापिति ॥ ३५ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! मैं निर्धन हूँ, तिस पर मेरे बहुत से लड़के वाले भी हैं । मैं बन में जा, उच्छवृत्ति से जो कुछ पाता हूँ, उसीसे निर्वाह करता हूँ । मेरी ओर भी दयादूषि होनी चाहिये ॥ ३५ ॥

तमुवाच तदा रामः परिहाससमन्वितम् ।

गवां सहस्रमप्येकं न तु विश्राणितं<sup>१</sup> मया ॥ ३६ ॥

यह सुन श्रीरामचन्द्र जो ने उससे परिहास पूर्वक कहा— हमारे पास हजारों गौण हैं, जिनको अब तक मैंने नहीं दिया है ॥ ३६ ॥

परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसि ।

स शाटीं त्वरितः कर्त्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम् ॥ ३७ ॥

सो तुम अपनी लाठी फेंको, जितनी दूर तुम्हारी लाठी जा कर गिरेगी, उतने बीच में जितनी गौण खड़ी हो सकेगी, उतनी गौण मैं तुम्हें दूँगा । श्रीरामचन्द्र जो की यह बात सुन, त्रिजट ने वह चिथड़ा करं कर, तुरन्त कमर में लपेटा ॥ ३७ ॥

आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगितः ।

स तीत्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्चयुतः ॥ ३८ ॥

और लाठी धुमा तथा अपना सारा बल लगा उसे फेंका । वह लाठी सरयू नदी के उस पार ॥ ३८ ॥

गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणं सन्निधै ।  
तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात्सरयूतटात् ।  
आनयामास ता गोपैस्त्रिजटायाश्रमं प्रति ॥ ३९ ॥

जहाँ हज़ारों गायें और बैलों का सुण्ड था, जा गिरी । उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने उस ब्राह्मण को वहाँ से सरयू पार तक जितनी गौण्ड आ सकती थीं, उन सब को त्रिजट के आश्रम पर भिजवा दिया ॥ ३६ ॥

उवाच च ततो रामस्तं गार्यमभिसान्त्वयन् ।  
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम ॥ ४० ॥

और उस गर्ग गोत्री ब्राह्मण को सान्वना देते हुए श्रीरामचन्द्र जी उससे बोले—हे ब्राह्मण ! क्रोध मत करना । क्योंकि मैंने जो कहा था, वह हँसी में कहा था ॥ ४० ॥

इदं हि तेजस्तव यदुरत्ययं  
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया ।  
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो  
वृणीष्व किं चेदपरं व्यवस्थति ॥ ४१ ॥

तुम्हारे अतिशय बल की परीक्षा करने के लिये ही मैंने यह बात तुमसे कही थी । उतनी गौण्ड तो आपके स्थान पर पहुँच गर्याँ—अब इन गौण्ड के अतिरिक्त और जो कुछ आप चाहते हों से कहिये ॥ ४१ ॥

१ उक्षणा—वृषभानाम् । (गो०) २ तेजः—बलं । (गो०) ३ दुरत्ययं—निरतिशयं । (गो०)

ब्रवीमि सत्येन न तेऽस्ति यन्त्रणा  
धनं हि यद्यन्मय विप्रकारणात् ।

भवत्सु सम्यकप्रतिपादनेन  
तन्मयाऽर्जितं प्रीतियशस्करं भवेत् ॥ ४२ ॥

मैं सत्य कहता हूँ कि, आपके लिये किसी वस्तु के देने में  
किसी प्रकार की रोक टोक नहीं है । कगोंकि मेरा समस्त धन  
आह्वाणों ही के लिये तो है । यदि मैं अपनी पैदा की हुई धन सम्पत्ति  
आप सरीखे आह्वाणों को दे हूँ, तो मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त हो  
और मुझे यश भी मिले ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-  
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः ।  
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-<sup>१</sup>

स्तदाऽशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः ॥ ४३ ॥

तब द्विजश्रेष्ठ त्रिजट, अपनी ऊँटी सहित प्रमुदित मन से और  
भी असंख्य गौले तथा बल, यश, प्रीति और सुख की वृद्धि के  
लिये श्रीरामचन्द्र जी को अनेक आशीर्वाद देता हुआ चला  
गया ॥ ४३ ॥

स चापि रामः परिपूर्णमानसे  
महद्वनं धर्मबलैरुपार्जितम् ।  
नियोजयामास सुहृज्जने चिरा-  
द्यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

<sup>१</sup> बृंहिणी—वर्धनी । ( गो० )

श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी शुद्ध और गाढ़ी कमाई के धन को बड़े आदर के साथ अपने सुहृदों को बांटा ॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृदभृत्यजनोऽथवा तदा  
दरिद्रभिक्षाचरणश्च योऽभवत् ।  
न तत्र कश्चिन्व वभूव तर्पिते  
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥  
इति द्वात्रिशः सर्गः ॥

उस समय ऐसा कोई ब्राह्मण सुहृद, नौकर, निर्धन और भिक्षुक न था, जिसका यथायोग्य दान मान से सत्कार श्रीरामचन्द्र ने न किया हो ॥ ४५ ॥

अयोध्याकाण्ड का बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:०:—

### त्रयस्त्रिशः सर्गः

—:०:—

दत्त्वातु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु ।

जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

सोता सहित श्रीरामचन्द्र जो ने ब्राह्मणों को बहुत धन दिया ।  
तदनन्तर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सोता जी मिलने के लिये,  
महाराज दशरथ के पास गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते \*प्रेषाभ्यामशोभेतां तदायुधे ।

मालादामभिरावद्धे सीतया समलङ्घ्युते ॥ २ ॥

\* पाठान्तरे “दुष्प्रेक्षेत्वशोभेतां ।”

सीता जी द्वारा फूल चन्दनादि से सजाये हुए आयुध, जिन्हें नौकर लोग लिये हुए थे ( और जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे जा रहे थे ) शोभित हो रहे थे ॥ २ ॥

ततः प्रासादहम्याणि<sup>१</sup> विमानशिखराणि<sup>२</sup> च ।

अधिरुद्ध जनः श्रीमानुदासीनो<sup>३</sup> व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस समय पुरवासी लोग देवताओं के मन्दिरों, रहसों के भवनों और सतखने मकानों की अटारियों पर चढ़ और निरुत्सुक हो उन तीनों को देखते थे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः स्म शक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः ।

आरुद्ध तस्मात्प्रासादान्दीनाः पश्यन्ति राघवम् ॥ ४ ॥

क्योंकि उस समय रास्तों पर लोगों को ऐसी श्याम भीड़ थी कि, लोग निकल बैठ नहीं सकते थे । अतः लोग ऊँचे मकानों की छतों पर बैठ और दुःखी हो, श्रीरामचन्द्र को देखते थे ॥ ४ ॥

पदार्ति वर्जितच्छत्रं रामं दृष्टा तदा जनाः ।

ऊरुर्बहुविधा वाचः शोकोपहतचेतसः ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को पैदल और छत्ररहित जाते देख, लोग अत्यन्त दुःखी होते और अनेक प्रकार की बातें कहते थे ॥ ५ ॥

१ प्रसादहम्याणि—प्रासादोदेवतानाभूभुजांयावासः । हम्याणि—धनिर्मन्दिराणि । ( गो० ) २ विमानशिखराणि—विमानं सप्तमूभि सहितं सद्ध । ( गो० ) ३ उदासीनः—निरुत्सुकः । ( गो० )

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत् ।

तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

कोई कहता—देखो, जिसके पीछे, यात्रा करते समय, चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, उसके पीछे के बल सीता सहित लक्ष्मण चलते हैं ॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः<sup>१</sup> सन्कामिनां<sup>२</sup> चैव कामदः<sup>३</sup> ।

नेच्छत्येवानृतं कर्तुं पितरं धर्मगौरवात्<sup>४</sup> ॥ ७ ॥

कोई कहता—जो श्रीरामचन्द्र जी सब ऐश्वर्य के सुखों का अनुभव करने वाले और अर्थार्थियों को यथेच्छित् धन देने वाले हैं, वे ही आज अपने कर्त्तव्यपालन के अनुरोध से पिता के बचन को मिथ्या करना नहीं चाहते ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।

तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

कोई कहता जिन सीता जी को पहिले आकाशचारी प्राणी भी नहीं देख सकते थे, उन्हीं सीता जी को आज राह चलते लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

[ नोट—इस कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, रामायणकाल में खियों के लिये परदे में रहने को प्रथा प्रचलित थी । ]

<sup>१</sup> रसज्ञः—संग्रहसुखज्ञः । (गो०) <sup>२</sup> कामिनां—अर्थकाङ्क्षणाम् ।

(गो०) <sup>३</sup> कामदः—अभीष्टधनप्रदः । (गो०) <sup>४</sup> धर्मगौरवात्—पितृशुश्रूषण बचनकरण विधेयत्वादि रूपधर्म विषयक बहुमानात् । (गो०)

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।

वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यन्त्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

कोई कहता—चन्दनादि सुगन्धित वस्तुओं के लगाने योग्य जानकी जी को, वन में वर्षा, शीत, गरमी विवर्ण ( शरोर का रंग और का और ) कर देगी ॥ ६ ॥

अब नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।

न हि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमिच्छति ॥ १० ॥

कोई कहता—निश्चय ही महाराज दशरथ के सिर भूत सवार है, नहीं तो ऐसे प्यारे पुत्र को वे बनवास कभी न देते ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद्विप्रवासनम् ।

किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥ ११ ॥

कोई कहता—लोग अपने गुणहीन पुत्र को भी घर से नहीं निकालते, फिर श्रीरामचन्द्र जी ने तो अपने सदाचारण से यह लोक जीत लिया है । अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी संसार में सदाचारी कहला कर प्रसिद्ध हैं ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं॑ शीलं॒ दमः॒ शमः॑ ।

राघवं शोभयन्त्येते पद्मुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

कोई कहता—( केवल सदाचार ही के लिये नहीं—प्रत्युत ) अहिंसा, दया, यथाविधि शास्त्रध्ययन, सत्स्वभाव, इन्द्रियों का

१ श्रुतं—अनुष्ठानपर्यवसायिशास्त्रध्ययनम् । ( रा० ) २ शीलं—सत्स्व-भावः ( रा० ) दमः—वाह्नेन्द्रिय निग्रहः । ( रा० ) ४ शमः—चित्तनिग्रहः । ( रा० )

निग्रह, मन का निग्रह इन द्रुः गुणों से श्रीरामचन्द्र जी शोभित हैं अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी में ये द्रुः गुण हैं ॥ १२ ॥

तस्मात्स्यापघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

औदकानीव सत्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥

ऐसे ( गुणी पुत्र ) श्रीरामचन्द्र जी के बन जाने से लोगों को वैसा ही महाकष्ट हो रहा है, जैसा कि, ग्रीष्मकाल में जल के अभाव से जलजन्तुओं को होता है ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।

मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

कोई कहता — जगत्पति श्रीरामचन्द्र के कष्ट से सारा संसार कष्ट पा रहा है । जैसे जड़ काटने से फला फूला पेड़ सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।

पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

अत्यन्त कान्ति वाले और धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ( वृक्ष के ) जड़ स्थानीय हैं और अन्य लोग ( उस वृक्ष के ) पुष्प, फल, पत्र, शाखा आदि स्थानीय हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सप्तनीकाः सबान्धवाः ।

गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

अतपव हम लोग भी लक्ष्मण की तरह, अपनी लियों को साथ ले, अपने भाई बन्दों सहित, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे शीघ्र जायगे ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।  
एकदुःखसुखाः१ राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

कोई कहता - हम लोग दाग बगीचा, खेती बारी और घर द्वार छोड़, बराबर सुख दुःख सहते, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पोछे जायगे ॥ १७ ॥

[ नोट—घर द्वार छोड़ कर जब लोग चल देंगे तब वरों की कथा दशा होगी, वही प्रजाजन आगे कहते हैं और साथ ही यह भी कहते हैं, कि जब हम सब अयोध्या छोड़ चले जायगे, तब इमशान तुल्य पुरी में कैकेयी शासन करे । ]

समुद्रूतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।

उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि२ सर्वशः ॥ १८ ॥

रजसाऽभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः३ ।

मूषकैः परिधावद्विरुद्धिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥

अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।

प्रनष्टवलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥

दुष्कालेनेव४ भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।

अस्मत्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

जिन घरों को हम त्याग देंगे, उनमें धन नहीं रह जायगा, उनके आँगन टूट फूट जायगे, उनमें अश्व और धन रहने न पावेगा, उनकी स्मणीयता नष्ट हो जायगी, धूल गरदा भर जायगी, गृह

१ एकदुःखसुखाः—समान सुखदुःखाः । ( गो० ) २ साराणि—शर्या-सनादीनि । ( गो० ) ३ दैवतैः—गृहदैवतैः । ४ दुष्काले—राजिक दैविक क्षेमकालः । ( रा० )

देवता घरों से चल देंगे, मूँसे दौड़ लगाया करेंगे, घर भर में बिल ही बिल देख पड़ेंगे, उनमें जल की बूँद भी न देख पड़ेगी, लिपाई पुताई न होने से मकान धुमैले और स्वच्छता रहित हो जायगे, उनमें बलिवैश्वदेव, होम, जप हाना बंद हो जायगा, उनमें द्वृटे फूटे वरतन इधर उधर पड़े देख पड़ेंगे, मानों राजा और देव के कोप से वे दुर्दशाग्रस्त हो रहे हों—ऐसे घरों से युक्त अथेऽध्या का राज्यसुख, कैकेयी भोगे ॥ १८ ॥ १६ ॥ २० ॥ २१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।

अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

( कोई कहता हमारी तो ईश्वर से यह प्रार्थना है कि, ) जिस वन में श्रीरामचन्द्र जी जाँय वहाँ तो नगर बस जाय, और हमारी छाड़ी हुई यह अथेऽध्यापुरी वन हो जाय । ( अर्थात् वन बसे अथेऽध्या उज़़ड़े ) ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।

त्यजन्त्यस्मद्याद्रीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥२३॥

हमारे भय से भीत हो सर्पादि अपने बिलों को, मृग और पक्षी पर्वत शृङ्खों को तथा हाथी एवं सिंह वनों को त्याग, इस अथेऽध्यापुरी में आ कर बसें ॥ २३ ॥

अस्मन्त्यक्तं प्रपद्यन्तां सेव्यमानं त्यजन्तु च ।

तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम् ॥ २४ ॥

प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सहवान्धवैः ।

राघवेण वने सर्वे सहवत्स्याम निर्वृत्ताः ॥ २५ ॥

हमारी छोड़ो हुई इस प्रकार की पुरी में, जिसमें केवल घास फूस, माँस और फल मिल सकेंगे और जो साँपों, मृगों और पक्षियों से भरी हुई होगी—कैकेयी अपने पुत्र और भाई बन्दों के सहित राजसुख भोगे और हम सब श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में सुखपूर्वक वास करें ॥ २४ ॥ २५ ॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।

शुश्राव रामः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥ २६ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार की विविध बातें अने लोगों के मुख से सुनते जाते थे, तथापि उनकी इन बातों को सुनने से उनके मन में ज़रा सा भी विकार उत्पन्न नहीं होता था ॥ २६ ॥

स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम् ।

अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी धीरे धीरे मतवाले हाथी की तरह विक्रम प्रदर्शित करने वाली चाल से, कैलाशशृङ्ख के समान एवं शोभित पिता जी के भवन की ओर जाने लगे ॥ २७ ॥

विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम् ।

ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥ २८ ॥

राजमहल के द्वार पर वीर लोग विनीत भाव से खड़े थे । श्रीरामचन्द्र जी उनके पास से आगे बढ़े और थोड़ी ही दूर पर उदास मन खड़े हुए सुमंत्र को देखा ॥ २८ ॥

प्रतीक्षमाणोऽपि जनं तदाऽर्जत-  
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ ।

जगाम रामः पितरं दिव्यक्षुः  
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥

वहाँ के लोग जो श्रीरामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे, सब के सब शोकाकुल होने के कारण खिल थे, उनको देख और मुसक्या, श्रीरामचन्द्र जी पिता को देखने और उनकी आज्ञा का विधिवत् पालन करने को चले जाते थे ॥ २९ ॥

तत्पूर्वैमैक्ष्वाकसुतो महात्मा  
रामो गमिष्यन्वनमार्तरूपम् ।

व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं  
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

निश्चित राम-वियोग-जनित दुःख से महाराज दशरथ के समीप जाने के पूर्व ऐद्वाकुसुत, महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने बड़े पुराने सुमन्त्र को द्वार पर अपने आगमन की सुनना महाराज को देने के लिये, खड़ा हुआ देखा ॥ ३० ॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो  
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः ।

स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-  
निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥  
इति ब्रयस्त्रिशः सर्गः ॥

<sup>१</sup> तत्पूर्व—तस्मात्पितुरपिष्ठूर्वै पौर्वकालिकं सुमन्त्रं । ( शि० )

धर्मवत्सल पिता को आङ्गा को पूरी करने के लिये, वन जाने का निश्चय किये हुए श्रीरामचन्द्र, सुमंत्र को खड़ा देख, उनसे बोले कि, महाराज को हमारे आने की सूचना दे दो ॥ ३१ ॥

अथेऽध्याकाण्ड का तेतोसर्वां सर्ग समाप्त हुआ ।

—;\*;—

### चतुस्त्रिशः सर्गः

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरूपमो\* महान् ।

उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥

कमलपत्र के समान नेत्र वाले, श्याम अंग, उपमा रहित श्रीरामचन्द्र जो ने सुमंत्र से कहा कि, हमारे आने की सूचना महाराज को दो ॥ १ ॥

स रामप्रेषितः क्षिप्रं सन्तापकलुषेन्द्रियः ।

प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र के भेजे हुए सुमंत्र ने तुरन्त भोतर जा कर, वहाँ देखा कि, महाराज दशरथ शोक से विकल उसांसे ले रहे हैं ॥ २ ॥

'उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छब्दमिवानलम् ।

तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥

उस समय सुमंत्र ने महाराज को राहुग्रस्त सूर्य की तरह अथवा भस्मच्छब्दादित अग्नि की तरह, अथवा जलरहित तड़ाग की तरह, देखा ॥ ३ ॥

१ उपरक्तं—राहुग्रस्तं । ( गो० ) \* पाठान्तरे “ निरुदरो । ”

आलोक्य तु महाप्राज्ञः परमाकुलचेतसम् ।  
राममेवानुशोचनं सूतः प्राञ्जलिरासदत् ॥ ४ ॥

महापणिडत सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता से विकल और अत्यन्त घबड़ाये हुए महाराज दशरथ जी को देख, हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

तं वर्धयित्वा<sup>१</sup> राजानं सूतः पूर्वं जयाशिषा ।

भयविक्लवया वाचा मन्दया इलक्षणमब्रवीत् ॥ ५ ॥

सुमंत्र ने प्रथम तो राजोचित अभिवादन किया, तदुपरान्त महाराज की जय हो कह कर, आशीर्वाद दिया । फिर डरते डरते वे धीमे स्वर से यह मधुर वचन बोले ॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः ।

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥

हे महाराज ! ये पुरुषसिंह आपके पुत्र द्वार पर खड़े हैं । ब्राह्मणों और अपने नौकर चाकरों को धन और सामान दे ॥ ६ ॥

स त्वा पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः ।

सर्वान्सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदार्नी दिव्वक्षते ॥ ७ ॥

और सब सुहृद्दों से विदा हो, सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र आपके दर्शन करने के लिये आये हुए हैं ॥ ७ ॥

गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते ।

वृतं राजगुणेः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

१. वर्धयित्वा—सम्पूज्य । (रा०) २. सर्वे—गृहोपचरणादिकं । (गो०,

जिस प्रकार सूर्य भगवान् अपनी किरणों से सुशोभित होते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जो भी विविध प्रकार के राजाचित गुणों से शोभित हैं। वे अब शीघ्र ही दण्डकवन को जायेंगे। सो हे पृथ्वीनाथ ! आप उनको दर्शन दीजिये ॥ ८ ॥

स सत्यवादी धर्मात्मा गम्भीर्यात्सागरोपमः ।

आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥

सुमंत्र के ये वचन सुन, सत्यवादी, धर्मात्मा, गम्भीरता में समुद्र के समान और आकाश की तरह निर्मल, महाराज दशरथ ने कहा ॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान्ये केचिदिह मामकाः ।

दारैः परिवृतः सर्वैर्दण्डुमिच्छामि राघवम्\* ॥ १० ॥

हे सुमंत्र ! इस घर में मेरी जितनी खियाँ हैं, उन सब को बुला लो। मैं उन सब के सहित श्रीरामचन्द्र को देखना चाहता हूँ ॥ १० ॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव ख्यिस्ता वाक्यमब्रवीत् ।

आर्या ह्यति वो राजाऽगम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥

यह सुन सुमंत्र भीतर गये और खियों से बोले कि, महाराज आपको बुलाते हैं—शीघ्र आइये ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः ख्यिः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाङ्गया ।

प्रचक्रमुस्तद्वनं भर्तुराङ्गाय शासनम् ॥ १२ ॥

जब सुमंत्र ने उन सब खियों को इस प्रकार महाराज की आङ्गा सुनायी, तब अपने पति की आङ्गा से वे महाराज के पास जाने को तैयार हुईं ॥ १२ ॥

\* पाठान्तरे—“धार्मिकम् ।”

अर्धसप्तशतास्तास्तु प्रमदास्ताम्रलोचनाः ।

कौसल्यां परिवार्यथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

साहे तीन सौ छिया जिनके नेत्र श्रीरामचन्द्र जी के बियोगजन्य दुःख के कारण रोते रोते लाल हो गये थे, कौशल्या को बेर कर धीरे धीरे महाराज के पास गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेद्य महीपतिः ।

उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

जब महाराज ने देखा कि, सद छियाँ आ गयीं, तब उन्होंने सुमंत्र को आज्ञा दी कि, हे सुमंत्र ! मेरे पुत्र को ले आओ ॥ १४ ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा ।

जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

तब सुमंत्र जी श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को साथ ले, शीघ्र महाराज के निकट चले ॥ १५ ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्टा दूरात्कृताञ्जलिम् ।

उत्पातासनात्तर्णमार्तः स्त्रीजनसंदृतः ॥ १६ ॥

इस समय, महाराज दूर ही से हाथ जोड़े हुए श्रीरामचन्द्र को आते देख, तुरन्त पलंग छोड़, छियों सहित उठ खड़े हुए ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्टा विशांपतिः ।

तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥ १७ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी को देख उनकी ओर दृढ़े वेग से दौड़े; किन्तु श्रीरामचन्द्र के पास तक न पहुँच, बीच ही में दुखी होने के कारण मूर्छित हो, ज़मीन पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपततिक्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः ।

विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तदा ॥ १८ ॥

यह दंख श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने बड़ी तेज़ी से दौड़ कर, दुःख और शोक से चेष्टाशून्य से हुए महाराज को उठा लिया ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संज्ञे राजवेशमनि ।

हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमूर्छितः ॥ १९ ॥

उस समय वह राजभवन सहस्रों खियों के विलाप से भर गया और उनके आभूषणों की झनकार का शब्द उस रोने पीटने के कोलाहल में दब गया ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ ।

पर्यङ्के सीतया सार्थं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने दोनों भुजाओं को पकड़ कर, सीता सहित रोते रोते महाराज को ले जा कर, पलंग पर बैठाया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम् ।

उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

जब एक मुहूर्त बाद महाराज सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र जी, शोकसमुद्र में डूबे हुए महाराज दशरथ से हाथ जोड़ कर बोले ॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः ।

प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन॑ माम् ॥२२॥

हे महाराज ! मैं आपसे विदा होने आया हूँ । आप हम सबके स्वामी हैं । अब मैं दण्डकवन की प्रस्थान करता हूँ । अब आप मेरी ओर एक बार कृपादृष्टि से देख तो लें ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम् ।

कारणैर्वहुभिः १तथ्यैर्वर्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

लक्ष्मण और सीता को भी मेरे साथ जाने की आङ्गा दीजिये, क्योंकि मैंने अनेक कारण बतला, इन दोनों हो को मना किया, परन्तु ये दोनों यहाँ रहने को राजी ही नहीं होते ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद ।

लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिव प्रजाः ॥ २४ ॥

सो हे महाराज ! शोक को परित्याग कर, हम सब को वैसे ही आङ्गा दीजिये जैसे प्रजापति अपनी प्रजा को आङ्गा देते हैं ॥ २४ ॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुजां जगतीपतेः ।

उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥ २५ ॥

तब महाराज दशरथ, व्यग्रता रहित अपने पुत्र को बन जाने की आङ्गा की प्रतीक्षा करते जान, उनकी ओर कृपापूर्ण दृष्टि से देख, बोले ॥ २५ ॥

अहं राघव कैकेया वरदानेन मोहितः<sup>२</sup> ।

अयोध्यायास्त्यमेवाद्य भव राजा निरृद्ध माम् ॥ २६ ॥

हे रामचन्द्र ! मुझे कैकेयी ने वरदान द्वारा धोखा दिया है । सो तुम मुझे बीध कर ( गिरफ्तार कर ) बलपूर्वक अयोध्या के राजा बनो ॥ २६ ॥

१ तथैः—परमायैः । ( गो० ) २ मोहितः—वर्जितः । ( गो० )

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतांवरः ।

प्रत्युक्ताचाञ्जलि कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥

महाराज का यह बचन सुन धर्मधुरन्धर और बातचीत करने में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जो हाथ जोड़ कर, पिता से बोले ॥ २७ ॥

भवान्वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः ।

अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयाऽनृतम् ॥२८॥

हे महाराज ! ( परमात्मा करें ) आप आगे और भी हज़ारों वर्ष की आयु पा कर, पृथिवी का पालन करते रहें । मैं आपको मिथ्यावादी बनाना नहीं चाहता । मैं अवश्य बन में बास करूँगा ॥ २८ ॥

नवं पञ्चं च वर्षाणि बनवासे विहृत्य ते ।

पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥ २९ ॥

हे महाराज ! बनवास में १४ वर्ष बिता और अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर, पुनः आपके चरण पकड़ूँगा । अथवा प्रणाम करूँगा ॥ २९ ॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः ।

कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथोऽ राजा तमब्रवीत् ॥३०॥

सत्यरूपी पाज में बधे, और इशारे से कैकेयी द्वारा प्रेरित हो, महाराज आर्त हो और रोदन करते हुए श्रीरामचन्द्र जो से बोले ॥ ३० ॥

श्रेयसे<sup>१</sup> वृद्धये<sup>२</sup> तात पुनरागमनाय च ।

गच्छस्वारिष्टं<sup>३</sup> मव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! पारलौकिक सुख और इस लोक के यश आदि फल की प्राप्ति, तथा फिर यहाँ लौट आने के लिये तुम अव्यग्र मन से बन जाओ । मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो और तुम्हें किसी भी बनैले जीव जन्तु का भय न हो ॥ ३१ ॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव ।

विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥ ३२ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! तुम सत्य के पालन में तत्पर और धर्मकार्य करने में दक्षचित्त हो, अतः तुमको इनसे हटा कर, दूसरे मार्ग पर चलाने की बुद्धि (केवल मुझीमें नहीं प्रत्युत) किसी में नहीं है ॥ ३२ ॥

अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा ।

एकाहदर्शनेनापि साधु<sup>४</sup> तावच्चराम्यहम्<sup>५</sup> ॥ ३३ ॥

परन्तु आज की रात तो किसी तरह रह जाओ । भला एक दिन तो और तुम्हारे साथ रहने का सुख में भोग लूँ ॥ ३३ ॥

मातरं मां च सम्पश्यन्वसेमामद्य शर्वरीम् ।

तर्पितः<sup>६</sup> सर्वकामैः<sup>७</sup> त्वं श्वः काले<sup>८</sup> साधयिष्यसि<sup>९</sup> ॥ ३४ ॥

१ श्रेयसे—पारलौकिकफलाय । (गो०) २ वृद्धये—ऐहिकफलाय । (गो०) ३ अरिष्टं—शुभं । (गो०) ४ साधुः—सुख । (गो०) ५ चराभि—वसामि । (गो०) ६ तर्पितः—ममातृष्टिप्राप्तः । (शि०) ७ सर्वकामैः—इच्छाविषयभूतैः । (शि०) ८ काले—प्रातःकाले । ९ साधयिष्यसि—गमि-व्यसि । (गो०)

मेरी और अपनी माता की ओर देखो और आज की रात  
यहीं रह जाओ। रात में मैं अपनी साध पूरी कर लूँगा, तब तुम  
सबेरा होते ही कल वन चले जाना ॥ ३४ ॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया ।

मत्प्रियार्थ॑ प्रियांस्त्वक्त्वा यद्यासि विजनं वनम् ॥३५॥

हे वत्स ! तुम ऐसा दुष्कर काम कर रहे हो जैसा और कोई  
नहीं करेगा कि, हमारा परलोक बनाने के लिये तुम अपने सब  
प्यारे जनों को छोड़ विजन वन को जाते हो ॥ ३५ ॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव ।

छन्नया॒ चलित॑स्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया ॥३६॥

हे वत्स ! मैं सत्य की शपथ खा कर कहता हूँ कि, मुझे तुम्हारा  
वन जाना कभी अभिमत नहीं है। पर क्या करूँ—इस कैकेयी की,  
जो भस्म से उपरी हुई आग को तरह (भयडुर) है, क्ल भरी  
चाल में मैं आ गया ॥ ३६ ॥

वश्वना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि ।

अनया वृत्तसादिन्या कैकेयाऽभिप्रचोदितः ॥ ३७ ॥

मैं कुलकलङ्किनी कैकेयी के जिस क्लजाल में पड़ गया  
हूँ, उसे तुम इसके कहने में आ, पार करना चाहते हो। अर्थात् मैं  
तो इसकी बातों में फसा ही हूँ, तुम क्यों फसते हो, या मैं तो इसके  
धोखे में आ चुका, तुम इसके धोखे में क्यों आते हो ॥ ३७ ॥

१ मत्प्रियार्थ—ममपरलोकविद्यार्थ । (गो०) २ छन्नया—गूढाभि-  
प्रायया । (गो०) ३ चलितः—स्वाधीनत्वाचलनं प्राप्तः । (गो०)

न चैतदाश्र्व्यतमं यस्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम ।

अपानृतकर्थं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥ ३८ ॥

हे बत्स ! इसमें आश्र्व्य की कोई बात नहीं कि, तुम मेरे ज्येष्ठपुत्र हो, अतः तुम अपने पिता को सत्यवादी ठहराया चाहते हो ॥ ३८ ॥

अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥ ३९ ॥

इस प्रकार अति दुःखी पिता के वचन सुन, लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी दीन हो बोले ॥ ३९ ॥

प्राप्त्यामि यानद्य गुणान्को मे श्वस्तान्प्रदास्यति ।

अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

हे पिता ! ( यदि मैं आपके कथनानुसार रह जाऊँ तो ) आज मुझे राजोचित सब पदार्थ व सुख यहाँ मिल जायेंगे ; किन्तु कल मुझे ये पदार्थ कौन देगा, अतः मैं अब सब के बदले आपसे तुरन्त वन जाने की आज्ञा मांगता हूँ ॥ ४० ॥

[ नोट—“तिलक” टीकाकार ने इस श्लोक के प्रथम पाद का अर्थ यह किया है, आज वन जाने से प्रांतज्ञापालन रूपी जो पुण्य फल मुझे प्राप्त होगा वह फल कल जाने से कभी प्राप्त नहीं हो सकता । “अद्य प्रयाणेसति यान्गुणान् प्रतिज्ञापालनज धर्मरूपान् प्राप्त्यामि श्वागमने कस्तदान्दास्यति प्रत्युता-धर्मएव ” । ]

इर्यं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।

मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

अब आप मेरो छोड़ी हुई धन धान्य और मनुष्यों से भरी पुरी, विविध राज्यों से घिरी पृथिवी भरत को दे दीजिये ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽन्य चलिष्यति ।

यस्तुष्टेन वरो दत्तः कैकेयै वरद त्वया ॥ ४२ ॥

क्योंकि मैंने वन जाने के विषय में जो निश्चय किया है वह टल नहीं सकता । हे वरद ! आपने सन्तुष्ट हो एसा वर कैकेयी का दिया ॥ ४२ ॥

दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।

अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुगालयन् ॥ ४३ ॥

अतः हे पृथिवीनाथ ! आप मुझे आज्ञा दीजिये और आप सम्पूर्णतः सत्यप्रतिज्ञ हद्दीजिये । आपने जैसी आज्ञा दी है, तदनुसार मैं उसका पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।

मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

मैं तपस्वियों के साथ चौदह वर्ष तक वन में रहूँगा । आप भरत का राज्य देने में कुछ भी विचार मत पलटिये ॥ ४४ ॥

न हि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि॑ वा प्रियम् ।

यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

क्योंकि आप की आज्ञा का प्रतिपालन करने के समान मुझे न तो राज्य की चाहना ही है और न मुझे अपने मन में किसी सुख की हो चाहना है ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूवर्ष्पपरिप्लुतः ।

न हि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

आप रुदन न कीजिये और दुःखो न हूँजिये । भला नदियों का स्वामी दुर्धर्ष समुद्र भी कभी क्षुभ्य होता है ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मैथिलीम् ।

नैव सर्वानिमान्कामान्ब स्वर्गं नैव जीवितम् ॥ ४७ ॥

हे महाराज ! अधिक तो मैं क्या कहूँ ! मैं राज्य, सुख, जानकी, भोग, स्वर्ग—यहाँ तक कि, मैं अपना जीवन भी नहीं चाहता ॥ ४७ ॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।

प्रत्यक्षं<sup>१</sup> तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

किन्तु हे पुरुषोत्तम ! मैं मिथ्याभाषण से कुड़ा, आपको सत्यवादी करना चाहता हूँ । आप देवता रूप हैं, आपके सामने मैं अपने सुकृत और सत्य की शपथ खा कर ये बातें कह रहा हूँ । मेरे इस कथन में ज़रा सा भी मूड़ या बनावट नहीं है ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।

न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥

हे तात ! हे प्रभो ! (रात भर की क्या चलाई) मैं अब एक क्षण भी यहाँ नहीं टहर सकता । (मेरी आपसे प्रार्थना है कि,) आप मेरे लिये अधीर न हों । क्योंकि बनयात्रा सम्बन्धी मेरे सङ्कल्प में तिल भर भी अन्तर नहीं पड़ सकता ॥ ४९ ॥

<sup>१</sup> प्रत्यक्ष—प्रत्यक्षदैवभूतस्य तवसन्धिधौ । (गो०)

अर्थिता ह्यस्मि कैकेया वनं गच्छेति राघव ।  
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

जब कैकेयी ने मुझसे कहा कि, रामचन्द्र तुम वन जाओ तब मैंने कहा कि अच्छा मैं वन जाता हूँ । अतएव अपने इस कथन के सत्य का भी पालन करना मुझे आवश्यक है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम् ।  
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुननादिते ॥ ५१ ॥

हे देव ! आप ज़रा भी न घबड़ायँ । मैं ऐसे वन में रहूँगा जहाँ शान्त चित्त हिरन विचरते हैं और अनेक प्रकार के पक्षियों की बोलियाँ सुनायी पड़ती हैं ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम् ।  
तस्मादैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

हे तात ! पिता देवताओं के भी देवता होते हैं । अतः आपको परम देवता समझ मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नरसत्तम ।  
पुनर्दर्श्यसि मां प्रासं सन्तापोऽयं विमुच्यताम् ॥ ५३ ॥

हे नरसत्तम ! जब चौदह वर्ष पूरे हों जाँयगे, तब मैं फिर यहाँ आ ही जाऊँगा । अतः आप मेरे लिये अब दुःखी न हों ॥ ५३ ॥

येन सन्स्तम्भनीयोऽयं सर्वे बाष्पगलो जनः ।  
स त्वं पुरुषशार्दूलं किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

इस समय आपको उचित है कि, इन लोगों को जो रुदन कर रहे हैं समझा बुझा कर गान्त करें। सो हे पुरुषसिंह ! आप (इस समय) स्वयं दुःखों क्यों हो रहे हैं ? (अर्थात् आपका कर्तव्य है कि, आप इन लोगों को समझावें न कि स्वयं रुदन करें) ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला  
मया विसृष्टा भरताय दीयताम् ।  
अहं निदेशं भवतोऽनुपालय-  
न्वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

मैं अयोध्यापुरी और पृथिवी के राज्य को छोड़ कर जाता हूँ । आप इसे भरत को दे दीजिये । मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ, बहुकाल तक बनवास करने के लिये जाऊँगा ॥ ५५ ॥

मया निसृष्टां भरतो महीमिमां  
सशैलखण्डां सपुरां सकाननाम् ।  
शिवां<sup>१</sup> सुसीमां<sup>२</sup> मनुशास्तु केवलं  
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥ ५६ ॥

पर्वतों और बनों से शोभायमान, नगर और ग्रामों से भरी पूरी और राजकल्याणकारिणी इस पृथिवी का भरत जी वंशमर्यादा के अनुसार केवल शासन करें, यह इसलिये कि जिससे आपने जैसा कहा है वैसा ही हो । अर्थात् आपका दिवा हुआ वरदान सत्य हो । (इससे यह ध्वनि निकलती है कि,

१ शिवासु—राजकल्याणकारणीषु । (शि०) २ सीमासु—मनुवंश मर्यादा सुसंस्थिते भरतः । (शि०)

श्रीरामचन्द्र जो राज्य पर अपना स्वत्व नहीं छोड़ रहे, किन्तु पिता की आक्षा पालन करने को अस्थायी रूप से भरत को शासन भार मात्र दे रहे हैं। इसीके अनुसार भरत जो ने भी नन्दिग्राम में रह कर, प्रतिनिधि रूप से १४ वर्ष तक राज्य किया था ) ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव दीयते मनो  
 महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।  
 यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते  
 व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

हे राजन् ! मुझे अच्छी अच्छी भोग व सुखकर वस्तुओं की रुचि नहीं है। न मुझे किसी प्रोतिकर वस्तु की चाहना है। मुझे तो केवल सज्जनों की सराही हुई आपकी आक्षा का पालन करना ( सब से बढ़ कर ) रुचिकर है। प्रतः मेरे लिये आपको जो दुःख हो रहा है, उसे त्यागिये ॥ ५७ ॥

तदध नैवानघ राज्यमव्ययं  
 न सर्वकामान्न सुखं न मैथिलीम् ।  
 न जीवितं त्वामनृतेन योजय-  
 न्वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

हे राजन् ! आपको मिथ्यावादी सिद्ध करन तो अक्षय राज्य न अतुलनीय सुख सम्पत्ति, न पृथिवी, न जानकी जी और न अपना जीवन ही मुझे अपेक्षित है। किन्तु मैं तो यह चाहता हूँ कि, आपका सत्यव्रत पूरा हो। अर्थात् आप संसार के आगे सत्य-वादी कहलाते रहें ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन्वने  
गिरींश पश्यन्तरितः सरांसि च ।

वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं

सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वितिः ॥५९॥

मैं फल मूलों को खा और पर्वतों, नदियों पर्वं सरोवरों को देखता हुआ भाँति भाँति के बृक्षों से परिपूर्ण वन में जा, सुखी होऊँगा । आप प्रसन्न होजिये ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः

शोकेनै दुःखेनै च ताम्यमानः ।

आलिङ्गय पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो

मोहं गतो नैव चिचेष्ट किञ्चित् ॥ ६० ॥

यह सुन महाराज दशरथ, क्लेशित एवं शोक तथा दुःख से सन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी को हृदय से लगा, मूर्धित हो भूमि पर गिर पड़े । उस समय उनको कुछ भी होश न रहा । वे मोह को प्राप्त हुए ॥ ६० ॥

देव्यस्ततः संरुद्धुः समेता-

स्तां वर्जयित्वा नरदेवपतीम् ।

रुदन्सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्छां

हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

इति चतुर्थिंशः सर्गः ॥

१. निर्वितिः—सुखं । (गो०) २. शोकः—त्वरदाहोत्पादकः शोकः । (गो०)

३. दुखं—अन्तर्बर्यथोत्पादकं । (गो०) ४. नचिचेष्ट—नचेष्टतेष्म । (गो०)

कैकेयी को छोड़ वहाँ और जितनी रानियाँ थीं वे सब की सब विलाप कर रोने लगीं। बूढ़े सुमंत्र भी मूर्छित हो गये। राजभवन में सर्वत्र हाहाकार होने लगा ॥ ६१ ॥

अयोध्याकारण का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—\*—

### पञ्चत्रिंशः सर्गः

—:०:—

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् ।  
पाणि पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान्कटकटाप्य च ॥ १ ॥

तदनन्तर (कुक्र काल बाद सुमंत्र की मूर्ढ़ा भङ्ग हुई) वे कोध से अधीर हो, बारंबार लंबी लंबी सांस लेने लगे, दाँत किट-किटाने लगे और हाथ मलने लगे और सिर पीटने लगे ॥ १ ॥

लोचने कोपसंरक्ते वर्ण<sup>१</sup> पूर्वोचितं<sup>२</sup> जहत् ।  
कोपाभिभूतः सहसा सन्तापमशुभं<sup>३</sup> गतः ॥ २ ॥

मारे कोध के उनकी दोनों आँखें लाल हो गयीं, शरीर का रंग बदल गया। सहसा कोध के वश हो, वे बहुत दुःखी हुए ॥ २ ॥

मनः<sup>४</sup> समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य सः ।  
कम्पयन्निव कैकेया हृदयं वाक्घरैः शितैः ॥ ३ ॥

<sup>१</sup> वर्ण—देहकान्ति । (गो०) <sup>२</sup> पूर्वोचितं—पूर्वाभ्यस्तं । (गो०)

<sup>३</sup> अशुभं—तीव्रं । (गो०) <sup>४</sup> मनः समीक्षमाणः—कैकेयीविषयस्नेहरहितं जानक्षित्यर्थः । (गो०)

यह देख कर कि, महाराज दशरथ के मन में कैकेयी का अब कुछ भी आदर नहीं रहा—सुमंत्र वाण के समान तीव्रा चचनों से कैकेयी के हृदय को छेद कर मानों कंपाने लगे ॥ ३ ॥

१ वाक्यवज्रैरुपमैर्निर्भिन्दन्विवै चाशुगैः ।

कैकेय्याः सर्वमर्माणिरै सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

जिस प्रकार तेज़ वाण शरीर में पैठ शरीर के मर्मस्थलों को चीर कर खोल देता है, उसी प्रकार सुमंत्र ने चचन रूपी वाणों से जैकेयी के वे दोष प्रकट किये, जो बड़े मर्मस्पर्शी थे अर्थात् कैकेयी के मन में चुभते थे ॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् ।

भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥

न ह्यकार्यतमं किञ्चित्तव देवीह विद्यते ।

पतिग्रीं त्वामहं मन्ये कुलघ्रीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

सुमंत्र ने कहा, हे देवि ! तूने अपने पति महाराज दशरथ ही को, जो चराचर जगत के पालन पोषण करने वाले हैं, त्याग दिया, तब तेरे लिये (संसार में) और कौन सा अनकरना काम करने को वाकी रहा । इसीसे मैं तुझे न केवल पति की हत्या करने वाली, प्रत्युत कुल का नाश करने वाली भी मानता हूँ ॥ ५ ॥ ६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।

महोदधिमिवाक्षेभ्यं सन्तापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

१ वाक्यवज्रैः—वाक्सारैः । ( भि० ) २ निर्भिन्दन—प्रकाशयन ।

( गो० ) ३ मर्माणि—मर्मतुल्यान्दोषान् । ( गो० )

जो महाराज दशरथ, इन्द्र के समान अजेय और पर्वत की तरह कभी ज्ञान को प्राप्त न होने वाले हैं उनको तू अपनी करतूतों से सन्तप्त कर रही है ॥ ७ ॥

माऽवमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।

भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोद्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

कैकेयी ! तू ऐसे वर देने वाले अपने स्वामी महाराज दशरथ का अपमान मत कर । क्योंकि करोड़ पुत्रों के स्नेह से भी बह कर, स्त्री के लिये अपने पति की इच्छानुसार चलना है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।

इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिस्तल्लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

देख, राजा के मरने पर राज्य का मालिक (अवश्यानुसार) ज्येष्ठ पुत्र होता है । इस प्राचीन (इक्ष्वाकुकुल की) प्रथा को इक्ष्वाकु-कुल के स्वामी महाराज दशरथ के जीवित रहते ही तू (भरत के राज्य दिला कर) मैंट देना चाहती है ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।

वयुं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

अच्छी बात है—तेरा पुत्र भरत राज्य करे, हम लोग तो वहाँ जायगे, जहाँ श्रीरामचन्द्र जी जायगे ॥ १० ॥

न हि ते विषये<sup>१</sup> कश्चिद्ब्राह्मणो<sup>२</sup> वस्तुमर्हति ।

तादृशं त्वमर्यादिमध्य कर्म चिकीर्षसि ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> विषये—देवो । (गो०) <sup>२</sup> ब्राह्मणइति सत्पुरुषमात्रोपलङ्घन् ।

तेरे पुत्र के काम ही राज्य में कोई भी भला आदमी न रह जायगा । क्योंकि तू ऐसी अमर्यादा का करने पर उतारू है ॥ ११ ॥

आश्र्वर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमोदशम् ।

आचरन्त्या न विवृताः सद्यो भवति मेदिनी ॥ १२ ॥

मुझे बड़ा आश्र्वर्य है कि, तेरे इस दुष्टाचरण को देख, फौरन ज़मीन क्यों नहीं फट जाती ॥ १२ ॥

३महाब्रह्मर्षिसृष्टाः\* हि ज्वलन्तोः भीमदर्शनाः ।

धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रवाजने स्थिताम् ॥१३॥

जब तू श्रीरामचन्द्र जी को बनवास देने को उद्यत हुई है, तब वशिष्ठादि महर्षियों का तीव्र और भयङ्कर धिक्कार रूप बाक्दण्ड तुझे नष्ट क्यों नहीं कर डालता ॥ १३ ॥

आम्रं छित्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् यः ।

यश्वैनं पयसा सिञ्चन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १४ ॥

कौन ऐसा ( मूर्ख ) मनुष्य होगा, जो मधुर फल देने वाले आम के पेड़ को कुल्हाड़ी से काट, उस कुड़वे नीम के पेड़ को सीचिंगा, जो दूध से सीचने पर भी, कभी मीठे फल नहीं दे सकता ॥ १४ ॥

अभिजातं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।

न हि निम्बात्स्ववेत्सौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१५॥

१ विवृता—नविदीर्णा । ( गो० ) २ महाब्रह्मर्षिभिः—वसिष्ठादिभिः । ( गो० ) ३ ज्वलन्तः—तीव्राः । \* पाठान्तरे—“जुषा वा । ”

लोग जो कहा करते हैं कि, नीम के वृक्ष से शहद नहीं चूता,  
सो इसे मैं भी मानता हूँ । यही कारण है कि, तेरी माता जैसी थी  
वैसी ही तू भी है ॥ १५ ॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्वः पूर्वं यथा श्रुतम् ।

पितुस्ते वरदः कश्चिद्दौ॒ वरमनुत्तमम् ॥ १६ ॥

तेरी माता का पापकर्म मुझे मालूम है, मैं पहले उसे ज्यों  
का त्यों सुन चुका हूँ । किसी वरदान देने वाले योगी गन्धर्व ने तेरे  
पिता को एक यह उत्तम वर दिया था ॥ १६ ॥

सर्वभूतरूतं॒ तस्मात्सञ्ज्ञे वसुधाधिपः ।

तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १७ ॥

कि, तुम सब जीवों की बोली समझ लिया करोगे । इस वर  
के प्रभाव से तेरे पिता पक्षियों की भी बोली समझने लगे ॥ १७ ॥

ततो जूम्भस्य॑ शयने विरुतादभूरिवर्चसः ।

पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ १८ ॥

तेरे पिता एक बार लेटते अत्यन्त चमकदार ( अर्थात् ) समय  
सुनहले रंग की किसी चैंटी की बान चीत सुन और उसका  
आशय समझ बहुत हँसे ॥ १८ ॥

तत्र ते जननी कुद्धा मृत्यु पाशमधीप्सती ।

हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥

१ कश्चित्—योगीगन्धर्व इतिश्रुतम् । (गो०) २ रूत—शब्द । (गो०)

३ जूम्भस्य—पिपीलिका विशेषस्य । ( गो० )

इस पर तेरी माता बहुत कुद्ध हुई और अपनी जान दे देने की धमकी देती हुई बोली—हे राजन् ! मैं आपके हँसने का कारण जानना चाहती हूँ ॥ १६ ॥

**नृपश्वेवाच तां देवीं देवि शंसामि ते यदि ।**

**ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २० ॥**

इस पर राजा ने कहा, हे देवि ! यदि मैं अपने हँसने का कारण कहूँ, तो मैं तुरन्त मर जाऊँगा । इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥

**माता ते पितरं देवि ततः केक्यमब्रवीत् ।**

**शंस मे जीव वा मा वा न मामपहसिष्यसि ॥ २१ ॥**

यह सुन तेरी माता अपने पति राजा केक्य से बोली—तुम चाहे जीश्वर चाहो मरो, किन्तु अपने हँसने का कारण मुझे बतलाओ । क्योंकि ( यदि तुम मर भी गये तो ) आगे फिर तो मेरा उपहास न करोगे ॥ २१ ॥

**प्रियया च तथेक्तः सन्केक्यः पृथिवीपतिः ।**

**तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्वतः ॥ २२ ॥**

प्यारी रानी के इस प्रकार कहने पर राजा केक्य ने वह सारा हाल जा कर, वर देने वाले योगी से कहा ॥ २२ ॥

**ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत ।**

**प्रियतां ध्वंसतां वेयं मा कृथास्त्वं महीपते ॥ २३ ॥**

तब उस वर देने वाले साधू ने राजा से कहा—हे राजन् ! तेरी रानी भले ही मर जाय, या अपने बाप के घर चली जाय, पर तू ऐसा कभी मत करना ॥ २३ ॥

१ ध्वंसतांवा—( क ) स्वपित्रादिसमीपं गच्छतु । ( रा० ) ; ( ख ) स्वाधिकारात्प्रच्युतास्यात् । ( गो० )

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ।

मातरं ते निरस्याशु विजहार कुवेरवत् ॥ २४ ॥

यह सुन, राजा केकय ने प्रसन्न मन से तेरी माता का परित्याग कर दिया और स्वयं कुवेर की तरह विहार करने लगा ॥ २४ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ।

असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनि ॥ २५ ॥

हे पापिष्ठ ! इसी प्रकार तू भी दुर्जनों के मार्ग का अनुसरण कर, महाराज को धोखा दे कर, उनसे बुरा काम करवाती है ॥ २५ ॥

सत्यश्राद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ।

पितृन्समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २६ ॥

लोग ठीक ही कहते हैं कि, लड़के अपने पिता के स्वभाव के और लड़कियाँ अपनी माता के स्वभाव की हुआ करती हैं। अर्थात् लड़कों का स्वभाव अपने थाप जैसा और लड़कियों का अपनी माता जैसा हुआ करता है ॥ २६ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ।

भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २७ ॥

देख तू अपनी माता जैसी मत बन और महाराज का कहना कर। अपने पति के कथनानुसार चल कर तू हम लोगों की रक्षा कर ॥ २७ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ।

भर्तारं लोकभर्तारमसद्गम्मुपादधाः ॥ २८ ॥

तु, पापों से प्रोत्साहित हो कर, इन्द्र के समान और मनुष्यों के राजा, अपने पति से यह अधर्म का काम ( बड़े के सामने छोटे को राज्य ) मत करवा ॥ २८ ॥

न हि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ।

श्रीमान्दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ २९ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वर्धर्मस्याभिरक्षिता ।

रक्षिता जीवलोकस्य ब्रूहि रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३० ॥

महाराज दशरथ तु भक्त से जो प्रतिज्ञा कर चुके हैं, उसे मिथ्या न करेंगे । हे देवि ! राजीवलोचन महाराज दशरथ से तू कह कि, ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, अपने कर्त्तव्य का पालन करने वाले, और प्राणीमात्र की रक्षा करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करवाना चाहिये ॥ २६ ॥ ३० ॥

परिवादो हि ते देवि महाँलोके चरिष्यति ।

यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३१ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता महाराज दशरथ को छोड़, कहीं वन चले ही गये, तो संसार में तेरी बड़ी निन्दा होगी ॥ ३१ ॥

स राज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ।

न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसेत् ॥ ३२ ॥

अतपश्च अब तू अपने मन का सब द्वाभ दूर कर, राज्य श्रीराम-चन्द्र को करने दे । क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, अन्य किसी के अथेाध्या में रह कर राज्य करने से तेरी भलाई नहीं होगी । ( अर्थात् भरत के राजा होने पर भी तेरा कद्याण न होगा ) ॥ ३२ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ।  
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन ॥ ३३ ॥

जब युवराजपद श्रीरामचन्द्र की मिल जायगा, तब महाराज दशरथ पूर्वजों की प्रथानुसार, स्वयं वन चले जायेंगे ॥ ३३ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ।

सुमन्त्रः क्षेभयामास भूय एव कृताञ्जलिः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार सुमन्त्र जी ने सब लोगों के सामने हाथ जोड़ कर, कड़े वचनों से बार बार कैकेयी को लुभ्य किया ॥ ३४ ॥

नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ।

न चास्या मुखवरणस्य विक्रिया लक्ष्यते तदा ॥ ३५ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

किन्तु न तो वह लुभ्य हुई और न उसको कुछ पश्चात्ताप ही हुआ । और तो और, उसके मुख की रंगत भी तो न बदली ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

षट्त्रिंशः सर्गः

— : \* : —

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया ।  
सबाष्पमतिनिश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः ॥ १ ॥

तदनन्तर महाराज दशरथ, अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी हो, आसू वहाते हुए और बार बार उससे ले, सुमन्त्र से बाले ॥ १ ॥

**सूत रत्नसुसम्पूर्णा चतुर्विधबला चमूः ।**

**राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २ ॥**

हे सुमन्त्र ! तुम श्रीरामचन्द्र जी के साथ भेजने को बहुत सा धन रक्षा दे, चतुरंगिनी सेना को शीघ्र तैयार करो ॥ २ ॥

**रूपाजीवाश्च<sup>१</sup> वादिन्यो<sup>२</sup> वणिजश्च महाधनाः ।**

**शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीं सुप्रसारिताः<sup>३</sup> ॥ ३ ॥**

बातचीत कर दूसरे के मन को अपनी ओर खींचने वाली वेश्याएँ, व्यापारी, महाजन, विकने वाले पदार्थों की दुकानें लगा श्रीरामचन्द्र जी की सेना के शिविर को सुशोभित करे ॥ ३ ॥

**ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः ।**

**तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४ ॥**

जो श्रीरामचन्द्र जी के नौकर चाकर हैं, और जिनके पराक्रम से वे प्रसन्न हैं, उन व्यक्ति को बहुत सा धन दे कर, इनके साथ भेजो ॥ ४ ॥

**आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च ।**

**अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यगोचराः ॥ ५ ॥**

१ रूपाजीवाः—वेश्याः । ( गो० ) २ वादिन्योः—परचित्ताकर्षण-  
चतुर वचनाः । ३ सुप्रसारिताः—शिविरदेशे पण्यपदार्थप्रसारणकुर्वन्तः ।  
( गो० )

उत्तम अस्त्र शस्त्र, मुख्य मुख्य नागरिक जन, क्रकड़े और  
बनवासी बहेलिया जो बन का मार्ग जानते हैं, इनके साथ  
जाँय ॥ ५ ॥

**निम्नन्मृगान्कुञ्जरांश्च पिबन्थारण्यकं मधु ।**

**नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यस्य स्परिष्यति ॥ ६ ॥**

ये वहाँ जा कर मृगों और हाथियों का शिकार खेलेंगे और  
बन का शहद पी कर और अनेक नदियों को देख कर, राज्य का  
स्मरण न करेंगे ॥ ६ ॥

**धान्यकोशश्च यः कश्चिद्भनकोशश्च मामकः ।**

**तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने बने ॥ ७ ॥**

मेरे ( खास ) जो अन्न के भगवार हैं —वे भी निर्जन बन में बास  
करने वाले श्रीरामचन्द्र के साथ जाँय ॥ ७ ॥

**यजन्पुण्येषु देशेषु विस्तजंश्चापदक्षिणाः ।**

**ऋषिभिश्च समागम्य प्रवत्स्यति सुखं बने ॥ ८ ॥**

श्रीरामचन्द्र जी ऋषियों से समागम होने पर, तीर्थस्थानों में  
यह करेंगे और दक्षिणा देंगे और परम खुख से रहेंगे ॥ ८ ॥

**भरतश्च महावाहुरयोध्यां पालयिष्यति ।**

**सर्वकामैः पुनः श्रीमानरामः संसाध्यतामिति<sup>१</sup> ॥ ९ ॥**

यहाँ भरत अयोध्या का पालन करेंगे । सब सामान के साथ  
श्रीरामचन्द्र जी प्रस्थान करें ॥ ९ ॥

एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम् ।

मुखं चाप्यगमच्छोर्षं स्वरथापि न्यरुद्ध्यत ॥ १० ॥

जब महाराज्ञ ने यह कहा, तब कैकेयी डरी—उसका मुख सूख गया और बोल भी बंद हो गया ॥ १० ॥

सा विषणा च संत्रस्ता मुखेन परिशुद्धता ।

राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वह व्याकुल हुई और डरी तथा उसका मुख सूख गया । वह महाराज्ञ के सामने हो यह बोली ॥ ११ ॥

राज्यं गतजनं साधो पीतमण्डा सुरामिव ।

निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥ १२ ॥

हे न्नाधो ! सारहीन शराब की तरह धनहीन और जनशून्य राज्य भरत न लेंगे ॥ १२ ॥

कैकेयां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् ।

राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥ १३ ॥

जब लज्जा को छोड़ कैकेयी ने यह अर्ति कठोर बात कही, तब तो महाराज दशरथ के दोनों नेत्र मारे ओंध के लाल हो गये और वे कहने लगे ॥ १३ ॥

वहन्तं किं तु दसि मां नियुज्य धुरि माहिते ।

अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥ १४ ॥

हे दुष्टे ! क्यों मुझे बोझों मारे डालती है। जब तूने श्रीरामचन्द्र के बन जाने के लिये वर माँगा था तभी यह भी क्यों नहीं माँगा कि, श्रीरामचन्द्र खाली हाथ बन जाय ॥ १४ ॥

तस्यैतत्कोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना ।

कैकेयी द्विगुणं कुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

महाराज के इस क्रोधयुक बचन को सुन, कैकेयी दुगुनी कुद्ध हो महाराज से बोली ॥ १५ ॥

तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् ।

असमञ्ज इति ख्यातं तथाऽयं गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने अपने ज्येष्ठपुत्र असमञ्जस को निकाल दिया था। उसी प्रकार यह भी जाय ॥ १६ ॥

एवमुक्तोधिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् ।

त्रीदितश्च जनः सर्वः सा च तं नाववृद्धयत ॥ १७ ॥

कैकेयी की इस बात का सुन महाराज दशरथ ने कहा “हा ! धिक्कार है” !! अन्य लोग जो वहाँ बैठे थे वे सब लज्जित हुए, परन्तु उस ( कैकेयी ) को तो भी कुछ बोध न हुआ ( अर्थात् महाराज ने सब के सामने कैकेयो को धिक्कारा तो भी उसको शर्म न आयी ) ॥ १७ ॥

तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः ।

शुचिर्वद्दुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

तब सिद्धार्थ नामक प्रधान मंत्री ने, जो कुटिल न था और जिसे महाराज दशरथ बहुत चाहते थे, कैकेयी से कहा ॥ १८ ॥

असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् ।

सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्यु रमते तेन दुर्मतिः ॥ १९ ॥

हे देवि ! ( असमञ्जस का और श्रीरामचन्द्र का क्या सादृश्य है ? ) असमञ्जस तो बड़ा ही दुष्टबुद्धि का था, वह तो सझक पर खेलते हुए बालकों को पकड़ सरयू में फेंक दिया करता था ॥ १९ ॥

तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजानमब्रुवन् ।

असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान्वा राष्ट्रवर्धन ॥ २० ॥

उसके ऐसे दुष्टकर्मी को देख, नगरनिवासियों ने क्रुद्ध हो महाराज सगर से कहा है राष्ट्रवर्धन महाराज ! आप केवल असमञ्जस ही को पुरी में रखना चाहते हैं अथवा हम लोगों को भी ॥ २० ॥

तानुवाच ततो राजा किन्निमित्तमिदं भयम् ।

ताथापि राजा सम्पृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥ २१ ॥

तब सगर ने प्रजाजनों से पूँछा कि, तुम्हारे इस भय का कारण क्या है ? इसके उत्तर में प्रजाजनों ने कहा ॥ २१ ॥

क्रीडतस्त्वेष नः पुत्रान्वालानुद्भ्रान्तचेतनैः ।

सरय्वां प्रक्षिपन्मौर्ख्यदतुलां प्रीतिमश्नुते ॥ २२ ॥

राजकुमार असमञ्जस का दिमाग विगड़ गया है, वह हमारे खेलते हुए बालकों को पकड़ कर सरयू में डुष्टो कर, मूर्खतावश बड़ा प्रसन्न होता है ॥ २२ ॥

१ वृणीष्व—अत्रनगरेस्थापय । ( गो० ) २ उद्भ्रान्तचेतनः—

आन्तबुद्धिः । ( गो० )

स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः ।

तं तत्याजाहितं पुत्रं तेषां प्रियचिकीर्षया ॥ २३ ॥

तब प्रजाजनों की यह बात सुन और उनको प्रसन्न करने के लिये महाराज सगर ने अपने उस अहितकारी पुत्र को त्याग दिया था ॥ २३ ॥

तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् ।

यावज्जीवं विवास्येऽयमिति स्वानन्वशात्पिता ॥ २४ ॥

( किस प्रकार असमञ्जस को देशनिकाला दिया गया से प्रधानमंत्री बतलाते हैं ) महाराज की आङ्गा से वह तुरन्त मय अपनी स्त्री और कपड़े आदि आवश्यक सामान के रथ में सवार कराया गया और नगर में यह राजाङ्गा धोषित की गयी कि, यह सदा के लिये निकाला जाता है ॥ २४ ॥

स फालपिटकं गृह्ण गिरिदुर्गण्यलोलयत् ।

दिशः सर्वास्त्वजुचरन्स यथा पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

तब वह कुदाली और कंडी ले पर्वतों पर और बनों में चारों ओर मारा मारा फिरने लगा । उसने जैसा पापकर्म किया था तदनुद्घट उसे उसका फल भी मिला ॥ २५ ॥

इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः ।

रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुद्धयते ॥ २६ ॥

धार्मिक महाराज सगर ने अपने दुष्ट चरित्र ज्येष्ठपुत्र को देश निकाला दिया था । किन्तु हे रानी ! भला बतलाओ तो कि श्रीराम

\* पाठान्तरे—“तासां ।” † पाठान्तरे—“हस्येन ।”

ने कौनसा दुष्ट कर्म किया है, जो तुम इन्हें देशनिकाला दे रही हो ॥ २६ ॥

न हि कञ्चन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् ।

दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम् ॥ २७ ॥

हमको तो श्रीराम में कोई भी दोष देख नहीं पड़ता ; प्रत्युत हम तो इनमें दोष का मिलना उसी प्रकार असम्भव समझते हैं, जिस प्रकार चन्द्रमा में मलिनता का मिलना ॥ २७ ॥

अथवा देवि दोषं त्वं कञ्चित्पश्यसि राघवे ।

तमद्य ब्रूहि सत्वेन ततो रामो विवास्यताम् ॥ २८ ॥

अथवा है देवि ! तूने यदि कोई दोष श्रीरामचन्द्र में पाया हो, तो उसे साफ साफ खोल कर कह, तब श्रीरामचन्द्र को देश निकाला दिया जाय ॥ २८ ॥

अदुष्टस्य हि सन्त्यागः सत्पथे निरतस्य च ।

निर्दहेदपि शक्रस्य वृत्तिं धर्मनिरोधनात् ॥ २९ ॥

हे कैकेयी ! देवि, सज्जन पर्वं सुमार्ग परं चलने वाले पुरुष को अकारण त्यागने से अर्थर्म होता है और ऐसा अर्थर्म इन्द्र के समान तंज की भी नष्ट कर देता है ॥ २९ ॥

तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया ।

लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥ ३० ॥

हे सुमुखी ! अतपव तू श्रीरामचन्द्र जी की श्री—शोभा नष्ट मत कर और अपने को लोकनिन्दा से बचा अर्थात् ऐसा काम कर जिससे लोग तेरो निन्दा न करें ॥ ३० ॥

श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्यनः ।  
शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

सिद्धार्थ के ऐसे बच्चन सुन, महाराज दशरथ ने बड़े धोमे स्वर से और शोक से विकल हो, कैकेयी से कहा ॥ ३१ ॥

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते  
हितं न जानासि ममात्मनो वा ।  
आस्थाय मार्गं कृपणं<sup>१</sup> कुचेष्टा  
चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥ ३२ ॥

हे पापिन ! मैं जान गया कि, सिद्धार्थ का कहना भी तुझे अच्छा न लगा । अपनो और हमारी भलाई किस में है, यह भी तू नहीं जानती, तू कृत्स्त मार्ग पर चलने की कुचेष्टा कर रही है, तेरा यह साधु मार्ग छाड़ कर चलने ही का है । ( अर्थात् अपने और हमारे हित चाहने वाले सिद्धार्थ के कथन पर जो तू ध्यान नहीं देती से यह तेरी कुचेष्टा है, यह भले आदमियों का काम नहीं है ) ॥ ३२ ॥

अनुव्रजिष्याम्यहमव्य रामं  
राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च ।  
सहैव राजा भरतेन च त्वं  
यथासुखं भुद्धक्षव चिराय राज्यम् ॥ ३३ ॥

इति षड्क्रिंशः सर्गः ॥

<sup>१</sup> कृपण—कृत्स्ततं । ( गो० )

अतपत्र धन सम्पत्ति सहित इस राज्य और राज्यसुखों को  
छोड़, हम तो श्रीरामचन्द्र के साथ जाते हैं। तू अपने पुत्र भरत के  
साथ सदा के लिये सुखपूर्वक राज्य कर ॥ ३३ ॥

अयोध्याकाण्ड का छठीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—०—

### सप्तत्रिंशः सर्गः

—०—

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा ।  
अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥

प्रधानमंत्री सिद्धार्थ के तथा महाराज दशरथ के बचन सुन,  
सुशील श्रीरामचन्द्र जी ने नब्रता पूर्वक महाराज दशरथ से  
कहा ॥ १ ॥

त्यक्तभोगस्य मे राजन्वने वन्येन जीवतः ।  
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

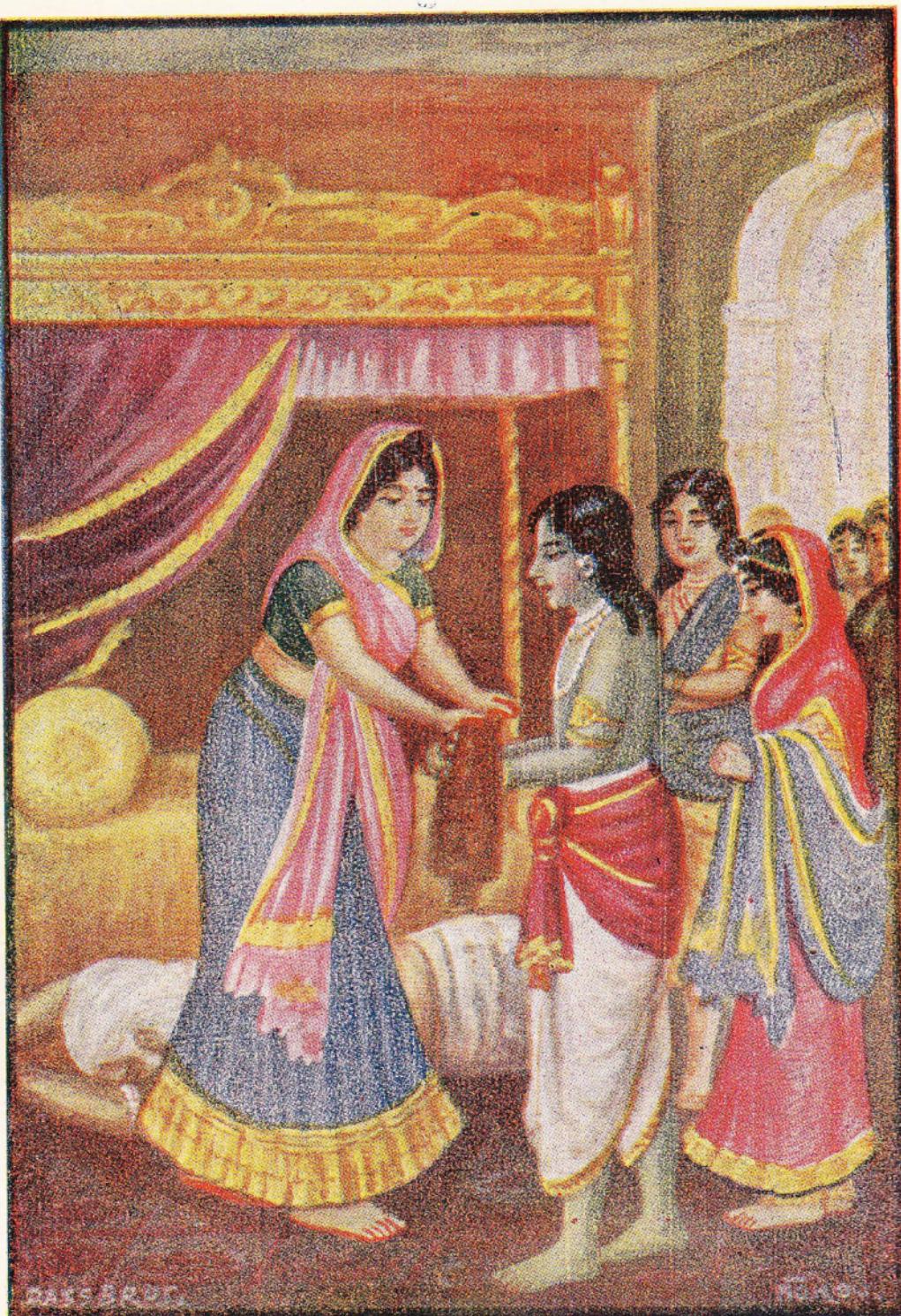
हे महाराज ! जब मैं सब भोगों को छोड़ चुका और वन में  
उत्पन्न पदार्थों से अपना निर्वाह करना स्वीकार कर चुका, तब मेरे  
साथ धन सम्पत्ति, सेना आदि इन सारे समानों के जाने की क्या  
आवश्यकता है ॥ २ ॥

ये हि दत्त्वागजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः ।  
रजुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥

\* पाठान्तरे—“ द्विपश्चेष्ट । ”



# अयोध्याकाण्ड



कैदेगी तारा राजकपाठों को बहकत छन्दात

जो मनुष्य हाथी तो दे डाले, किन्तु अंबारी कसने की रस्सी देते  
मोह करे, अर्थात् देना न चाहे, तो उस उत्तम हाथी देने वाले को  
उस रस्सी की ममता से लाभ क्या ? ॥ ३ ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।

सर्वाण्येवानुजानामि<sup>१</sup> चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥

हे सज्जनश्रेष्ठ ! ठीक यही बात मेरे सम्बन्ध में भी है । हे नर  
नाथ ! मैं सेना साथ ले जा कर क्या करूँगा ? आप जो कुद्द मुझे  
देना चाहते हैं, उस सब को मैं भरत जी को देता हूँ । मेरे लिये तो  
वल्कलादि मँगवा दीजिये ॥ ४ ॥

खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छतः ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥

चौदह वर्ष तक मुझे वन में रहना है, अतः कन्दमूल फल  
खोदने और काटने के लिये एक खन्ता और एक कड़ी मँगवा  
दीजिये, जिससे मैं अब वन को शोब्र जाऊँ ॥ ५ ॥

अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् ।

उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥

( ये वचन सुनते ही ) कैकेयी स्वयं उठ कर गयी और चीर  
वल्कल ले आयी । तदनन्तर सब लोगों के सामने लज्जा छोड़  
श्रीरामचन्द्र से बोली—लो इन्हें पहिन लो ॥ ६ ॥

स चीरे पुरुषव्याघः कैकेय्या प्रतिगृह्य ते ।

सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥

<sup>१</sup> अनुजानामि—ददामि । ( गो० )

तब श्रीरामचन्द्र जी ने वे बलकल वस्त्र कैकेयी से ले लिये और उनको धारण कर महीन बहुमूल्य वस्त्रों का उतार डाला ॥ ७ ॥

लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।

तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥

लक्ष्मण ने भी वहीं पर अच्छे अच्छे वस्त्र, जो वे पहने थे, उतार डाले और गिता के सामने ही मुनियों के पहनने योग्य बलकल वस्त्र पहन लिये ॥ ८ ॥

अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी ।

समीक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृष्ठती वागुरामिव ॥ ९ ॥

सीता जी, जो रेशमी साढ़ी पहने हुए थीं अपने पहनने के लिये उस बलकल वस्त्र को देख, उससे बैले ही डरीं, जैसे हिरनी बहेलिया के जाल को देख डरती है ॥ ९ ॥

सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः ।

कैकेयीकुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥ १० ॥

शुभलक्षणा जानकी जी ने लज्जित हो और दुःखी मन से कैकेयी के दिये बलकलों का ले लिया ॥ १० ॥

अश्रुसम्पूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा<sup>१</sup> धर्मदर्शिनी<sup>२</sup> ।

गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

पतिव्रतधर्म को जानने वाली पतिव्रता जानकी जी ने नेत्रों में आँख भर, गन्धर्वराज के तुल्य अपने पति से, यह कहा ॥ ११ ॥

१ धर्मज्ञा—प्रतिव्रत्यधर्मज्ञा । ( गो० ) २ धर्मदर्शिनी—स्वानुष्टानेन प्रतिव्रत्यधर्मप्रदर्शिनी । ( गो० )

कथं नु चीरं बधनन्त मुनयो वनवासिनः ।

इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥ १२ ॥

वनवासी मुनि किस प्रकार यह वल्कल वस्त्र पहिना करते हैं ।  
यह कह वह मुनिवस्त्र पहिनने में अकुशल जानकी बार बार घबड़ाने लगी ॥ १२ ॥

कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना ।

तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥ १३ ॥

तब इस कार्य में अनिषुण सीता जी उस वल्कल वस्त्र का एक  
छोर गले में लपेट और दूसरा छोर हाथ में ले लज्जित हो, वहाँ खड़ी  
रही ॥ १३ ॥

तस्यास्तत्क्षप्रमागम्य रामो धर्मभृतांवरः ।

चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्येऽपरि स्वयम् ॥ १४ ॥

इतने में धर्मतिवाचों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त उनके समीप  
जा कर, रेशमी साड़ी के ऊपर उस चीर को स्वयं बांध दिया ॥ १४ ॥

रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बन्धनं चीरमुक्तम् ।

अन्तःपुरगता नार्या मुमुक्षुर्वारि नेत्रजम् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र को सीता जी के चीर बांधते देख, अन्तःपुर की  
सब लिंगां रोने लगीं ॥ १५ ॥

ऊचुश्च परमायस्ता रामं ज्वलिततेजसम् ।

वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥ १६ ॥

और अत्यन्त कातर हो कर परम तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी से  
बोलीं—हे वत्स ! तुम्हारे पिता ने इस मनस्विनी जानकी जी को  
वन जाने की आङ्गा नहीं दी ॥ १६ ॥

पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् ।

तावद्दर्शनमस्यां नः सफलं भवतु प्रभो ॥ १७ ॥

पिता की आङ्गा मान तुम तो वन जाओगे ही, परन्तु जानकी जी को अपने साथ मत ले जाओ, जिससे हम सब इसीका मुख देख देख कर, अपना जीवन सफल कर सकें ॥ १७ ॥

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक ।

नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥ १८ ॥

हे वत्स ! तुम लक्ष्मण जी को अपनी सहायता के लिये अपने साथ ले जाओ, किन्तु कल्याणी जानकी तो तपस्त्रियों की तरह वन में रहने योग्य नहीं है ॥ १८ ॥

कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी ।

धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥ १९ ॥

हे राम ! यदि तुम इस समय धर्म के अनुरोध से यहाँ रहना नहीं चाहते, तो हमारी यह प्रार्थना मानों कि, सीता को यहाँ ब्राह्मणों को दो ॥ १९ ॥

तासामेवंविधा वाचः श्रृण्वन्दशरथात्मजः ।

बबन्धैव तदा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥ २० ॥

दशरथनन्दन ने उन रानियों के ये वचन सुन कर भी, जानकी जी की रहने में सम्मति न देख, उनके चीर बाँध ही तो दिये ॥ २० ॥

चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः ।

निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ २१ ॥

<sup>1</sup> तुल्यशीलया — अनङ्गीकृतानगरस्थित्यासीतयाप्रेरितःसन् । ( २० )

सीता जी को चौर धारण किये हुए देख, महाराज के गुह  
वशिष्ठ जी ने सीता जी को चौर वस्त्र धारण करने के लिये मना  
कर, कैकेयी से कहा ॥ २१ ॥

अतिप्रवृत्ते<sup>१</sup> दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि ।

वश्वित्वा च राजानं न प्रमाणे<sup>२</sup> वतिष्ठुसे ॥ २२ ॥

रे कुलकलङ्किनी ! अरी दुष्टबुद्धिवाली कैकेयी ! महाराज को  
धोखा दे कर, अपनी कामना या वरदान की सीमा के बाहिर तू  
काम करवा चुकी अर्थात् तू अति कर चुकी । खैर जो किया सो  
किया, अब तो मर्यादा के भोतर रह ॥ २२ ॥

न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।

अनुष्टास्यति<sup>३</sup> रामस्य सीता प्रकृतमासनम्<sup>४</sup> ॥ २३ ॥

अरे कैकेयी ! तुझमें शील तो रहा ही नहीं । सीता वन को न  
जायगी । वह श्रीरामचन्द्र जी के लिये तैयार हुए राजसिंहासन पर  
बैठेगी अर्थात् जब तक श्रीरामचन्द्र वन से लौट कर न आयेंगे तब  
तक सीता ही राज्य करेगी ॥ २३ ॥

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्<sup>५</sup> ।

आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ २४ ॥

क्योंकि सब गृहस्थों की खियाँ अपने अपने पतियों की  
अद्दीङ्किनी होती हैं । अतः वे पति के समान ही पति के स्वत्वों

१ अतिप्रवृत्ते—अतिक्रम्यप्रवर्तमाने । ( गो० ) २ प्रमाणे—मर्यादायाँ । ( गो० ) ३ अनुष्टास्यति—अधिष्टास्यति । ( गो० ) ४ प्रकृतं—प्रस्तुतं । ( गो० ) ५ आसनम्—सिंहासनं । ( गो० ) ६ दारसंग्रहवर्ति—नाम्—गृहस्थानाँ । ( गो० )

की अधिकारिणी हैं। सीता जी भी श्रीरामचन्द्र की अद्वैतिनी अथवा उनका रूप हैं। अतः ये भी पृथिवी का पालन अर्थात् राज्य करेंगी ॥ २४ ॥

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण सङ्गता ।

वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥ २५ ॥

यदि सीता जी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को गयीं, तो केवल हम ही नहीं, किन्तु सारी अयोध्यापुरी के लोग श्रीरामचन्द्र के साथ वन को चले जायगे ॥ २५ ॥

अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः ।

सहोपजीव्यं<sup>१</sup> राष्ट्रं<sup>२</sup> च पुरं<sup>३</sup> च सपरिच्छदम्<sup>४</sup> ॥ २६ ॥

जहाँ सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी जायगे, वहाँ ही ये सब ढ्योहीदार, राज्य भर में बसने वाले लोग तथा अयोध्यावासी धन धान्य और नौकरों चाकरों सहित चले जायगे ॥ २६ ॥

भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः ।

वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥ २७ ॥

भरत जी और शत्रुघ्न जी भी चीर पहिन कर तपस्वियों के वेश में अपने बड़े भाई के साथ वनवासी होंगे ॥ २७ ॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह ।

त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते स्थिता ॥ २८ ॥

१ अन्तपालः—राष्ट्रन्तपरिपालकः । (गो०) २ उपजीव्य—जीवनसाधनं धनं । (शि०) ३ राष्ट्रं—राष्ट्रस्थोजनः । (शि०) ४ पुरं—अयोध्या । (शि०) ५ सपरिच्छदम्—दासदासीशकटादिपरिकरयुक्तम् । (गो०)

तब इस राज्य की भूमि मनुष्यों से शून्य हो जायगी—केवल वृक्ष ही वृक्ष रह जायगे । तब तू अकेली प्रजा की अहितकारिणी बन कर, पेड़ों पर राज्य करना ॥ २८ ॥

न हि तद्विता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः ।

तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥ २९ ॥

( तू अच्छी तरह समझ रख कि, ) जहाँ श्रीरामचन्द्र का राज्य नहीं, वह स्थान राज्य कहला हो नहीं सकता और जहाँ पर श्रीराम-चन्द्र जी रहेंगे—वह भले ही बन हो, तो भी वह राज्य कहा जायगा ॥ २६ ॥

न ह्यदत्तां<sup>१</sup> महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति ।

त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥ ३० ॥

महाराज अप्रसन्नतापूर्वक भरत को राज्य दे रहे हैं, सो भरत यदि महाराज के पुत्र होंगे, तो वे इस राज्य को कभी न लेंगे और न तेरे साथ पुत्रवत् बर्ताव करेंगे ॥ ३० ॥

यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यति ।

पितृवंशचरित्रज्ञः सेऽन्यथा न करिष्यति ॥ ३१ ॥

भले ही तू पृथिवी क्षेत्र आकाश में चली जा, ( अर्थात् मर जा ) तो भी अपने कुल के चरित्र से जानने वाले भरत जी कभी अन्यथाचरण न करेंगे अर्थात् बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के रहते राज्य न करेंगे ॥ ३१ ॥

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या<sup>२</sup> पुत्रस्य कृतमप्रियम् ।

लोके हि न स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥ ३२ ॥

<sup>१</sup> अदत्तां—प्रीतपूर्वकमदत्तां । ( गो० ) <sup>२</sup> पुत्रगर्धिन्या—पुत्रविषय-स्वेहयुक्त्या । ( गो० )

तू भरत की भलाई सोच, उनको जो राज्य दिला रही है, सो तू उनकी भलाई नहीं कर रही है; प्रत्युत उनके लिये बुराई कर रही है, क्योंकि ऐसा कोई जन नहीं जो श्रीरामचन्द्र जी के पीछे न जाय ॥ ३२ ॥

**द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् ।**

**गच्छतः सह रामेण पादपांशु तदुन्मुखान् ॥ ३३ ॥**

मनुष्यों की बात रहने दे, तू देखेगी कि, पशु, सर्प, मृग, पक्षी श्रीरामचन्द्र जी के साथ जाते हैं। ( जंगमों की बात भी जाने दे स्थावर ) वृक्ष भी श्रीरामचन्द्र जी को वन जाते देख, उनके स्नेह में आसक हो, उनकी ओर मुक जायगे—अर्थात् उनके साथ जाना चाहेंगे ॥ ३३ ॥

**अथोत्तमान्याभरणानि देवि**

**देहि स्नुषायै व्यपनीयै चीरम् ।**

**न चीरमस्याः प्रविधीयतेति**

**न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः ॥ ३४ ॥**

अतएव हे देवि ! चीर को हटा कर अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण अपनी बहू ( सीता ) को पहिना, क्योंकि यह सीता चीर पहनने योग्य नहीं है। इस प्रकार कह कर वशिष्ठ जी ने सीता जी को चोरधारण कराने के लिये मना किया ॥ ३४ ॥

**एकस्य रामस्य वने निवासः**

**त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।**

१ तदुन्मुखान्—रामविषयस्नेहासक्तत्वं । ( गो० ) २ व्यपनीय—निरस्य । ( गो० )

विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या

वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥ ३५ ॥

हे राजा केकय की बेटी ! तूने तो अकेले श्रीरामचन्द्र के वन-वास के लिये वर माँगा था । अतः जानकी जी वसन भूषण धारण कर ( अर्थात् सौभाग्यवती छियों के अनुरूप शृङ्खार कर ) श्रीरामचन्द्र जी के साथ वन में बसें । (अर्थात् उनके ऐसा करने से तेरी हानि ही क्या है) ? ॥ ३५ ॥

यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च

सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।

वस्त्रैश्च सर्वैः सहितैर्विधानैः ।

नेयं वृता ते वरसम्प्रदाने ॥ ३६ ॥

जब तू ने सीता को वन में भेजने का वरदान ही नहीं माँगा, तब वह अच्छी सजारी में बैठ और मुख्य मुख्य अपनी दासियों को साथ ले और अच्छे गहने कपड़े पहिन और शृङ्खार की अन्य सामग्री साथ ले वन में जाय ॥ ३६ ॥

तस्मिस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये

गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे ।

नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा

प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥ ३७ ॥

इति सप्तत्रिशः सर्गः ॥

अमित प्रभावशाली, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ एवं राजगुरु वशिष्ठ जी के इतना कहने पर भी, सीता ने उस चीर को न उतारा । उतारती क्यों, वे तो अपने प्यारे पति की तरह वन में रहना चाहती थीं ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाशड का सैंतीमवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

### अष्टात्रिंशः सर्गः

—:०:—

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् ।

प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥

सनाथा सीता को अनाथा की तरह चीर पहिनते देख, जो वहाँ उपस्थित थे, चिल्हाये और महाराज दशरथ जी को शिक्कारने लगे ॥ १ ॥

तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः ।

चिच्छेद जीविते श्रद्धां<sup>१</sup> धर्मे यशसि चात्मनः ॥ २ ॥

इस महाकोलाहन को सुन, महाराज दुःखी हुए और अपने जीवन में, धर्म में, और यश में जो पहिजे आदर था, उसे उन्होंने त्याग दिया ॥ २ ॥

स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् ।

कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥

उन्होंने उससे ले कर कैकेयी से यह कहा—हे कैकेयी ! कुशचीर धारण कर सीता न जायगी ॥ ३ ॥

सुकुमारी च बाला च सततं च सुखेचिता ।

नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥

हमारे गुरु वशिष्ठ जी ने टीक हा कहा है कि, सीता वन जाने योग्य नहीं है । क्योंकि वह सुकुमारीबाला सदा सुख भेगने योग्य है ॥ ४ ॥

इयं हि कस्यापकरोति किञ्चि-

तपस्त्विनी राजवरस्य कन्या ।

या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये

स्थिता विसंज्ञा<sup>१</sup> श्रमणीव<sup>२</sup> काचित् ॥ ५ ॥

क्या नृश्रेष्ठ महाराज जनक की कन्या ने किसी का कुछ विगड़ा है, जो यह लोगों की भीड़ में, चीर धारण कर, मुग्धा तपस्त्विनी की तरह खड़ा है ॥ ५ ॥

चीराण्यपास्याजनकस्य कन्या

नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा

यथासुखं गच्छतु राजपुत्री

वनं समग्राः<sup>३</sup> सह सर्वरत्नैः<sup>४</sup> ॥ ६ ॥

मैंने यह वर नहीं दिया है कि, महाराज जनक की पुत्री भी चीर धारण करे । अतः यह राजपुत्री अपेक्षित वसन भूषण तथा समस्त उत्तम सामग्री सहित जाय ॥ ६ ॥

१ विसंज्ञा—मुग्धा । ( गो० ) २ श्रमणीव—तपस्त्विनीव । ( गो० ) ३ समग्रा—वस्त्रालङ्घार सम्पूर्णा । ४ सर्वरत्नैः—सर्वश्रेष्ठ वस्त्रुभिः । ( गो० )

अजीवनाहेण मया नृशंसा  
कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।

तथा हि <sup>१</sup>बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्<sup>२</sup>-  
तन्मां दहेद्वेषुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥

मरने का समय निकट होने से मेरो बुद्धि विगड़ गयी । इसीसे मैंने शपथपूर्वक तुझे वर देने की प्रतिज्ञा कर के जो मूर्खता का काम किया है, वह मुझे वैसे ही जला रहा है, जैसे बाँस का फूल बाँस को जलाता है ॥ ७ ॥

[ बाँस का फूल जब फूलता है तब वह बाँस को सुखा देता है । ]

रामेण यदि ते पापे किञ्चित्कृतमशोभनम् ।  
अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽथ मे ॥ ८ ॥

माना कि, श्रीरामचन्द्र ने तेरा कुङ्कुम विगाड़ा था, पर अरे पापिन ! मुझे बता तो सही जानकी जो ने तेरा क्या विगाड़ा था ॥ ८ ॥

मृगीवेत्सुल्लनयना मृदुशीला तपस्विनी ।  
अपकारं कमिह ते करोति जनकात्मजा ॥ ९ ॥

हिरनी के समान सुन्दर नेत्र वाली तथा तपस्विनी की तरह कोमल और शील स्वभाव वाली जानकी ने तेरा क्या विगाड़ा है ॥ ९ ॥

ननु पर्यासमेतत्ते पापे रामविवासनम् ।  
किमेभिः कृपणैभूर्यः पातकैरपि ते कृतैः ॥ १० ॥

<sup>१</sup> बाल्यात्—बालिशत्वात् । (गो०) <sup>२</sup> एतत्—प्रतिज्ञातं । (गो०)

अरी पापिन ! तुझे नरक में डालने के लिये श्रीरामचन्द्र का अकारण बनवास दिलाना हो पर्याप्त है, फिर न जाने अधिक दुष्ट कर्मों के करने से तेरी क्या गति होगी ॥ १० ॥

**प्रतिज्ञातं<sup>१</sup> मया तावत्त्वयोक्तं देवि शृण्वता ।**

**रामं यदभिषेकाय त्वमिहागतमब्रवीः ॥ ११ ॥**

अभिषेक के लिये जब श्रीरामचन्द्र यहाँ आये थे, तब तूने इनसे यही न कहा था कि, तुम अपना अभिषेक न करा कर और चीर जटा धारण कर बन जाओ । तेरी यह बात सुन, हमने उसे ( चुप-चाप—“मैनं सभ्मतिलक्षणम्” न्याय से ) स्वीकार कर लिया । (उस समय तूने केवल श्रीरामचन्द्र ही का नाम लिया था, सीता का नहीं ) ॥ ११ ॥

**तत्त्वेतत्समतिक्रम्य निरयं गन्तुमिच्छसि ।**

**मैथिलीमपि या हि त्वमीक्षसे चीरवासिनीम् ॥ १२ ॥**

सो तू उस बात को ढोड़, नरक में जाया चाहती है । तभी तो तू सीता को मुनियों जैसे चीर पहिना बन में भेजती है ॥ १२ ॥

**इतीव राजा विलपन्महात्मा**

**शोकस्य नान्तं स दर्दश किञ्चित् ।**

**भृशातुरत्वाच्च पपात भूमौ**

**तेनैव पुत्रव्यसने निमग्नः ॥ १३ ॥**

महात्मा महाराज दशरथ विलाप कर तथा अपने शोक का पार न देख और अत्यन्त श्रातुर हो, पृथिवी पर गिर पड़े और पुत्र के वियोगजन्य दुःख ( को स्मरण कर ) में डूब गये ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> प्रतिज्ञातं—अङ्गीकृतम् । ( शि० )

एवं ब्रुवन्तं पितरं रामः सम्प्रस्थितो वनम् ।  
अवाक्षिरसपासीनमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते हुए और नीचा सिर किये हुए पिता महाराज दशरथ से, वन जाने के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र यह वचन बोले ॥ १४ ॥

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी ।  
दृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥ १५ ॥

हे देव ! यह मेरी माता कौशल्या ज्ञा पतिवता है, यशस्विनी है, बूढ़ी है, उत्तम स्वभाव वाली है और जो कभी आपको निन्दा नहीं करती ॥ १५ ॥

मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम् ।  
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः समन्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे वरद ! मेरे बिना यह शोकसागर में छूट जायगी । इसके कभी पहिले दुःख नहीं देखा, अतः आप इसका अत्यन्त सम्मान करेंजियेगा ॥ १६ ॥

पुत्रशोकं यथा नच्छेत्त्वया पूज्येन पूजिता ।  
मां हि सञ्चिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत्तपस्विनी ॥ १७ ॥

आप पूज्य हैं, आप इसका ऐसा सम्मान या सत्कार करें, जिससे इसे पुत्र-वियोग-जन्य शोक न होने पावे और मेरे वियोग को सह सके तथा आपके भरोसे जीती रहे ॥ १७ ॥

इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं  
 तथा विधातुं जननीं ममार्हसि ।  
 यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता  
 न जीवितं न्यस्य यमक्षयं ब्रजेत् ॥ १८ ॥

इति अष्टात्रिंशः सर्गः ॥

हे इन्द्र के समान पेश्वर्यशालो महाराज ! आप, पुत्रवत्सला मेरी माता को इस तरह रखना, जिससे मेरे वन में रहने के समय, वह क्षीणबला हो मर न जाय और यमलोक न चली जाय ॥ १९ ॥

अयोध्याकाष्ठ का अड़तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—;\*:—

### एकोनचत्वारिंशः सर्गः

रामस्य तु वचः श्रुत्वा मुनिवेषधरं च तम् ।  
 समीक्ष्य सह भार्याभी राजा विगतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों का सुन और उनकी मुनि का वेष धारण किये हुए देख, महाराज अपनी रानीयों सहित मूर्च्छित हो गये ॥-१ ॥

नैनं दुःखेन सन्तसः प्रत्यवैक्षत राघवम् ।  
 न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः ॥ २ ॥

दुःख से सन्तस हो, उदास मन महाराज न तो श्रीरामचन्द्र जी की ओर देख सकते थे और न उनकी ओर देख कर, उनसे बोल ही सकते थे ॥ २ ॥

स मुहूर्तमिवासंज्ञो दुःखितश्च महीपतिः ।

विललाप महाबाहू राममेवानुचिन्तयन् ॥ ३ ॥

महाराज दशरथ दुःखित हो, एक मुहूर्त तक अचेत पड़े रहे ।  
तदनन्तर महाबाहू दशरथ चैतन्य हो, श्रीराम का स्मरण कर, अनेक प्रकार के विजाप करने लगे ॥ ३ ॥

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः ।

प्राणिनो हिंसिता वापि तस्मादिदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥

हम मानते हैं कि, हमने निस्तन्देह पूर्वजन्म में बहुत सी गौओं के बछड़े उनसे अलग कर दिये हैं अथवा बहुत से प्राणियों का वध किया है ; इसीसे यह दुःख हमारे ऊपर पड़ा है ॥ ४ ॥

न त्वेवानागते काले देहाच्छ्यवति जीवितम् ।

कैकेय्या क्लिश्यमानस्य मृत्युर्मम न विद्यते ॥ ५ ॥

विना समय आये शरीर से प्राण नहीं निकलते । क्योंकि कैकेयी हमें इतना क्लेश दे रही है, तिस पर भी हमें मौत नहीं आती ॥ ५ ॥

योऽहं पावकसङ्काशं पश्यामि पुरतः स्थितम् ।

विद्याय वसने सूक्ष्मे तापसाच्छादमात्मजम् ॥ ६ ॥

हा ! अग्नि के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र को हम अपने आगे लाडा और राजसी वस्त्र त्याग कर, मुनिवस्त्र पहिने देख रहे हैं ॥ ६ ॥

एकस्याः खलु कैकेय्याः कृतेऽयं क्लिश्यते जनः ।

स्वार्थं प्रयतमानायाः संश्रित्य निकृतिं त्विमाम् ॥ ७ ॥

निश्चय ही अकेली कैफेयी की करतूत ही से इतने लोग कष्ट पा रहे हैं। वह यह शठता का प्रयत्न केवल स्वार्थसाधन के लिये कर रही है ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण पिहितेक्षणः\* ।

रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक ह ॥ ८ ॥

ऐसा कह कर, महाराज ने नेत्रों में आँख भर एक बार “राम” कहा; किन्तु इसके आगे वे कुछ भी न बोल सके ॥ ८ ॥

संज्ञां तु प्रतिलभ्यैव मुहूर्तात्स महीपतिः ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ९ ॥

एक मुहूर्त बाद जब महाराज को चेत हुआ, तब उन्होंने आँखों में आँख भर, सुमन्त्र से यह कहा ॥ ९ ॥

औपवाह्यं<sup>१</sup> रथं युक्त्वा त्वमायाहि हयोत्तमैः ।

प्रापयैनं महाभागमितो जनपदात्परम् ॥ १० ॥

तुम, उत्तम घोड़े जोत कर, सवारी करने योग्य रथ ले आओ और इस महाभाग श्रीरामचन्द्र को उस पर सवार कर इस नगर से बाहिर पहुँचाओ ॥ १० ॥

एवं मन्ये गुणवतां गुणानां फलमुच्यते ।

पित्रा मात्रा च यत्साधुर्वर्तो निर्वास्यते वनम् ॥ ११ ॥

अब हम समझे कि, गुणी पुरुषों के गुणवान होने का यही कल है कि, ऐसे साधु और वीर पुत्र, पिता माता द्वारा वन में निकाले जाते हैं, ( अर्थात् अब से गुणी होना भी ठीक नहीं ) ॥ ११ ॥

<sup>१</sup> औपवाह्यं—उपवहनमात्रयोग्यं । (गो०) \* पाठान्तरे—“पिहितेनिद्रयः ।”

राज्ञो वचनमाङ्गाय सुमन्त्रः शीघ्रविक्रमः १ ।

योजयित्वाऽऽययौ तत्र रथमश्वैरलड्कृतम् ॥ १२ ॥

महाराज की आङ्गा पा कर, सुमंत्र तुरन्त धोड़े जोत कर, अलङ्की तरह सजा हुआ एक रथ ले आये ॥ १२ ॥

तं रथं राजपुत्राय सूतः कनकभूषितम् ।

आचचक्षेऽङ्गलिं कृत्वा युक्तं परमवाजिभिः ॥ १३ ॥

और उस सुवर्णभूषित और बढ़िया धोड़ों से युक्त रथ को राजकुमार ( श्रीरामचन्द्र ) के सामने खड़ा कर तथा हाथ जोड़ कर सुमंत्र ने उनसे कहा, “रथ तैयार है” ॥ १३ ॥

राजा सत्वरमाहूय व्यापृतं॑ वित्तसञ्चये॒ ।

उवाच देशकालज्ञं निश्चितं॑ सर्वतः शुचिम्॒ ॥ १४ ॥

तदनन्तर महाराज ने तुरन्त अपने उस खजानची को बुलाया, जो जानता था कि, कौन वस्तु कहाँ धरी है और जो सब प्रकार से मन का और हाथ का सज्जा ( ईमानदार ) था । उससे महाराज ने देश और काल के अनुरूप यह वचन कहा ॥ १४ ॥

वासांसि च महार्दणि भूषणानि वराणि च ।

वर्षाण्येतानि संख्याय वैदेह्याः क्षिप्रमानय ॥ १५ ॥

अच्छे अच्छे कपड़े और बहुमूल्य आभूषण जो चौदह वर्ष को जानकी के लिये पर्याप्त हो—शीघ्र जा कर ले आओ ॥ १५ ॥

१ शीघ्रविक्रमः—शीघ्रपदविक्षेपः । ( गो० ) २ व्यापृतं—अद्यक्षत्वेन व्यापृतं, धनाध्यक्षं । ( गो० ) ३ वित्तसञ्चये—केशगृहे । ( गो० ) ४ निश्चितं—यावदवस्थान्तरतद्वस्तुविषयनिश्चितज्ञानवत्तं । ( गो० ) ५ शुचिम्—वासान्तरशुद्धियुक्तं । ( गो० )

नरेन्द्रेणैवमुक्तस्तु गत्वा कोशगृहं ततः ।

प्रायच्छत्सर्वपाहृत्य सीतायै समेव तत् ॥ १६ ॥

महाराज की ऐसी आङ्गा पा कर कोषाध्यक्ष कोशगार में गया और जिन जिन वस्तुओं को लाने के लिये महाराज ने कहा था, उन सब को ला कर सीता जी को दे दिया ॥ १६ ॥

सा सुजाता<sup>१</sup> सुजातानि वैदेही प्रस्थिता वनम् ।

भूषयामास गात्राणि तैर्विचित्रैर्विभूषणैः ॥ १७ ॥

अयोनिसम्भूत सीता जी ने उन जाने के समय उन विचित्र भूषणों और वस्त्रों से अपने शरीर को शोभित किया ॥ १७ ॥

व्यराजयत वैदेही वेशम तत्सुविभूषिता ।

उद्यतोशुभ्रतः<sup>२</sup> काले खं प्रभेव विवस्वतः ॥ १८ ॥

जानकी जी ने उस समय वस्त्राभूषण धारण कर, उस घर को सुशोभित ऐसा किया जैसे प्रातःकाल अर्थात् उदयकाल में सूर्य की प्रशस्ति किरणों आकाश को भूषित करती हैं ॥ १८ ॥

तां भुजाभ्यां परिष्वज्य ईश्वश्रूर्वचनमब्रवीत् ।

अनाचरन्तीं<sup>३</sup> कृपणं<sup>४</sup> मूर्धन्युपाद्राय मैथिलीम् ॥ १९ ॥

कौशल्या जी ने अच्छे आचरण करने वाली जानकी जी को हृदय से लगाया और मस्तक को सुँघ, यह कहा ॥ १९ ॥

१ सुजाता—सुजन्मा अयोनिजेतियावत् । ( गो० ) २ अंशुभ्रता—प्रशस्त-किरणस्थ । ( गो० ) ३ ईश्वश्रूः—कौशल्या । ( गो० ) ४ अनाचरन्तो अकुर्वन्तीं । ( गो० ) ५ कृपण—क्षुद्रं । ( गो० )

असत्यः<sup>१</sup> सर्वलोकेऽस्मिन्सततं सत्कृताः प्रियैः ।

भर्तारं नानुमन्यन्ते<sup>२</sup> विनिपातगतं<sup>३</sup> स्त्रियः ॥ २० ॥

सब लोकों में जो कुलदा स्त्रियाँ होती हैं, उनका उनकी चाही दुई प्रिय वस्तुओं से भले ही सदैव सत्कार ही कर्तों न किया जाय, किन्तु पति पर विपत्ति पड़ने पर ऐसी स्त्रियाँ अपने पति को नहीं मानती अर्थात् जैसा आदर वे समृद्ध काल में अपने पतियों का करती हैं—जैसा आदर सत्कार वे अपने पतियों का विपत्ति के समय नहीं करतीं ॥ २० ॥

एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।

अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ॥ २१ ॥

वास्तव में कुलदा स्त्रियों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि पहले सुख को भोग कर भी, ज्योंही जरा भी विपत्ति पड़ी कि त्योंही वे पति पर केवल दूषण ही नहीं लगाने लगती बल्कि पति को छोड़ भी बैठती हैं ॥ २१ ॥

असत्यशीला विकृताः<sup>४</sup> दुर्गाहित्याः सदा ।

युवत्यः पापसङ्कल्पाः क्षणमात्राद्विरागिणः<sup>५</sup> ॥ २२ ॥

संसार में अधिक स्त्रियाँ ऐसी होती हैं, जो सदा शूँठ बोला करती हैं, जिनको देखते ही देखने वाले के मन में विकार उत्पन्न होता है, उनके मन की बात बड़ी कठिनाई से जानी जाती है, वे

१ असत्यः—कुलदाः । ( गो० ) २ नानुमन्यन्ते—नगणयन्ति ।

( गो० ) ३ विनिपातगतं—स्वस्थानत्वच्युतिं प्राप्तं । ( गो० ) ४ विकृताः—दर्शनमात्रेण विकारोत्पादिकाः । ( शि० ) ५ क्षणमात्रद्विरागिणाः—क्षणमात्रेण यक्त्वानुरागः । ( वि० )

सदा हृदयशून्य होती हैं। वे अपने को सदा जवान ही समझती रहती हैं, उनके मन में नाना प्रकार के पापपुरित सङ्कल्प उठा करते हैं और वे क्षणमात्र में चिरपेति प्रीति को तिनके की तरह तोड़ दालती हैं, अथवा बात बात में बिगड़ा करती हैं ॥ २२ ॥

न कुलं न कृतं विद्यां न दत्तं नापि संग्रहम् ।

स्त्रीणां गृह्णाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ॥ २३ ॥

न तो प्रशस्त कुल, न उपकार, न गुरुपदिष्ट धर्मविद्या, न वस्त्र आभूषणादि का दान, न वैवाहिक वन्धन ही (अथवा उनको बांध कर रखना ही) इन कुलटा स्त्रियों के मन को वश में कर सकता है। क्योंकि ये सब बड़ी चञ्चल स्वभाव की होती हैं ॥ २३ ॥

[ कुलटा स्त्रियों के लक्षण समझा कर, आगे कौशल्या जी सती स्त्रियों के लक्षण बतलाती हैं । ]

साध्वीनां हि स्थितानां<sup>१</sup> तु शीलेः सत्ये श्रुतेः शमेः ।

स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते<sup>२</sup> ॥ २४ ॥

जो सती और पतिव्रता स्त्रियों होती हैं, वे कुलोचित धाचरण वालीं, सत्य में आस्था रखने वालीं, गुरुजनों के उपदेश में श्रद्धा रखने वालीं और शान्तचित्त वालीं होती हैं। ऐसी स्त्रियों के लिये उनका केवल पति ही परम पवित्र और सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ २४ ॥

१ संग्रहं—धन्निसाक्षिकपाणिग्रहणं । (गो०)—हट्टे पिढ़े वे स्त्रीकारः यद्वा सप्रदो बंधनादि । (रा०) २ स्थितानां—पतिव्रतानाम् स्त्रीणाम् । (रा०) ३ शीले—कुलोचितचरित्रे । (गो०) ४ श्रुते—गुरुजनकृतोपदेशे । (गो०) ५ शमे—शान्तौच (गो०) ६ विशिष्यते—उत्कृष्टोभवति । (गो०)

स त्वया नावमन्तव्यः पुत्रः प्रव्राजितो मम ।

तव दैवतमस्त्वेष निर्धनः सधनोऽपि वा ॥ २५ ॥

अतः तू मेरे पुत्र का जो बनवास करने के लिये डृष्ट है, अपमान मत करना । क्योंकि चाहे वह धनो है, चाहे निर्धन ; तेरे लिये तो वह देवता के समान ही पूज्य एवं मान्य है ॥ २५ ॥

विज्ञाय वचनं सीता तस्या धर्मार्थसंहितम् ।

कृताञ्जलिरुवाचेदं श्वश्रूमभिमुखे स्थिताम् ॥ २६ ॥

तब सीता जो सास के धर्म और अर्थ युक्त इन वचनों का अभिप्राय समझ, सास के सामने जा और हाथ जोड़ कर, यह बोली ॥ २६ ॥

करिष्ये सर्वमेवाहमार्या यदनुसासित माम् ।

अभिज्ञाऽस्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं<sup>१</sup> श्रुतं<sup>२</sup> च मे ॥ २७ ॥

हे आर्य ! आपने मुझे जैसी आङ्गा दी है, मैं तदनुसार ही करूँगी । खो को आपने पति की, जिस प्रकार सेवा करनी चाहिये वह मैं जानती हूँ । क्योंकि मैं माता पिता के मुख से यह सब सुन चुकी हूँ ॥ २७ ॥

न मायसज्जनेनार्या समानयितुर्मर्हति ।

धर्माद्विचलितुं नाहमलं चन्द्रादिव प्रभा ॥ २८ ॥

हे आर्य ! आप मुझे असती खियों के समान न समझें । मैं धर्म से कभी भी विचलित नहीं हो सकती ; जैसे चन्द्रमा की प्रभा चन्द्रमा से कभी भी विचलित नहीं होती ॥ २८ ॥

१ वर्तितव्यं—श्रुशूष्टव्यं । ( गो० ) २ श्रुतं—मातापितृभ्यां

इति शेषः । ( गो० )

नातन्त्री वाद्यते वीणा नाचक्रो वर्तते रथः ।

नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा ॥ २९ ॥

जिस प्रकार विना तार की वीणा नहीं बजती, विना पहिये का रथ नहीं चलता, उसी प्रकार खी सौ पुत्रवाली ही क्यों न हो, उसे विना पति के सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः ।

अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥ ३० ॥

क्या पिता, क्या माता और क्या पुत्र—ये सब तो थोड़े थोड़े सुख के देने वाले हैं । परन्तु पति, जो अमित सुख का देने वाला है, उसका ऐसी कौन ( अभागी ) खी होगी, जो आदार न करेगी । ( अर्थात् पति से इहलोक और परलोक में भी खी को अपरिमिति सुख मिलता है ) ॥ ३० ॥

साऽहमेवंगता श्रेष्ठा श्रुतधर्मपरावरा ।

आर्ये किमवमन्येऽहं स्त्रीणां भर्ता हि दैवतम् ॥ ३१ ॥

मैं पतिवत धर्म की सब वातें धर्म जानने वाले श्रेष्ठ लोगों से सुन कर जान चुकी हूँ । सो मैं, यह जान कर भी कि, खी के लिये उसका पति ही देवता है; मैं पति का अनादर क्यों करूँगी ( अर्थात् कभी न करूँगी ) ॥ ३१ ॥

सीताया वचनं श्रुत्वा कौसल्या हृदयङ्गमम् ।

शुद्धसत्त्वाः मुमोचाश्रु सहसा दुःखहर्षजम् ॥ ३२ ॥

१ हृदयङ्गमम्—मनोहरं । ( शि० ) २ शुद्धसत्त्वा—शुद्धचित्ता । ( शि० )

३ दुःखहर्षजम्—पुत्रादेवंनगमनेन दुःखं, सीतायावाक्यश्रवणेन च हर्षः । ( रा० )

मेलीभाली माता कौशल्या, जो श्रोरामचन्द्र के वनग्रन्थ से दुखी हो, औसु गिरा रही थी, सीता जा के ये मनोहरवचन सुन, सहसा प्रसन्न हो गयी ॥ ३२ ॥

**तां प्राञ्जलिरभिक्रम्य मातृमध्येऽतिसत्कृताम् ।**  
**रामः परमधर्मात्मा मातरं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥**

सब माताओं में अविक पूज्य कौशल्या की परिक्रमा कर, परम धर्मात्मा श्रोरामचन्द्र ने हाथ जोड़ कर, कहा ॥ ३३ ॥

**अम्ब मा दुःखिता भूस्त्वं पश्य त्वं पितरं मम ।**  
**क्षयो हि वनवासस्य<sup>१</sup> क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ ३४ ॥**

हे अम्मा ! (मेरे वन जाने के बाद) तुम दुःखी हो, मेरे दिता की ओर मत देखना ; क्योंकि वनवास की अवधि शीघ्र ही पूरी हो जायगी ॥ ३४ ॥

**सुप्तायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।**

**सा समग्रमिहै<sup>२</sup> प्रासं मां द्रक्ष्यसि सुहृदृष्टतम् ॥ ३५ ॥**

ये चौदह वर्ष तुझे पेसे कठ जायेंगे जैसे सोने में एक रात कठ जाती है । अथवा तुझे ये १४ वर्ष एक रात के समान जान पड़ेंगे । पिता की आङ्गा पालन कर, सुहृदों सहित तू मुझे यहाँ आया हुआ देखेंगी ॥ ३५ ॥

**एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जनर्णि वचः ।**

**त्रयः शतशतार्धश्च ददर्शविक्ष्यै<sup>३</sup> मातरः ॥ ३६ ॥**

१ वनवासस्य—वनवासकालस्य । (गो०) २ समग्र—समूर्ण मनोरूप अथवा निर्वित्तपितृवचनं । (गो०) ३ ददर्शविक्ष्य—वक्तव्यं आलोक्य । (गो०)

अपनो जननी कौशल्या से इस प्रकार कह, श्रीरामचन्द्र जी ने अपनी अन्य ३५० माताओं से कुछ कहने का विचार किया ॥ ३६ ॥

ताश्चापि स तथैवार्ता मातृदर्शरथात्मजः ।

धर्मयुक्तमिदं वाक्यं निजगाद् कृताञ्जलिः ॥ ३७ ॥

वे भी सब माताएँ, कौशल्या की तरह आर्त थीं, अर्थात् दुःख पा रही थीं, अतः श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर, उनसे यह धर्म-युक्त वचन कहे ॥ ३७ ॥

संवासात्परुषं किञ्चिदज्ञानाद्वापि यत्कृतम् ।

तन्मे समनुजानीत॑ सर्वाश्चामन्त्रयामि॒ वः ॥ ३८ ॥

एक साथ रहने के कारण जाने या अनजाने जो कुछ अपराध मुक्तसे बन पड़ा हो, उसको आप सब ज्ञाना करना । मैं आपसे यही मांगता हूँ ॥ ३८ ॥

वचनं राघवस्यैतद्धर्मयुक्तं समाहितम्३ ।

शुश्रुवुस्ताः स्त्रियः सर्वाः शोकोपहतचेतसः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र के मुख से ऐसे धर्मयुक्त और समीचीन अर्थयुक्त वचन सुन, सब रानियों शोक से विकल हो गयीं ॥ ३९ ॥

जद्गेऽथ तासां सन्नादः क्रौञ्चीनामिव निस्त्वनः ।

मानवेन्द्रस्य भार्याणामेवं वदति राघवे ॥ ४० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन कर, सब रानियों के लूटन का महानाद वैसा ही हुआ, जैसा कि, क्रौची नामक चिडियों के बोलने का होता है ॥ ४० ॥

१ समनुजानीत—क्षान्तमित्यनुज्ञाकुरु । ( गो० ) २ आमन्त्रयामि—आपृच्छामि । ( गो० ) ३ समाहितं—समीचीनार्थयुक्तं । ( गो० )

मुरजपणवमेघघोषव-

इशरथवेशम् वभूव यत्पुरा ।  
विलपितपरिदेवनाकुलं

व्यसनगतं तदभूत्सुदुःखितम् ॥ ४१ ॥

इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

हा ! महाराज के जिस भवन में पहले मृदङ्ग ढोल के मेघ-  
गर्जनवत् शब्द हुआ करते थे, वही भवन आज रानियों के करुण-  
पूर्ण आर्तनाद और परिताप के अत्यन्त दुःख से भर गया ॥ ४१ ॥

अथेाध्याकाशद का उनतालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

चत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

अथ रामश्च सीता च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

उपसंगृह्य राजान् चक्रुदीनाः<sup>१</sup> प्रदक्षिणम् ॥ १ ॥

अनन्तर दीन दुःखी श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी और लक्ष्मण  
सहित महाराज दशरथ के चरणों को स्पर्श कर, प्रणाम किया और  
प्रदक्षिणा की ॥ १ ॥

तं चापि समनुज्ञाप्य धर्मज्ञः सीतया सह ।

राघवः शोकसम्मूढो जननीयभ्यवादयत् ॥ २ ॥

पिता जी से विदा माँग, सोता सहित धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ने  
शोक से विकल कौशल्या जी को प्रणाम किया ॥ २ ॥

<sup>१</sup> उपसंगृह्य—पादग्रहणपूर्वकंप्रणम्य । (गो०)

अन्वक्षं<sup>१</sup> लक्ष्मणो भ्रातुः कौशल्यामभ्यवादयत् ।

अथ मातुः सुमित्राया जग्राह चरणौ पुनः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रणाम कर चुकने पर लक्ष्मण जी ने कौशल्या को प्रणाम किया । तदनन्तर अपनी जननी सुमित्रा के चरण क्षुण ॥ ३ ॥

तं वन्दमानं लृदती माता सौमित्रिमब्रवीत् ।

हितकामा महावाहुं मूर्धन्युपाद्राय लक्ष्मणम् ॥ ४ ॥

रुक्षन करती हुई और लक्ष्मण का हित चाहने वाली माता सुमित्रा ने, महावाहु लक्ष्मण का सिर सूँघ कर उनसे कहा ॥ ४ ॥

सुष्टुस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।

रामे प्रमादं मा काषीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कौशल्या ने श्रीरामचन्द्र को लोकरक्षणार्थ उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मैंने श्रीरामचन्द्र में अनुराग रखने वाले और उनके साथ वन जाने के लिये तुम्हें जना है । अतः श्रीराम के वन जाने पर तुम वहाँ उनकी सेवा शुश्रूषा में असावधानी मत करना । ( अथवा ऐसा न करना कि, श्रीरामचन्द्र जी तो वन जाय और तुम बीच ही में रह जाओ—भूषण ) ॥ ५ ॥

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ ।

एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ववशगो भवेत् ॥ ६ ॥

हे अनघ ! चाहे यह दुःखी हों या सुखी हों, ( तुम जान रखो कि, यही ) तुम्हारी एक मात्र गति हैं अर्थात् तुम्हारे ये ही सर्वस्य

<sup>१</sup> अन्वक्षं—अनुपदं ( गो० )

हैं। लोक में सज्जनों का धर्म ही यह है कि, बड़ों के कहने में चलना ॥ ६ ॥

इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम् ।

दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु च ॥ ७ ॥

विशेष कर के इस वंश की तो पुरानी रीति यह है कि, दान देना, यज्ञ करना और संप्राप्ति में शरीर त्याग करना ॥ ७ ॥

लक्ष्मणं त्वेवमुक्त्वा सा संसिद्धं<sup>१</sup> प्रियराघवम् ।

सुमित्रा गच्छ गच्छेति पुनःपुनरुखाच तम् ॥ ८ ॥

सुमित्रा ने लक्ष्मण जी से इस प्रकार कहा और उनको वन जाने के लिये तत्पर देख और उनको श्रीरामचन्द्र जी का प्यारा जान, सुमित्रा जी उनसे बारंबार कहने लगीं ; बेटा ! देर मत करो, जबदी श्रीरामचन्द्र के साथ वन को जाओ ॥ ८ ॥

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।

अयोध्यामट्ठीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥ ९ ॥

हे वत्स ! (माता, पिता, घर द्वार और देश छूटने का सोच मत करना और वहाँ अपना मन प्रसन्न रखने के लिये) श्रीरामचन्द्र को महाराज दशरथ के समान, जानकी को मेरे समान और वन को अयोध्या के समान जानना ॥ ९ ॥

ततः सुमन्त्रः काकुत्स्थं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ।

विनीतो विनयज्ञश्च मातलिर्वासवं यथा ॥ १० ॥

<sup>१</sup> संसिद्धं—गमनोद्युक्तं । ( गो० )

तदनन्तर सुमंत्र हाथ जोड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी से उसी प्रकार बोले, जैसे मातलि इन्द्र से बोलता है ॥ १० ॥

रथमारोह भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।

क्षिप्रं त्वां प्रापयिष्यामि यत्र मां राम वक्ष्यसि ॥ ११ ॥

हे महायशस्वी राजपुत्र ! आप रथ पर सवार हों। आप जहाँ कहेंगे, वहाँ मैं आपको तुरन्त पहुँचा दूँगा ॥ ११ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यानि वने त्वया ।

तान्युपक्रमितव्यानि यानि देव्याऽसि चेदितः ॥ १२ ॥

आपको १४ वर्ष वन में वास करना है, मो कैकेयी की प्रेरणा के अनुसार आज ही से उसका आरम्भ कीजिये ॥ १२ ॥

तं रथं सूर्यसङ्काशं सीता हृष्टेन चेतसा ।

आरोह वरारोहा कृत्वा लङ्कारमात्मनः ॥ १३ ॥

तब सुन्दर मुख वाली जनकनन्दिनी प्रफुल्ल मन से ससुर के दिये हुए अत्रेक प्रकार के बल्लभरणों सहित, सब से प्रथम सूर्य से समान ( चमकीले ) रथ पर चढ़ी ॥ १३ ॥

अथो ज्वलनसङ्काशं चामीकरविभूषितम् ।

तमारुरुहतुस्तूर्णं भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण भी उस सुवर्णभूषित और आयुधों से सज्जित रथ पर सवार हुए ॥ १४ ॥

१ अलंकारकृत्वा—इवशुरदत्तवस्त्राभरणादिभिः इतिशेषः । ( गो० )

२ ज्वलनसङ्काशं—आयुधपूर्णत्वादितिभावः । ( गो० )

वनवासं हि संख्याय वासांस्याभरणानि च ।

भर्तारमनुगच्छन्त्यै सीतायै शवशुरो ददौ ॥ १५ ॥

सीता जो के सप्तुर महाराज दशरथ ने वनवास के दिनों को गिन, पति के साथ वन जाती हुई सीता को, जिस प्रकार गहने कपड़े दिये थे ॥ १५ ॥

तथैवायुधजालानि भ्रातृभ्यां कवचानि च ।

रथोपस्थे प्रतिन्यस्य सचर्म कठिनं च तत् ॥ १६ ॥

बैसे ही महाराज ने दोनों भाइयों के लिये बहुत से अख्य शख्स, कवच, उत्तम मज़बूत ढालें भी रथ पर रखवा दी थीं ॥ १६ ॥

सीतातृतीयानारूढान्दृष्टा<sup>१</sup> धृष्टमचोदयत् ।

सुमन्त्रः<sup>२</sup> सम्मतानश्वान्वायुवेगसमाञ्जवे ॥ १७ ॥

सुमन्त्र ने तीनों को रथ पर बैठे हुए देख, उन वायु तुल्य तेज़ चाल से चलने वाले अपने पसंद किये हुए घोड़ों को, सावधानी के साथ आगे बढ़ाया ॥ १७ ॥

प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय<sup>३</sup> राघवे ।

बभूव नगरे मूर्छा बलमूर्छा<sup>४</sup> जनस्य च ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बहुत दिनों के लिये दण्डकवन को प्रस्थान करते ही, केवल नगरवासी या बाल वृद्ध स्त्री पुरुष ही नहीं, किन्तु राजसैन्य के हाथी घोड़े तक अपने आपे में न रहे ॥ १८ ॥

१ दृष्टं—सधैर्यं । (गो०) २ सम्मतान्—श्रेष्ठान् । (गो०) ३ चिररात्राय—चिरकालं । (गो०) ४ बलमूर्छा—अद्वगजादिमोहः । (गो०)

तत्समाकुलं सम्भ्रान्तं मत्तसङ्कृपितद्विपम् ।  
हयशिञ्जितनिर्धेषं पुरमासीन्महास्वनम् ॥ १९ ॥

वहाँ जितने लोग थे, वे सब कुछ और कुछ हो, मतवालों की तरह हो गये। हाथी बिगड़ गये, घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्यापुरी में हलचल मच गयी ॥ १९ ॥

ततः सबालवृद्धा सा पुरी परमपीडिता ।  
राममेवाभिद्राव घर्मता सलिलं यथा ॥ २० ॥

अयोध्या के क्षण बालक और क्षण बूढ़े और क्षण युवक—सभी अत्यन्त विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे वैसे ही दौड़ने लगे, जैसे धाम से सताया हुआ जीव पानी की ओर दौड़ता है ॥ २० ॥

पाश्वर्तः पृष्ठतश्चापि लम्बमानास्तदुन्मुखाः ३ ।  
वाष्पपूर्णमुखाः सर्वे तमूचुर्भूशनिस्वनाः ॥ २१ ॥

कोई तो रथ की अगल बगल, और कोई रथ के पीछे, श्रीरामचन्द्र जो को देखने के लिये ऊपर का मुख उठाये चले जाते थे। सब के सब उस समय रो रहे थे और चिल्हा चिल्हा कर सुमन्त्र से कह रहे थे ॥ २१ ॥

संयच्छ वाजिनां रश्मीन्सूत याहि शनैः शनैः ।  
मुखं द्रक्ष्याम रामस्य दुर्दर्शं नो भविष्यति ॥ २२ ॥

१ समाकुलं—अन्तःकरणक्षेभयुक्तं । ( गो० ) २ उद्मुखा—रामस पह्यन्त । ( शि० )

हे सूत ! घोड़ों की रास कड़ी करो, रथ धीरे धीरे चलाओ ।  
श्रीरामचन्द्र जी का मुख हमें ज़रा देख लेने दो । क्योंकि हमारे  
लिये अब इनके मुख का दर्शन दुर्लभ हो जायगा ॥ २२ ॥

आयसं हृदयं नूनं राममातुरसंशयम् ।

यहेवगर्भप्रतिमे वनं याति न भिद्यते ॥ २३ ॥

अब हमको निश्चय हो गया कि, श्रीरामचन्द्र जी की माता का  
हृदय लोहे का है । क्योंकि देव समान इन श्रीरामचन्द्र को बन जाते  
देख, वह फट क्यों नहीं गया ॥ २३ ॥

कुतकुत्या हि वैदेही छायेवानुगता पतिम् ।

न जहाति रता धर्मे मेरुमर्कप्रभा यथा ॥ २४ ॥

धन्य है वैदेही, जो अपने पति के पीछे शरीर की छाया की  
तरह उसी प्रकार जा रही है और पातिव्रतधर्म में ढूढ़ है, जिस  
प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु पर्वत को नहीं छोड़ती ॥ २४ ॥

अहो लक्ष्मण सिद्धार्थः सततं प्रियवादिनम् ।

आतरं देवसङ्काशं यस्त्वं परिचरिष्यसि ॥ २५ ॥

अहो लक्ष्मण ! तुम भी कृतार्थ हुए, जो तुम सदैव प्रियवादी  
और देवतुल्य भाई की वन में सेवा करोगे ॥ २५ ॥

महत्येषा हि ते सिद्धिरेष चाभ्युदयो महान् ।

एष स्वर्गस्य मार्गश्च यदेनमनुगच्छसि ॥ २६ ॥

यही तुम्हारे लिये बड़ी सिद्धि है और यही तुम्हारे लिये महान्  
अभ्युदय है और यही तुम्हारे लिये स्वर्ग जाने का मार्ग है, जो  
तुम अपने भाई के अनुगामी हुए हो ॥ २६ ॥

एवं बदन्तस्ते सोहुं न शेकुर्बाष्पमागतम् ।

नरास्तमनुगच्छन्तः प्रियमिद्धवाकुनन्दनम् ॥ २७ ॥

प्यारे इद्धवाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी के पीछे जाते हुए और इस प्रकार कहते हुए लोग आँसुओं को न रोक सके अर्थात् रोने लगे ॥ २७ ॥

अथ राजा वृत्तः स्त्रीभिर्दीनाभिर्दीनचेतनः ।

निर्जगाम प्रियं पुत्रं द्रक्ष्यामीति ब्रुवन्यृहात् ॥ २८ ॥

उधर राजभवन में दीनदुखी महाराज दशरथ शोक से विकल रानियों सहित यह कहते हुए “मैं अपने प्यारे बेटे को देखूँगा” भवन से पैदल ही निकल पड़े ॥ २८ ॥

शुश्रुते चाग्रतः स्त्रीणां रुदन्तीनां महास्वनः ।

यथा नादः करेणूनां वद्धे महति कुञ्जरे ॥ २९ ॥

हाथी को ज़ंजीरों में बँधा देख, जिस प्रकार हथिनी चिंधाड़ मारती है, उसी तरह अति ज़ोर से बियों के रोने का शब्द महाराज दशरथ ने लुना ॥ २९ ॥

पिता हि राजा काकुत्स्थः श्रीमान्सन्नस्तदाऽभवत् ।

परिपूर्णः शशी काले ग्रहेणोपप्लुतो यथा ॥ ३० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पिता महाराज दशरथ हतश्री और हततेज वैसे ही हो गये, जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा राहु से ग्रसे जाने पर हततेज और हतश्री हो जाता है ॥ ३० ॥

स च श्रीमानचिन्त्यात्मा<sup>१</sup> रामो दशरथात्मजः ।

सूतं सञ्चोदयामास त्वरितं वाह्यतामिति ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी जिनको साधारण लोग नहीं पहचान सकते थे, सूत से बोले कि, रथ जल्दी जल्दी हाँकों ॥ ३१ ॥

रामो याहीति सूतं तं तिष्ठेति स जनस्तदा ।

उभयं नाशकत्सूतः कर्तुमध्वनि चोदितः ॥ ३२ ॥

इधर श्रीरामचन्द्र जी तो रथ शीघ्र हाँकने को कहते और उधर प्रजाजन कहते कि, रथ धीरे धीरे चलाओ । ऐसी दशा में सुमंत्र न तो रथ को तेज़ ही चला सके और न खड़ा हो कर सकते थे—बेचारे बड़े सङ्कट में थे ॥ ३२ ॥

निर्गच्छति महाबाहौ रामे पौरजनाश्रुभिः ।

पतितैरभ्युपहितं प्रशशाम महीरजः ॥ ३३ ॥

जिस समय महाबाहु श्रीरामचन्द्र जी बन जाने लगे, उस समय उनके रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल पुरवासियों की अश्रुधारा से ढां गयी ॥ ३३ ॥

रुदिताश्रुपरिवूनं हाहाकृतमचेतनम्<sup>२</sup> ।

प्रयाणे राघवस्यासीत्पुरं परमपीडितम् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रयाण के समय अयोध्यापुरी के रहने वाले हाहाकार कर रोते रोते किंकर्त्तव्यमूढ़ हो गये—लोगों को बड़ा ही दुःख हुआ ॥ ३४ ॥

१ अक्षिन्त्यात्मा—प्राकृतज्ञैरचिन्त्यस्तरूपः । ( वि० ) २ अचेत-  
नम्—मूढ़ । ( गो० )

सुस्नाव नयनैः खीणामास्यमायाससम्भवम् ।  
मीनसंक्षोभचलितैः सलिलं पङ्कजैरिव ॥ ३५ ॥

उस समय खियों के नेत्रों से ऐसी अश्रुधारा बह रही थी, जैसे मङ्गलियों के खलबला देने से कपल के पत्तों पर गिरा हुआ जल बहता है ॥ ३५ ॥

दृष्टा तु वृपतिः श्रीमानेकचित्तगतं<sup>१</sup> पुरम् ।  
निपपातैव दुःखेन हतमूल इव द्रुमः ॥ ३६ ॥

महाराज सारे नगरवासियों को दुखी देख, जड़ से कटे हुए पेड़ की तरह ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

ततो हलहलाशब्दो जग्ने रामस्य पृष्ठतः ।

नरणां प्रेक्ष्य राजानं सीदन्तं भृशदुखितम् ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जो के रथ के पीछे आ लोग थे, वे महाराज की यह महादुःखपूर्ण दशा देख, हाहाकार करने लगे ॥ ३७ ॥

हा रामेति जनाः केचिद्राममातेति चापरे ।

अन्तःपुरं समृद्धं च क्रोशन्तः पर्यदेवयन्<sup>२</sup> ॥ ३८ ॥

महाराज को तथा उनके रनवास की समस्त रानियों और नौकर चाकरों को दुखी देख, कोई कहता “हा राम !” और कोई कहता “हा कौशल्ये !”—सारांश यह कि, उस समय सब लोग रुदन कर रहे थे ॥ ३८ ॥

१ एकचित्तगतं—दुःखेनैकचित्ततांगतम् । ( रा० ) २ पर्यदेवयन्—अह-इन् । ( गो० )

अन्वीक्षमाणोऽ रामस्तु विषण्णं भ्रान्तचेतसम् ।  
राजानं मातरं चैव ददर्शानुगतौ पथि ॥ ३९ ॥

इस प्रकार लोगों का रोना और चिल्हाना सुन, जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने पीछे की ओर देखा कि, उनके पिता महाराज दशरथ और उनकी माता कौशलया पैदल ही उनके पीछे चली आ रही हैं और वे विषाद से ग्रसित हैं और भ्रान्तचित्त हैं ॥ ३९ ॥

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।  
धर्मपाशेन संक्षिप्तः<sup>१</sup> प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ॥ ४० ॥

बंधा हुआ धोड़ी का बच्चा जिस प्रकार अपनी माता को देख नहीं पाता, उसी प्रकार सत्य के पाश में बँधे होने के कारण श्रीरामचन्द्र जी ने ( माता पिता की यह दशा देख कर भी ) उधर से हष्टि फेर ली ॥ ४० ॥

पदातिनौ च यानार्हवदुःखार्हा सुखोचितौ ।  
दृष्टा सञ्जोदयामास शीघ्रं याहीति सारथिम् ॥ ४१ ॥

सदा सवारी में चलने वाले, जिन्होंने कभी सुख को क्लोड दुःख जाना ही नहीं, उनको पैदल चले आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से रथ शीघ्र हाँकने को कहा ॥ ४१ ॥

न हि तत्पुरुषव्याघ्रो दुःखदं दर्शनं पितुः ।  
मातुश्च सहितुं शक्तस्तेत्रार्दित इव द्विपः ॥ ४२ ॥

<sup>१</sup> अन्वीक्षमाणः—आक्रोशानुसारेणपश्चात्सामान्यतईक्षमाणः । ( गो० )

<sup>२</sup> संक्षिप्तः—बद्ध हृति यावत् । ( गो० )

श्रीरामचन्द्र जी अपने माता पिता की यह अवस्था न देख सके, उस समय उनकी वैसी ही दशा थी जैसी कि, किसी मतवाले हाथों की अंकुश लगने से होती है ॥ ४२ ॥

प्रत्यागारमिवायान्ती वत्सला वत्सकारणात् ।

बद्धवत्सा यथा धेनू राममाताऽभ्यधावत ॥ ४३ ॥

गोष्ठ में बँधे हुए बच्चे की सुध कर दिन भर बन में रही हुई गौ, जैसे शाम को गोठ की ओर दौड़ती है, वैसे ही कौशल्या जी भी दौड़ी ॥ ४३ ॥

तथा रुदन्तीं कौशल्यां रथं तमनुधावतीम् ।

क्रोशन्तीं राम रामेति हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ ४४ ॥

रुदन करती हुई कौशल्या रथ के पीछे दौड़ी चली जाती थीं और हा राम, हा सीता, हा लक्ष्मण कह कर चिल्हा रही थीं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणसीतार्थं स्नवन्तीं वारि नेत्रजम् ।

असकृतप्रैक्षत स तां नृत्यन्तीमिव<sup>१</sup> मातरम् ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने एक बार फिर कर देखा कि, उनकी माता राम, लक्ष्मण सीता के लिये रुदन करती एवं गिरती पड़ती चक्कर खाती चली आ रही हैं ॥ ४५ ॥

तिष्ठेति राजा चुक्रोश याहि याहीति राघवः ।

सुमन्त्रस्य बभूवात्मा चक्रयोरिव चान्तरा ॥ ४६ ॥

<sup>१</sup> नृत्यन्तीमिव — तद्वदितस्तः परिभ्रमन्तीमिव । (गो०) २ चक्रयोरिवचान्तरा — चक्रयोर्युत्सेनयोरन्तरास्थितः उदासीनः पुरुष इव सुमन्त्रस्यात्मामनःदेवालयितो बभूत् । (रा० तथा वि०)

इधर तो महाराज दशरथ सुमंत्र से कहते थे ठहरा ठहरा और उधर श्रीरामचन्द्र जी कहते थे शीघ्र चलो शीघ्र चलो । उस समय सुमंत्र उसी प्रकार घबड़ा उठे, जिस प्रकार युद्धार्थ खड़ी हुई सेनाओं के बीच खड़ा उदासीन मनुष्य घबड़ा उठता है । ( अर्थात् सुमंत्र पशोपेश में पड़े हुए थे कि, महाराज की आज्ञा का पालन करें कि, श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा का पालन करें ) ॥ ४६ ॥

**नाश्रौषमिति राजानमुपालब्धोऽपि वक्ष्यसि ।**

**चिरं<sup>१</sup> दुःखस्य ३पापिष्ठमिति रामस्तमब्रवीत् ॥ ४७ ॥**

श्रीरामचन्द्र जी ने सूत से कहा कि, तुम जब लौट कर महाराज के पास आओ, तब यदि महाराज तुमसे पूँछे कि, मेरी आज्ञा की अवहेला कर रथ क्यों नहीं ठहराया ; तब कह देना कि, ( रथ की गङ्गाहट और लोगों के रुदन के चोकार में ) मैंने श्रापकी वात सुनी नहीं । क्योंकि इस समय जो दुःख हो रहा है, वह यहाँ ठहर कर देर करने से और भी अधिक हो जायगा । अर्थात् यहाँ ठहरने से सिवाय दुःख और कष्ट बढ़ जाने के और कुछ भी लाभ नहीं है ॥ ४७ ॥

**रामस्य स वचः कुर्वन्ननुज्ञाप्य च तं जनम् ।**

**ब्रजतोऽपि३ हयाञ्शीघ्रं चोदयामास सारथिः ॥ ४८ ॥**

तब सुमंत्र ने श्रीरामचन्द्र जी का कहना माना और जो लोग रथ के पीछे आ रहे थे, उनसे जाने के लिये कहा, और तब चलते हुए घोड़ों को तेज़ दौड़ाया ॥ ४८ ॥

**न्यवर्तत जनो राजो रामं कृत्वा प्रदक्षिणम् ।**

**मनसाप्यश्रुवेगैश्च न न्यवर्तत मानुषम् ॥ ४९ ॥**

१ चिरं...इति—दुःखस्य इदानीमनुभूयमान-दुःखस्याचिरं विलम्बः ।  
(गो०) २ पापिष्ठं—अति दुःसहं । (गो०) ३ ब्रजतोऽपि—गच्छतोपि उनः । (रा०)

जिस समय रथ तेजी से चला, उस समय महाराज के कुटुम्ब के लोग श्रीरामचन्द्र जी की मन से परिक्रमा कर, शरीर से लौट आये, परन्तु मन से नहीं लौटे, किन्तु अन्य पुरचासी जन तो मन से भी न लौटे और इसी लिये उनका अश्रुवेग भी न थमा ॥ ४६ ॥

यमिच्छेत्पुनरायान्तं नैनं दूरमनुव्रजेत् ।

इत्यमात्या महाराजमूचुर्दशरथं वचः ॥ ५० ॥

मंत्रिवर्ग ने महाराज से कहा कि, जिसका शीघ्र पुनरागमन चाहे, उसको पहुँचाने के लिये दूर तक न जाना चाहिये ॥ ५० ॥

तेषां वचः सर्वगुणोपपन्नं

प्रस्तिन्नगात्रः प्रविष्टणरूपः ।

निशम्य राजा कृपणः सभार्यो

व्यवस्थितस्तं सुतमीक्षमाणः ॥ ५१ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

शास्त्र का ऐसा वचन सुन, महाराज दशरथ जी, ( रथ के पीछे दौड़ने के कारण ) जो पसीने से सरावोर और शोक से दीन हो रहे थे, रानियों सहित श्रीरामचन्द्र जी की ओर टकटकी लगाये वहीं खड़े हो गये। अर्थात् रथ के पीछे फिर न गये। ( धर्मशास्त्र की आव्वा अथवा मंत्रियों के युक्तियुक्त वचन के आगे पुत्रस्नेह दब गया) ॥ ५१ ॥

अयोध्याकाण्ड का चालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## एकचत्वारिंशः सर्गः

—०—

तस्मिस्तु पुरुषव्याघ्रे विनिर्याते कृताञ्जलौ ।

आर्तशब्दोऽथ संजडे स्त्रीणामन्तःपुरे महान् ॥ १ ॥

हाथ जाडे विदा होते हुए पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने पर, अन्तःपुर की स्त्रियों ने बड़ा हाहाकार मचाया ॥ १ ॥

अनाथस्य जनस्यास्य दुर्वलस्य तपस्त्विनः ।

ये गतिः शरणं चासीत्स नाथः कनु गच्छति ॥ २ ॥

वे विलाप कर के कहने लगीं -जो अनाथों, दुर्वलों और शोचनीय मनुष्यों के एकमात्र अवलंब और रक्षक हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ २ ॥

न क्रुद्ध्यत्यभिशसोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् ।

क्रुद्धान्प्रसादयन्सर्वान्समदुःख क्वचिदगतः ॥ ३ ॥

जो कठोर वचन कहने पर भी कभी क्रोध नहीं करते हैं और न किसी को कृपित करते हैं, प्रत्युत कृपित हुए जन को प्रसन्न करने वाले हैं तथा जो सब के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझने वाले हैं, वे श्रीरामचन्द्र कहाँ जाते हैं ॥ ३ ॥

कौशल्यायां महातेजा यथा मातरि वर्तते ।

तथा यो वर्ततेऽस्मासु महात्मा कनु गच्छति ॥ ४ ॥

जो महातेजस्वी अपनी जननी कौशल्या की तरह ही हम सब को माता मानते हैं, वे महात्मा अब कहाँ जा रहे हैं ॥ ४ ॥

कैकेया क्षिरयमनेन राजा सञ्चोदितो वनम् ।  
परित्राता जनस्यास्य जगतः कनु गच्छति ॥ ५ ॥

कैकेयी से सताये जा कर और महाराज द्वारा वनवास के लिये प्रेरित हो, इस जगत के समस्त जनों के रक्तक श्रीरामचन्द्र कहाँ चले जाते हैं ॥ ५ ॥

अहो निश्चेतनोऽ राजा जीवलोकस्य सम्प्रियम् ।  
धर्म्य सत्यत्रतं रामं वनवासे प्रवत्स्यति ॥ ६ ॥

हा ! महाराज की बुद्धि पर तो पत्थर पड़े हैं, जो धर्मात्मा सत्यवादी और जीवों के पूर्ण रीति से प्रीतिपात्र श्रीराम को वनवास दे रहे हैं ॥ ६ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः ।  
रुदुश्चैव दुःखार्ताः सस्वरं च विचुक्रुशुः ॥ ७ ॥

इस प्रकार वे सब रानियाँ बछड़ा रहित गौ की तरह शोकार्त्त हो, रोने लगीं और उच्चस्वर से विलाप करने लगीं ॥ ७ ॥

स तमन्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः ।  
पुत्रशोकाभिसन्तसः श्रुत्वा चासीत्सुदुःखितः ॥ ८ ॥

महाराज पुत्रवियोगजन्य शोक से तो पहिले ही दुःखी हो रहे थे, तिस पर रनवास के इस घोर आर्तनाद को सुन, वे अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ८ ॥

नाग्निहोत्राण्यहूयन्त नापचन्गृहमेधिनः ।  
अकुर्वन्न प्रजाः कार्यं सूर्यश्वान्तरधीयत ॥ ९ ॥

उस दिन न तो किसी ब्रह्मचारी ने अग्निहोत्र किया और न किसी गृहस्थ के घर चूल्हा ही जला अथवा न किसी ने रसाई बनाई। उस सारे दिन किसी ने कुछ काम न किया और दिन झूँब गया। अर्थात् वह समस्त दिन ज्ञागों का दुःख ही दुःख में बीता ॥ ६ ॥

**व्यस्तजन्कवलान्नागा गावो वत्सान्नपाययन् ।**

**पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ १० ॥**

(केवल मनुष्यों ही की यह दशा हुई हो से बात नहीं) हाथियों ने अपनी अपनी मूलें गिरा दीं, गौओं ने बछड़े बछियों को दूध न पिलाया। माताएँ अपने उत्थित पुत्रों को देख हर्षित नहीं होती थीं ॥ १० ॥

**त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च वृहस्पतिवुधावपि ।**

**दारुणाः सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः ॥ ११ ॥**

त्रिशङ्कु, मङ्गल, वृहस्पति, बुध, जनि और शुक्र आदि कुर ग्रह बक्की हो, चन्द्रमा के निकट जा, थर थर कौपने लगे ॥ ११ ॥

**नक्षत्राणि गतार्चीषि ग्रहाश्च गततेजसः ।**

**विशाखास्तु सधूमाश्च नभसि प्रचकाशिरे ॥ १२ ॥**

नक्षत्र प्रभाहीन और ग्रह तेजहीन हो गये। विशाखा नक्षत्र धुमैला पड़ गया था और आकाश में धुँधला सा चमक था ॥ १२ ॥

१ कालिकानिलवेगेन महोदधिरिवोत्थितः ।

रामे वनं प्रव्रजिते नगरं प्रचचालै तत् ॥ १३ ॥

तेज़ वायु के चलने से आकाश में मेघों के समूह उसी प्रकार एक के ऊपर एक उठते थे, जिस प्रकार समुद्र में लहरें उठा करते हैं । श्रीराम के बन जाने पर नगर में भूकम्प हुआ ॥ १३ ॥

दिशः पर्याकुलाः सर्वास्तिमिरेणेव संवृताः ।

न ग्रहो नापि नक्षत्रं प्रचकाशे न किञ्चन ॥ १४ ॥

दशों दिशाओं में अन्धकार ढा गया, जिससे आकाश में ग्रहों और नक्षत्रों का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ १४ ॥

अकस्मान्नागरः सर्वा जनो दैन्यमुपागमत् ।

आहारे वा विहारे वा न कश्चिदकरोन्मनः ॥ १५ ॥

अकस्मात् सारे नगरनिवासी उदास हो गये । उस दिन किसी ने भी न तो भोजन किये और न कोई किसी खेल कुद या मनो-रञ्जन के कार्य में समिपत्ति हुआ ॥ १५ ॥

शोकपर्यायसन्तसः सततं दीर्घमुच्छ्वसन् ।

अयोध्यायां जनः सर्वः शुशोच जगतीपतिम् ॥ १६ ॥

सब अयोध्यावासी शोकसन्तस हो बराबर आहें भर रहे थे और महाराज दशरथ पर कुद रहे थे ॥ १६ ॥

१ कालिका—मेघपंक्तिः अनिलवेगेन आकाशे उत्थितः उदधिरित दृश्यते । ( रा० ) २ नगरं प्रचचालेत्यनेन भूकम्पः । ( रा० )

बाषपपर्याकुलमुखो राजमार्गगतो जनः ।

न हृष्टो लक्ष्यते कश्चित्सर्वः शोकपरायणः ॥ १७ ॥

राह चलते मनुष्यों के भी नेत्र श्रांसुष्ठ्रों से भरे हुए थे, कहाँ प्रसन्नता का नाम तक न था, क्योंकि सब के सब पुरवासी शोक सन्तप्त हो रहे थे ॥ १७ ॥

न वाति पवनः शीतो न शशी सौम्यदर्शनः ।

न सूर्यस्तपते लोकं सर्वं पर्याकुलं जगत् ॥ १८ ॥

न तो शीतल हवा चलती थी न चन्द्रमा सुहावना ज्ञान पड़ता था और न सूर्य हो तपते थे । सारा जगत ही रामविद्योग में विकल हो रहा था ॥ १८ ॥

अनर्थिनः सुताः स्त्रीणां भर्तरो भ्रातरस्तथा ।

सर्वे सर्वं परित्यज्य राममेवान्वचिन्तयन् ॥ १९ ॥

न ता पुत्र को अपने माता पिता से, न पतियों को अपनी सहधर्मिणियों से और न भाई को अपने भाई से कुछ प्रयोजन रहा—सब ने सब को क्रोड़ सा दिया था । क्योंकि उस दिन सब लोग केवल श्रीरामचन्द्र की चिन्ता में ढूबे हुए थे ॥ १९ ॥

ये तु रामस्य सुहृदः सर्वे ते मूढचेतसः ।

शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं न जहुस्तदा ॥ २० ॥

जो श्रीरामचन्द्र के हितैषी मित्र थे उनको अपनी कुछ भी सुध बुध ही न थी । वे शोकभार से इतने दबे हुए थे कि, उनकी निद्रा तक जाती रही ॥ २० ॥

ततस्त्वयोध्या रहिता महात्मना  
पुरंदरेणेव मही सपर्वता ।  
चचाल घोरं भयशोकपीडिता  
सनागयोधाश्वगणा ननाद च ॥ २१ ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

इन्द्र से रहित पर्वतों सहित पृथिवी की जो दशा हीती है, वही दशा महात्मा श्रीरामचन्द्र जी रहित अयोध्या की हुई और वह घोर शोक से उत्सप्त हो कम्पित हो गई । वह पुरी हाथी, घोड़ों और बीरों के हाहाकार व आत्तनाद से पूर्ण हो गयी । ( इन्द्र से रहित का तात्पर्य यह है कि जैसे इन्द्र का कोप होने पर अनावृष्टि के कारण सारी पृथिवी और पहाड़ उत्सप्त हो उठते हैं और मनुष्य, पशु पक्षी सभी विकल हो उठते हैं, उसी प्रकार श्रीराम के अयोध्या कोड़ कर जले जाने पर अयोध्या की दशा हो गयी ) ॥ २१ ॥

अयोध्याकाण्ड का इकतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—\*—

### द्विचत्वारिंशः सर्गः

— : \* : —

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत ।  
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्सञ्जहारात्मचक्षुषी ॥ १ ॥

जब तक श्रीरामचन्द्र के रथ के पहियों से उड़ती हुई धूल दिखलाई देती रही, तब तक महाराज ने उस ओर से अपनी निगाह न फेरी अर्थात् उधर ही देखते रहे ॥ १ ॥

यावद्राजा प्रियं पुत्रं पश्यत्यन्तधार्मिकम् ।

तावद्वयवर्धते वास्य धरण्यां पुत्रदर्शने ॥ २ ॥

जब तक महाराज दशरथ को अपने अत्यन्त प्रिय और धार्मिक पुत्र श्रीरामचन्द्र जी दिखलाई पड़े, तब तक वे ज़मीन से बार बार उठ उठ कर उनको देखते रहे ॥ २ ॥

न पश्यति रजोऽप्यस्य यदा रामस्य भूमिपः ।

तदाऽर्जत्वं च विषण्णश्च पपात धरणीतले ॥ ३ ॥

किन्तु जब रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल भी अदृश्य हो गयी तब महाराज दशरथ आर्त और विषादपूर्ण हो, भूमि पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तस्य दक्षिणमन्वागात्कौसल्या बाहुमङ्गना ।

वामं चास्यान्वगात्पाश्वं कैकेयी भरतप्रिया ॥ ४ ॥

उस समय महाराज के दहिने हाथ को कौशल्या और बाये हाथ को भरतप्रिया कैकेयी पकड़ कर, उनको ले चलो ॥ ४ ॥

तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेनैः च ।

उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ ५ ॥

नीतिवान् धर्मतिमा और सदाचारी महाराज दशरथ कैकेयी को अपने पास देख कर विकल हो बोले ॥ ५ ॥

कैकेयि मा ममाङ्गानि स्प्राक्षीस्त्वं दुष्टचारिणी ।

न हि त्वां द्रष्टुमिच्छामि न भार्या न च वान्धवीैः ॥६॥

१ व्यवर्धत्व उत्थायोत्थायोलोकते । ( शि० ) २ विनयेन—सदा-चारेण । ३ नचवान्धवी—पतीत्व सम्बन्धेऽपिना । ( गो० )

रे दुष्टा कैकेयी ! हमारे शरीर को मत छू । हम तेरा मुँह देखना नहीं चाहते । तू न तो अब हमारी भार्या है और न हमारे साथ तेरा अब पत्नी का कोई नाता ही रहा है ॥ ६ ॥

ये च त्वामनुजीवन्ति नाहं तेषां न ते मम ।

केवलार्थपरां हि त्वां त्यक्तधर्मां त्यजाम्यहम् ॥ ७ ॥

अकेली तू ही नहीं, बल्कि तेरे नौकर चाकर भी हमारे नहीं हैं और हम भी उनके नहीं हैं । हम तो, स्वार्थतत्पर हो, पातिव्रतधर्म का त्याग करने वाली तुझको त्यागते हैं ॥ ७ ॥

अगृह्णां यच्च ते पाणिमण्डिं पर्यण्यं<sup>१</sup> च यत् ।

अनुजानामि<sup>२</sup> तत्सर्वमस्मिंल्लोके परत्र च ॥ ८ ॥

हमने अग्नि की परिक्रमा कर, जो तेरा हाथ पकड़ा था, उसका इहलौकिक और परलौकिक कर्मफल भी हम त्यागते हैं ॥ ८ ॥

[ १ इसलोक का फल—क्रीड़दि व्यवहार अब से तेरे साथ न करेंगे २ पारलौकिक कर्मफल—परलोकसिद्धि के लिये जो यज्ञानुष्ठानादिकर्म किये जाते हैं । ]

भरतश्चेत्प्रतीतः<sup>३</sup> स्याद्राज्यं प्राप्येदमव्ययम् ।

यन्मे स दद्यात्प्रीत्यर्थं मां मा तद्दत्तमागमत् ॥ ९ ॥

इस अद्वय राज्य को पा कर, यदि भरत प्रसन्न हो, तो उसका दिया तर्पण श्राद्धादि का जल और पिण्ड हमें न मिले ॥ ९ ॥

अथ रेणुसमुद्धस्तं तमुत्थाप्य नराधिपम् ।

न्यवर्तत तदा देवी कौसल्या शोककर्शिता ॥ १० ॥

<sup>१</sup> पर्यण्य—प्रदक्षिणमनयं । ( गो० ) <sup>२</sup> अनुजानामि—परि-  
त्यजामि । ( गो० ) <sup>३</sup> प्रतीतः—प्रमुदितहृति । ( गो० )

कौशल्या जी स्वयं शोक से पीड़ित थीं । वे धूलधूसरित महाराज को उठा कर, घर को किरीं ॥ १० ॥

हत्वेव ब्राह्मणं कामात्सपृष्ठाग्रिमिव पाणिना ।  
अन्वतप्यत धर्मात्मा पुत्रं सञ्चिन्त्य तापसम् ॥ ११ ॥

जानबूझ कर ब्रह्माहत्या करने से व जलते हुए अंगारे को हाथ से छूने से, जैसा सन्ताप होता है, वैसा ही सन्ताप, महाराज की मुनिभेषधारी पुत्र का स्मरण कर के हो रहा था ॥ ११ ॥

निवृत्त्यैव निवृत्त्यैव सीदतो रथवर्त्मसु ।  
राज्ञो नातिबभौ रूपं ग्रस्तस्यांशुमतो यथा ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ का, जो बार बार मुड़ मुड़ कर, रथ के मार्ग की देखते जाते थे, रूप राहुग्रस्त सूर्य की तरह अच्छा नहीं लगता था ॥ १२ ॥

विललाप च दुःखार्तः प्रियं पुत्रमनुस्मरन् ।  
नगरान्तमनुप्राप्तं बुद्धा पुत्रमथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महाराज ने अनुमान कर जब जाना कि, हमारे प्यारे राम अब नगर की सोमा के बाहिर निकल गये होंगे, तब वे अत्यन्त दुःखी हो और पुत्र का स्मरण कर विलाप करने लगे ॥ १३ ॥

वाहनानां<sup>१</sup> च मुख्यानां वहतां तं ममात्मजम् ।  
पदानि पथि दृश्यन्ते स महात्मा न दृश्यते ॥ १४ ॥

<sup>१</sup> वाहनानां—अव्वानांमध्ये मुख्यानां । ( शि० )

हमारे घोड़ों में से जो घोड़े, हमारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी के रथ में जुत कर गये हैं, उनके खुरों के निशान तो रास्ते में देख पड़ते हैं, किन्तु वह महात्मा नहीं द्विखलाई पड़ता ॥ १४ ॥

यः सुखेषुपधानेषु शेते चन्दनरूषितः ।

वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः ॥ १५ ॥

जो हमारे श्रेष्ठ पुत्र चन्दन से चर्चित हो, कोमल तकियों पर्वं गहों पर सुख से सोते थे और जिनके ऊपर सुन्दरी स्त्रियाँ चँवर डुलाया करतीं और पंखा झला करती थीं ; ॥ १५ ॥

स नूनं कचिदेवाद्य वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

काष्ठं वा यदि वाऽश्मानमुपधाय शयिष्यते ॥ १६ ॥

वे हमारे पुत्र, हाय ! आज किसी वृक्ष के नीचे लकड़ी या पत्थर का तकिया लगा कर सोवेंगे ॥ १६ ॥

उत्थास्यति च मेदिन्याः कृपणः पांसुगुणितः\* ।

विनिश्वसन्प्रसवणात्<sup>१</sup>करेणूनाम्<sup>२</sup>इवर्षभः ॥ १७ ॥

और प्रातःकाल वे भूमि से उदास मन और धूलधूसरित, उसासे लेते हुए, उसी प्रकार उठेंगे, जिस प्रकार झरने के पास से बैल उठता है ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति नूनं पुरुषा दीर्घबाहुं वनेचराः ।

राममुत्थाय गच्छन्तं लोकनाथमनाथवत् ॥ १८ ॥

१ प्रसवणात्—निर्झरात् । तत्समीपइत्यर्थः । (गो०) २ करेणूना-मृषभ । (शि०) \* पाठान्तरे—“कृणितः ।”

वन में रहने वाले लोग महाबाहु एवं लोकनाथ श्रीरामचन्द्र को अनाथ की तरह उठ कर जाते हुए देखेंगे ॥ १६ ॥

सा नूनं जनकस्येष्टा सुता सुखसदाचिता ।

कण्टकाक्रमणाक्रान्ता वनमय गमिष्यति ॥ १७ ॥

वह जनकदुलारी जो सदा निश्चय ही सुख भोगने योग्य है, वन में चलते समय अब उसके पैरों में काँटे चुभेंगे ॥ १८ ॥

अनभिज्ञा वनानां सा नूनं भयमुपैष्यति ।

श्वापदानर्दितं श्रुत्वा गम्भीरं रोमहर्षणम् ॥ २० ॥

व्याघ्रादि वन पशुओं की गम्भीर और रोमाञ्चकारी गर्जन सुन कर, वनवास के भयों से अनभिज्ञ सीता, अवश्य ही बहुत डरेगी ॥ २० ॥

सकामा भव कैकेयि विधवा राज्यमावस ।

न हि तं पुरुषव्याघ्रं विना जीवितुमुत्सहे ॥ २१ ॥

हे कैकेयी ! तेरी मनसा पूरी हुई । तू अब विधवा हो कर राज्य कर, क्योंकि हम तो उस पुरुषसिंह के विना जीवित नहीं रह सकते ॥ २१ ॥

इत्येवं विलपनराजा जनौघेनाभिसंवृतः ।

अपस्नातः इवारिष्टं प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार महाराज विलाप करते करते लोगों के साथ वैसे ही नगर में आये जैसे कोई मुरदनी में स्नान कर और दुःखित हो आता है ॥ २२ ॥

<sup>१</sup> अपस्नातः—मृतस्नातः । “अपस्नातो मृतस्नातः” । (अमरः) (गो०)

शून्यचत्वरवेशमान्तां संवृतापणदेवताम् ।

कान्तदुर्बलदुःखार्ता॑ नात्याकीर्णमहापथाम् ॥ २३ ॥

नगरी में देखा तो चबूतरे और घर सूने पड़े थे, बाज़ार तथा देवालय बंद थे । बड़ी बड़ी सड़कों पर थके, दुर्बल और पीड़ित मनुष्य ही देख पड़ते थे ॥ २३ ॥

तामवेक्ष्य पुरीं सर्वा॒ राममेवानुचिन्तयन् ।

विलपन्प्राविशद्राजा गृहं सूर्य इवाम्बुदम् ॥ २४ ॥

पुरी की दुर्दशा का इस प्रकार का दृश्य देखते हुए और श्रीराम का स्मरण कर के, विलाप करते हुए महाराज अपने भवन के भीतर उसी प्रकार गये, जिस प्रकार सूर्य मेघमण्डल में जाता है ॥ २४ ॥

महाहृदमिवाक्षोभ्यं सुपर्णेन हृतोरगम् ।

रामेण रहितं वेशम वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २५ ॥

जैसे गरुड जो द्वारा अपहृत सर्पों के अभाव में किसी बड़े तालाव के जल में खलबली नहीं होती—जल स्थिर हो जाता है, वैसे ही श्रीराम लक्ष्मण और सीता के वनवासी होने पर, राजभवन में स्तवधता त्राई हुई थी ॥ २५ ॥

अथ गदगदशब्दस्तु विलपन्मनुजाधिपः ।

उवाच मृदु मन्दार्थं वचनं दीनमस्वरम् ॥ २६ ॥

महाराज दशरथ ने भरे हुए कण्ठ से और अति तीण स्वर में, दीन भाव से, मृदु और अल्पार्थवाची ये वचन कहे ॥ २६ ॥

कौसल्याया गृहं शीघ्रं राममातुर्नयन्तु माम् ।

न ह्यन्यत्र ममाश्वासे हृदयस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

जिस घर में राममाता कौशल्या रहती हैं, हमें उस घर में शीघ्र पहुँचा दो । क्योंकि अन्यत्र कहीं भी हमारा हृदय शान्त नहीं होगा ॥ २७ ॥

इति ब्रुवन्तं राजानमनयन्द्वारदर्शिनः ।

कौसल्याया गृहं तत्र न्यवेश्यत विनीतवत्<sup>१</sup> ॥ २८ ॥

महाराज के यह कहने पर द्वारपालों ने उनको ले जा कर कौशल्या के घर में सेज पर लिटा दिया ॥ २८ ॥

ततस्तस्य प्रविष्टस्य कौसल्याया निवेशनम् ।

अधिरुद्धापि शयनं बभूव लुलितं<sup>२</sup> मनः ॥ २९ ॥

कौशल्या जी के घर में पहुँच ने और सेज पर लेटने पर भी, महाराज का मन चञ्चल ही बना रहा—(जैसा उन्होंने विचारा था सो बात न हुई अर्थात् हृदय शान्त न हुआ ।) ॥ २९ ॥

पुत्रद्वयविहीनं च सुषयाऽपि विवर्जितम् ।

अपश्यद्वनं राजा नष्टचन्द्रमिवाम्बरम् ॥ ३० ॥

श्रीराम-लक्ष्मण-विहीन और सीता जी रहित वह भवन, महाराज दशरथ को चन्द्रमाहीन आकाश की तरह बोध होने लगा ॥ ३० ॥

<sup>१</sup> विनीतवत्—पर्यहेन्यवेश्यत । (रा०) <sup>२</sup> लुलितं—कलुषं ।  
(रा०)—चञ्चलं । (शि०)

तच्च दृष्ट्वा महाराजो भुजमुद्यम्य वीर्यवान् ।

उच्चैः स्वरेण चुक्रोश हा राघव जहासि माम् ॥ ३१ ॥

उस समय अपने भवन को शोभारहित देख, पराक्रमी महाराज दशरथ दोनों हाथ ऊपर को उठा, दृष्ट्वास्वर से चिल्ला कर बोले—हे बेटा राम ! तुम हमको छोड़े जाते हो ॥ ३१ ॥

सुखिता वत तं कालं जीविष्यन्ति नरोत्तमाः ।

परिष्वजन्तो ये रामं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३२ ॥

वे श्रेष्ठजन सुखी होंगे, जो उस समय तक जीवित रह कर, बन से लौट कर आये हुए श्रीराम को देखेंगे और उन्हें हृदय से लगावेंगे ॥ ३२ ॥

अथ रात्र्यां प्रपन्नायां<sup>१</sup> कालरात्र्यामिवात्मनः ।

अर्धरात्रे दशरथः कौशल्यामिदमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

महाराज दशरथ के लिये कालरात्रि के समान रात्रि होने पर आधी रात के समय वे कौशल्या से कहने लगे ॥ ३३ ॥

रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निर्वर्तते ।

न त्वा पश्यामि कौशल्ये साधु मां पाणिना स्पृश ॥ ३४ ॥

हे कौशल्य ! हमें तू नहीं दिखलाई पड़ती । क्योंकि हमारी दृष्टि श्रीराम के पीछे चली गयी है, वह अभी तक नहीं लौटी है । अतएव तू हमारा शरीर अपने हाथ से छू ॥ ३४ ॥

तं राममेवानुविचिन्तयन्तं

समीक्ष्य देवी शयने नरेन्द्रम् ।

<sup>१</sup> प्रपन्नायां—प्रापन्नायां । ( गो० )

## उपोपविश्याधिकमार्तरूपा

विनिश्वसन्ती विललाप कुच्छुम् ॥ ३५ ॥

इनि द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

महाराज के इस प्रकार कहने पर, महारानी कौशल्या महाराज को श्रीराम के स्मरण में निमग्न देख, उनकी सेज के समीप बैठ गयीं और अत्यन्त दृढ़खी हो, ऊँची सासे ले, वे महाविलाप करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का व्यालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

## त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—:o:—

ततः समीक्ष्य शयने सन्न शोकेन पार्थिवम् ।

कौसल्या पुत्रशोकार्ता तमुवाच महीपतिम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पुत्र के वियोगजन्य शोक से विकल्प महारानी कौशल्या, सेज पर पड़े हुए और शोक से विहळ ल महाराज दशरथ जी को देख, उनसे कहने लगीं ॥ १ ॥

राघवे नरशार्दूले विषमुप्त्वा हिजिह्वगा<sup>१</sup>\* ।

विचरिष्यति कैकेयी निर्मुक्तेव<sup>२</sup> हि पन्नगी ॥ २ ॥

हे राजन् ! कुटिल चरित्रा कैकेयी श्रीरामचन्द्र जी के प्रति विष उगल, कैचुली छोड़ी हुए साँपिन की तरह विचरेगी ॥ २ ॥

<sup>१</sup> अविजिह्वगा—कुटिलचरित्रा । ( रा० ) <sup>२</sup> निर्मुक्ता—त्यक्तकञ्चुकी ।

( रा० ) \* पाठान्तरे—“ विजिह्वताम् । ”

विवास्य रामं सुभगा लब्धकामा समाहिता ।  
त्रासयिष्यति मां भूयो दुष्टाहिरिव वेशमनि ॥ ३ ॥

और श्रीरामचन्द्र को वन भेज और अपना मन चीता पा कर, दत्तचित्त हो, वह दुष्ट साँपिन की तरह घर में मुझे त्रास देगा ॥ ३ ॥

अथ स्म नगरे रामश्वरन्भैक्षं गृहे वसेत् ।  
कामकारो<sup>१</sup> वरं दातुमपि दासं ममात्मजम् ॥ ४ ॥

यदि वह ऐसा वर माँगती कि, श्रीरामचन्द्र नगर में रह कर भिजा माँग कर अपना निर्वाह करें और घर में बने रहें अथवा कैकेयो उन्हें अपना दास ही बना लेती, तो भी इस बनवास से अच्छा था ॥ ४ ॥

पातयित्वा तु कैकेय्या रामं स्थानाद्यथेष्टतः ।  
प्रदिष्टो रक्षसां भागः पर्वणीवाहिताग्निना ॥ ५ ॥

अग्निहोत्र करने वाले, जिस प्रकार पर्वकाल में, राक्षसों का भाग निकाल कर, फौंक देते हैं, वैसे ही कैकेयी ने अपनी इच्छा-नुसार श्रीरामचन्द्र को यहाँ से निकलवाया ॥ ५ ॥

[ नोट—इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि, राक्षसों को जो यज्ञभाग दिया जाता है, उसे राक्षस खा डालते हैं, श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने से वहाँ राक्षस उनको खा डालेंगे अब फिर उनका मुख देखना नसीब न होगा । (गो०) ]

गजराजगतिर्वरीरो महावाहुर्धनुर्धरः ।  
वनमाविशते नूनं सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ६ ॥

अब तो गजेन्द्र के समान गमन करने वाले वीर, महाबाहु  
और धनुर्धर श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ वन में पहुँच  
गये होंगे ॥ ६ ॥

वने त्वद्विष्टुःखानां कैकेय्यानुमते त्वया ।  
त्यक्तानां वनवासाय का नवस्था भविष्यति ॥ ७ ॥

देखो, जिन्होंने कभी दुःख देखा सुना ही नहीं, उनको तुमने  
कैकेयी की बातों में आ, वन में भेज दिया । ज़रा विचारों तो उनकी  
अब क्या दशा होगी ॥ ७ ॥

ते रवहीनास्तरुणाः फलकाले विवासिताः ।  
कथं वत्स्यन्ति कृपणाः फलमूलैः कृताशनाः ॥ ८ ॥

उनके पास कोई श्रेष्ठ वस्तु नहीं है । यह तरुण अवस्था  
उनकी राजसुख भोगने की थी ; किन्तु ऐसे समय वे वन में भेज  
दिये गये हैं । मेरी समझ में नहीं आता कि, वे बेचारे कन्दमूल  
फलादि खा कर वन में कैसे निर्वाह कर सकेंगे ॥ ८ ॥

अपीदानीं स कालः स्यान्मम शोकक्षयः शिवः ।  
सभार्य यत्सह भ्रात्रा पश्येयमिह राघवम् ॥ ९ ॥

क्या मेरे भाष्य में कभी ऐसी भी कोई शुभ घड़ी देखना लिखा  
है, जब मैं लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यहाँ आया  
हुआ देखूँ और मेरे इस शोक का अन्त हो ॥ ९ ॥

सुप्त्वैवोपस्थितौ वीरौ कदाऽयोध्यां गमिष्यतः ।  
यशस्विनी हृष्टजना सूच्छूतध्वजमालिनी ॥ १० ॥

अहो वह शुभ घड़ी कव आवेगी जब यह प्रसिद्ध अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र का पुरी के समीप आना सुन और हर्षित जनों से युक्त हो, बड़ी बड़ी धज्जा पताकाओं और मालाओं से सजायी जायगी ॥ २० ॥

कदा प्रेक्ष्य नरव्याघावरण्यात्पुनरागतौ ।

नन्दिष्यति पुरी हृष्टा समुद्र इव पर्वणि ॥ ११ ॥

अहो वह शुभ घड़ी कव देखने को मिलेगी, जब उन दोनों नर-श्रेष्ठों का प्रत्यागमन सुन, यह नगरी उसी प्रकार हर्षित होगी, जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र हर्षित होता है ॥ ११ ॥

कदाऽयोध्यां महावाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।

पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ॥ १२ ॥

जिस प्रकार वृषभ गोधूलि के समय गौ को आगे कर बस्ती में आता है, उसी प्रकार महावाहु एवं वीर श्रीरामचन्द्र जी सीता को रथ में आगे बैठा, कव अयोध्यापुरी में प्रवेश करेंगे ॥ १२ ॥

कदा प्राणिसहस्राणि राजमार्गे ममात्मजौ ।

लाजैरवकिरिष्यन्ति प्रविशन्तावरिन्द्रमौ ॥ १३ ॥

किस दिन शत्रुओं का नाश करने वाले श्रीरामलक्ष्मण को नगर में प्रवेश करते देख, सङ्को पर खड़े सहस्रों जन, उन पर खीलों ( लावा ) की वर्षा करेंगे ॥ १३ ॥

प्रविशन्तौ कदाऽयोध्यां द्रक्ष्यामि शुभकुण्डलौ ।

उद्ग्रायुधनिष्ठिशौ सशृङ्गाविव पर्वतौ ॥ १४ ॥

१ उद्ग्रायुधनिष्ठिशौ—आयुधशब्देन नात्र धनुरुच्यते । निष्ठिंशः खड़ः । “ खड़गेतु निष्ठिंशः ” इत्यमरः । ( गो० )

वह शुभ दिन कब आवेगा, जब मैं देखूँगी कि, मेरे दो पुत्ररत्न कानों में कुण्डल पहिने हुए और शृङ्खल्युक पर्वतों के तुल्य खड़ादि शख्तों को लिये हुए अयोध्या में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १४ ॥

कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च ।

प्रदिशन्त्यः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम् ॥ १५ ॥

किस दिन जानकी सहित दोनों राजकुमार कन्याओं और ब्राह्मणों के दिये हुए फूल फलों को ग्रहण कर और प्रसन्न होते हुए, पुरी की प्रदक्षिणा करेंगे ? ॥ १५ ॥

[ नोट—यह उस समय का उत्तरभारतवासियों में प्रचलित मङ्गलाचार का एक विधान है । ]

कदा परिणतो बुद्ध्या<sup>१</sup> वयसा<sup>२</sup> चामरप्रभः ।

अभ्युपैष्यति धर्मज्ञस्त्रिवर्ष इव लालयन् ॥ १६ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ज्ञानबृद्ध और तरुण ( २५ वर्ष के ) होने पर भी, तीन वर्ष के बालक की तरह खेलते हुए मेरे पास कब आवेगे ॥ १६ ॥

निःसंशयं मया मन्ये पुरा वीर कदर्यया<sup>३</sup> ।

पातुकामेषु<sup>४</sup> वत्सेषु मातृणां शातिताः<sup>५</sup> स्तनाः ॥ १७ ॥

१ बुद्ध्यापरिणतः—ज्ञानबृद्धः । ( गो० ) २ वयसा—चामरप्रभः पञ्चविंशतिवर्षहृत्यर्थः । अमराहिसदापञ्चविंशति वर्षाः । ( गो० ) ३ कदर्यया—क्षुद्रद्या । ( गो० ) ४ पातुकामेषु—स्तन्यपानकामेषु । ( गो० ) ५ शातिताः—कृत्ताः । ( रा० )

मुझे निश्चय बोध होता है कि, मैंने किसी पूर्वजन्म में नीचता वश, बच्चों के दूध पीने के समय, उनकी माताओं के स्तन काट डाले थे ॥ १७ ॥

साहं गौरिव सिंहेन विवत्सा वत्सला कृता ।

कैकेया पुरुषव्याघ्र बालवत्सेव गौर्वलात् ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! इसीसे तो कैकेयी ने मुझे पुत्रवत्सला को उसी प्रकार विना पुत्र का बना दिया, जिस प्रकार सिंह, छोटे बच्चे बाली गौ के बच्चे को बरजारी ले जा कर, गौ को बेबच्चेबाली कर देता है ॥ १९ ॥

न हि तावद्गुणैर्जुष्टं सर्वशास्त्रविशारदम् ।

एकपुत्रा विना पुत्रमहं जीवितुमुत्सहे ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र मेरा एकमात्र पुत्र है । परन्तु वह एकमात्र पुत्र सर्वशास्त्रविशारद है और जितने अच्छे गुण हैं, वे सब उसमें हैं । अतः ऐसे पुत्र के विना मैं जीती नहीं रह सकती ॥ २१ ॥

न हि मे जीविते किञ्चित्सामर्थ्यमिह कल्पयते<sup>१</sup> ।

अपश्यन्त्याः प्रियं पुत्रं महाबाहुं महावलम् ॥ २० ॥

महाबाहु और महावली अपने प्यारे पुत्र को देखे विना, मुझे में जीवित रहने की सामर्थ्य नहीं है ॥ २० ॥

अयं हि मां दीपयते<sup>२</sup> समुत्थितः

तनूजशोकप्रभवो हुताशनः ।

<sup>१</sup> कल्पयतेैवेनेतिशेषः । (गो०) २ दीपयते—उभ्यापयिति । (गो०)

महीमिमां रश्मिभिरुद्धतप्रभोः

यथा निदाघे भगवान्दिवाकरः ॥ २१ ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्गः ॥

पुत्र-वियोग-जन्य-शोक-रूपी आग, मुझे उसी प्रकार सन्तप्त कर रही है, जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में भगवान् सूर्य की प्रब्रह्म किरणों इस पृथिवी को तप्त करती हैं ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का तैतालोसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—०—

चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—०—

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम् ।

इदं धर्मेऽस्थिता धर्म्यै सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

सब रानियों में श्रेष्ठ कौशल्या जी को इस प्रकार विलाप करते देख, धर्मशीला सुमित्रा जो धर्मयुक्त वचन बोली ॥ १ ॥

तवार्ये सद्गुणैर्युक्तः पुत्रः स पुरुषोत्तमः ।

किं ते विलपितेनैवं कृपणं रुदितेन वा ॥ २ ॥

आपका पुत्र तो गुणवान् और पुरुषश्रेष्ठ है । अतः उसके लिये तुम दीन हो कर, क्यों इतना विलाप और रुदन करती हो ॥ २ ॥

१ उद्धतप्रभः—उत्कटकिरणः । (गो०) २ धर्मेऽस्थिता—सुमित्रां । (शि०)

३ धर्म्यः—धर्मादनपेतम् । (शि०) \* पाठान्तरे—“धर्म्ये” ।

यस्तवार्ये गतः पुत्रस्त्यक्त्वा राज्यं महाबलः ।  
साधु<sup>१</sup> कुर्वन्महात्मानं पितरं सत्यवादिनम् ॥ ३ ॥

हे आर्य ! आपके पुत्र श्रीराम राज्य छोड़ कर, जो वन को गये हैं, सो केवल अपने महात्मा पिता के साधु सङ्कल्प को पूरा करने तथा उन्हें सत्यवादी सिद्ध करने के लिये गये हैं ॥ ३ ॥

शिष्टैराचरिते सम्यकशश्वत्प्रेत्यफलोदये<sup>२</sup> ।

रामो धर्मे स्थितः श्रेष्ठो न स शोच्यः कदाचन ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र ने पिता को आज्ञा शिरोधार्य कर, शिष्ट पुरुषोचित आचरण इसलिये किया है, जिससे महाराज का परलोक बने । अतएव धर्ममार्ग पर स्थित एवं श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र के वनगमन के लिये आप दुःखी न हो ॥ ४ ॥

वर्तते<sup>३</sup> चोत्तमां वृत्तिं लक्ष्मणोऽस्मिन्सदाऽनघः ।

दयावान्सर्वभूतेषु लाभस्तस्य<sup>४</sup> महात्मनः ॥ ५ ॥

सब प्राणियों पर दया रखने वाले लक्ष्मण के लिये भी आप दुःखी न हों—अर्थोंकि वह तो पिता के समान अपने बड़े भाई की सेवा शुश्रूषा करने के लिये श्रीरामचन्द्र के साथ गया है । इससे तो उस महात्मा ( लक्ष्मण ) का सब प्रकार लाभ ही है ॥ ५ ॥

अरण्यवासे यहुःखं जानती वै सुखोचिता ।

अनुगच्छति वैदेही धर्मात्मानं तवात्मजम् ॥ ६ ॥

१ साधु—सिद्धसङ्कल्पकुर्वन्मातः । ( रा० ) २ प्रेत्यफलोदये—दशरथस्य परलोकहिते । ( गो० ) ३ उत्तमांवृत्तिं—पितृतुत्य शुश्रूषाव्यापारं वर्तयते । ( रा० ) ४ लाभः—सुखमेव । ( रा० ) ५ तस्य—लक्ष्मणस्य । ( गो० )

( अकेला लहमण ही श्रीरामचन्द्र के साथ वन गया हो, सो बात भी नहीं है, प्रत्युत ) सुकुमारी जानकी भी वन के कष्टों को जान जान कर भी आपके धर्मात्मा पुत्र की अनुगामिनी बनी है ॥ ६ ॥

कीर्तिभूतां पताकां यो लोके भ्रमयति प्रभुः ।  
धर्मसत्यव्रतधनः किं न प्राप्सस्तवात्मजः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों का पालन करने वाले आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र, जिनकी यशपताका तीनों लोकों में फहरा रही है, ( इसलिये कि उन्होंने पिता की आङ्गा का पालन करने के सामने राज्य को तृणवत् त्याग दिया ) और धर्म का पालन और सत्यव्रत धारण ही जिनका धन है, उनका वनगमन सब प्रकार से कल्याणकारक ही है, ( अतः आप उनके लिये दुःखी न हो ) ॥ ७ ॥

[ वनगमन के बाद वन के कष्टों के सम्बन्ध में सुमित्रा जी कौशल्या को हस प्रकार सान्त्वना प्रदान करती हैं । ]

व्यक्तं रामस्य विज्ञाय शौचं<sup>२</sup> माहात्म्यमुत्तमम्<sup>३</sup> ।  
न गात्रमंशुभिः सूर्यः सन्तापयितुमर्हति ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की पवित्रता और उनकी श्रेष्ठता देख, भगवान् सूर्य अपनी किरणों से उनके शरीर को उत्स नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

शिवः सर्वेषु कालेषु काननेभ्यो विनिःसृतः ।  
राघवं युक्तशीतोष्णः सेविष्यति सुखोऽनिलः ॥ ९ ॥

१ प्रभुः—सर्वभूतपालकोदयया । ( रा० ) २ शौचं—त्रिविधकरण शुचित्वं । ( गो० ) ३ माहात्म्यं सर्वोत्तमत्वं । ( गो० )

वसन्तादि ऋतुओं में, ऋतु के अनुसार मङ्गलरूप वन का पवन, ठंडा और गर्म हो कर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करेगा। अर्थात् गर्मियों में ठंडी हवा और जाड़ों में गर्म हवा हो जायगी ॥१॥

शयानमनधं रात्रौ पितेवाभिपरिष्वजन् ।

रश्मिभिः संस्पृशञ्चीतैश्चन्द्रमा ह्लादयिष्यति ॥ १० ॥

पाप रहित श्रीरामचन्द्र जब रात में सोवेंगे, तब चन्द्रदेव पिता की तरह अपनी शीतल किरणों से उन्हें आलहादित करेंगे ॥ १० ॥

ददौ चाक्षाणि दिव्यानि यस्मै ब्रह्मा<sup>१</sup> महौजसे ।

दानवेन्द्रं हतं हृष्टा तिमिध्वजसुतं रणे ॥ ११ ॥

फिर जिन श्रीरामचन्द्र जी को ब्रह्मर्षि विश्वामित्र ने शंबर के पुत्र सुबाहु का रण में मारा जाना देख, अनेक दिव्यास्त्र दिये हैं\* ॥११॥

स शूरः पुरुषव्याघ्रः स्वबाहुबलमाश्रितः ।

असंत्रस्तोऽप्यरण्यस्थो वेश्मनीव निवत्स्यति ॥ १२ ॥

वे आपके शूर एवं पुरुषसिंह पुत्र अपने बाहुबल के सहारे भय रहित हो, वन में उसी प्रकार रहेंगे जिस प्रकार कोई अपने घर में निर्भय हो रहता हो ॥ १२ ॥

१ ब्रह्मा—ब्रह्मणो विश्वामित्रः ब्रह्मोव सृष्टिकर्त्तावा । ( रा० ) २ तिमि-  
ध्वजः शंबरः तत्सुतः सुबाहुः । ( रा० )

\* भूवर्णटीकाकार लिखते हैं कि, जान पड़ता है कि सी समय श्रीरामचन्द्र ने दण्डकवन में जा और वैजयन्तपुर को घेर महाराज दशरथ के शत्रु शंबर के पुत्र को मारा था। इस पर प्रसन्न हो ब्रह्मा जी ने श्रीरामचन्द्र जी को कुछ दिव्यास्त्र दिये थे। यदि यह बात ठीक है, तो श्लोक १२ के अर्थ में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र की जगह “ब्रह्मा” होगा।

यस्येषुपथमासाद्य विनाशं यान्ति शत्रवः ।

कथं न पृथिवी तस्य शासने स्थातुमर्हति ॥ १३ ॥

जिनके बाण के लह्य होने पर शत्रुओं का नाश हो जाता है,  
उनके शासन में यह पृथिवी क्यों न रहेगी ॥ १३ ॥

या श्रीः शौर्यं च रामस्य या च कल्याणसत्त्वता<sup>१</sup> ।

निवृत्तारण्यवासः स क्षिप्रं राज्यमवाप्स्यति ॥ १४ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र में श्री, शौर्य और प्रशस्त बल है, वे वनवास  
की अवधि को समाप्त कर, शीघ्र अपने राज्य को पावेंगे ॥ १४ ॥

सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः ।

श्रियः श्रीश भवेदग्न्या कीर्तिः कीर्त्याः क्षमाक्षमा ॥ १५ ॥

दैवतं दैवतानां च भूतानां भूतसत्तमः<sup>२</sup> ।

तस्य के ह्यगुणाः<sup>३</sup> देवि राष्ट्रे वाप्यथ वा पुरे ॥ १६ ॥

हे देवि ! जो सकल जगत को प्रकाशित करने वाले सूर्य को  
प्रकाशित करता है, जो अग्नि में दहनशक्ति उत्पन्न करता है, जो  
सब नियंत्र करने वालों का भी नियन्ता है, जो कान्ति की भी  
कान्ति है, जो कीर्ति की भी कीर्ति है, जो क्षमा की भी क्षमा है, जो  
दैवताओं का भी देव है और जो प्राणियों में सर्वोत्तम प्राणी है—वह  
चाहे वन में रहे अथवा नगर में, उसके लिये कहीं किसी प्रकार की  
प्रतिवन्धकता नहीं है ॥ १५ ॥ १६ ॥

१ कल्याणसत्त्वता—प्रशस्तवलयुक्तता । (गो०) २ भूतानांभूतसत्तमः—

सत्तम भूतमित्यर्थः । (गो०) ३ अगुणः—प्रतिवन्धकीभूत । (गो०)

पृथिव्या सह वैदेह्या श्रिया च पुरुषर्षभः ।

क्षिप्रं तिस्रभिरेताभिः सह रामोऽभिषेक्ष्यति ॥ १७ ॥

ऐसे पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र, पृथिवी, सीता और विजयलक्ष्मी इन तीनों सहित शीघ्र राज्य पावेंगे ॥ १७ ॥

दुःखजं विसृजन्त्यासां निष्क्रामन्तमुदीक्ष्य यम् ।

अयोध्यायां जनाः सर्वे शोकवेगसमाहताः ॥ १८ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र को अयोध्या से जाते हुए देख, अयोध्यावासी सब जनों ने शोक से चिह्नित आँख बहाये, ( वे श्रीरामचन्द्र शीघ्र ही अयोध्या के राजसिंहासन पर अभिषिक्त होंगे ॥ १८ ॥ )

कुशचीरधरं देवं गच्छन्तमपराजितम् ।

सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ १९ ॥

जो किसी से न जीते जाने योग्य हो कर भी, कुशचीरधारण कर वन को गये और जिनके पीछे पीछे साक्षात् लक्ष्मी रूपिणी सीता गयी—उनके लिये संसार में कौनसी वस्तु दुर्लभ है ॥ १९ ॥

धनुग्रहवरो यस्य वाणखड्डाख्यभृत्स्ययम् ।

लक्ष्मणो व्रजति ह्यग्रे तस्य किं नाम दुर्लभम् ॥ २० ॥

और जिसके आगे आगे धनुषवाण और खड्ड लिए हुए स्वयं लक्ष्मण चलते हैं, उनके लिये क्या दुर्लभ है ॥ २० ॥

निवृत्तवनवासं तं द्रष्टासि पुनरागतम् ।

जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते ॥ २१ ॥

हे देवि ! आप शोक और सोह को त्याग दें । मैं सत्य सत्य कहती हूँ कि, बनवास से जौटे हुए श्रीरामचन्द्र को आप फिर देखेंगी ॥ २१ ॥

शिरसा चरणावेतौ वन्दमानमनिन्दिते ।

पुनर्द्रक्ष्यसि कल्याणि पुत्रं चन्द्रमिवोदितम् ॥ २२ ॥

हे अनन्दिते ! हे कल्याणी ! आप अपने चरणों में माथा टेक कर प्रणाम करते हुए पुत्र को उदय हुए चन्द्रमा की तरह फिर देखेंगी ॥ २२ ॥

पुनः प्रविष्टं दृष्टा तमभिषिक्तं महाश्रियम् ।

समुत्स्नक्ष्यसि नेत्राभ्यां क्षिप्रमानन्दजं पयः ॥ २३ ॥

आप फिर अर्योध्या में आये हुए अभिषिक्त, और राज्यलक्ष्मी को प्राप्त अपने पुत्र को देख, शीघ्र ही आनन्दाश्रु बहावेंगी ॥ २३ ॥

मा शोकोऽ देवि दुखं<sup>१</sup> वा न रामे दृश्यतेऽशिवम् ।

क्षिप्रं द्रक्ष्यसि पुत्रं त्वं\* ससीतं सहलक्ष्मणम् ॥ २४ ॥

हे देवि ! आप न तो विलाप करें और न अपने मन ही को व्यथित करें । क्योंकि श्रीरामचन्द्र के विषय में कुछ भी तो श्रमङ्गल नहीं दीख पड़ता । आप अपने पुत्र को सीता और लक्ष्मण सहित शीघ्र देखेंगी ॥ २४ ॥

त्वयाशेषो जनश्चैव समाश्वासयो यदाऽनघे ।

किमिदानीमिमं देवि करोषि हृदि विळवम् ॥ २५ ॥

१ शोक—प्रलापादि । ( गो० ) २ दुखं—मनोव्यथा । ( गो० )

\* पाठान्तरे—“तं” ।

हे अनघे ! हे देवि ! आपको तो यह उचित है कि, अन्य लोगों को धीरज बँधाये, सो आप इस समय ( स्वयं ) क्यों ( अपने ही ) हृदय को पीड़ा दे रही हैं ॥ २५ ॥

नार्हा त्वं शोचितुं देवि यस्यास्ते राघवः सुतः ।

न हि रामात्परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ॥ २६ ॥

हे देवि ! आप शोक करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस लोक में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर सुमार्ग पर चलने वाला अर्थात् धर्म पालन करने वाला अन्य कोई भी नहीं है ॥ २६ ॥

अभिवादयमानं तं दृष्ट्वा ससुहृदं सुतम् ।

मुदाऽश्रु मोक्ष्यसे क्षिप्रं मेघलेखेव वार्षिकी ॥ २७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र वन से लौट सुहृदों सहित आपको प्रणाम करेंगे, तब उनको देख आप उसो प्रकार आनन्दाश्रु गिरावेंगे, जिस प्रकार मेघमाला जल बरसाती है ॥ २७ ॥

पुत्रस्ते वरदः क्षिप्रमयोध्या पुनरागतः ।

पाणिभ्यां मृदुपीनाभ्यां चरणौ पीडयिष्यति ॥ २८ ॥

अधिक तो मैं आपको क्या अब समझाऊँ ; इतना फिर भी कहतो हूँ कि, आपके पुत्र श्रीरामचन्द्र शोष अयोध्यापुरी में लौट कर, कोमल और मांसल हाथों से आपके चरण दवावेंगे ॥ २८ ॥

अभिवाद्य नमस्यन्तं शूरं ससुहृदं सुतम् ।

मुदाऽस्त्वैः \*प्रोक्ष्यसि\* पुनर्मेघराजिरिवाचलम् ॥ २९ ॥

? प्रोक्ष्यते — उक्षतेचते वर्तमान सामीप्येऽट् । ( स० ) \* पाठान्तरे — “प्रोक्षसि । ”

उस समय आप अपने पुत्र को मित्रों सहित प्रणाम करते देख, उसे अपने आनन्दश्रुओं से भिंगोवेंगी, जैसे मेघ अपने जल से पर्वतों को भिंगते हैं ॥ २६ ॥

**आश्वासयन्ती विविधैश्च वाक्यैः**

**वाक्योपचारे कुशलाऽनवद्या ।**

**रामस्य तां मातरमेवमुक्त्वा**

**देवी सुभित्रा विरराम रामा' ॥ ३० ॥**

इस प्रकार रमणीया सुभित्रा, जो निन्दा रहित और बातचीत करने में निपुण थीं, तरह तरह के वचनों से महारानी कौशल्या जी को समझा कर चुप हो गयीं ॥ ३० ॥

**निशम्य तल्लक्ष्मणमातृवाक्यं**

**रामस्य मातुर्नरदेवपत्न्याः ।**

**सद्यः शरीरे विननाश शोकः**

**शरदगतो मेघ इवाल्पतोयः ॥ ३१ ॥**

**इति चतुश्छत्वारिंशः सर्गः ॥**

महाराज की पटरानी और श्रीराम की जननी कौशल्या, लक्ष्मण जी की माता सुभित्रा की इन बातों को सुन कर, शान्त हुईं और उनके शरीर का शोक उसी प्रकार नष्टप्राय हो गया, जिस प्रकार शरदकालीन अल्प जल वाले मेघों का जल नष्टप्राय हो जाता है ॥ ३१ ॥

**अयोध्याकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।**



## पञ्चत्वारिंशः सर्गः

— : \* : —

अनुरक्ता महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।

अनुजग्मुः प्रयान्तं तं वनवासाय मानवाः ॥ १ ॥

वनवास के लिये जाते हुए महात्मा एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी के पीछे लगे हुए पुरवासी उनमें अनुरक्त हो गये ॥ १ ॥

निवर्तितेऽपि च बलात्सुहृद्गर्भं च राजनि ।

नैव ते संन्यवर्तन्त रामस्यानुगता रथम् ॥ २ ॥

यद्यपि महाराज दशरथ और उनके सुहृद्गर्भ, ( जिसको शीघ्र बुलाना हो उसके पीछे दूर तक न जाय—मंत्रियों के मुख से यह सुन कर ) लौट आये थे, तथापि जो पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी के रथ के पीछे पीछे जा रहे थे, वे नहीं लौटे ॥ २ ॥

अयोध्यानिलयानां हि पुरुषाणां महायशाः ।

बभूव गुण सम्पन्नः पूर्णचन्द्रः इव प्रियः ॥ ३ ॥

क्योंकि महायशस्वी अयोध्यावासी समस्त जनों को गुणवान श्रीरामचन्द्र पूर्णप्राप्ति के चन्द्रमा के समान प्यारे थे ॥ ३ ॥

स याच्यमानः काकुत्स्थः स्वाभिः प्रकृतिभिस्तदा ।

कुर्वाणः पितरं सत्यं वनमेवान्वपद्यत ॥ ४ ॥

वे सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से अयोध्या लौट चलने की बार बार प्रार्थना कर रहे थे, किन्तु श्रीरामचन्द्र जी अपने पिता का सत्यवादी सिद्ध करने के लिये वन ही की ओर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अवेक्षमाणः सस्नेहं चक्षुषा प्रपिबन्निव ।

उवाच रामः स्नेहेन ताः प्रभाः स्वाः प्रजा इव ॥ ५ ॥

वे लोग श्रीराम की ओर उसी प्रकार ( बड़ी उत्कण्ठा से ) देखते थे, जैसे प्यासा जल को देखता है । ( अपने में ऐसा अनुराग देख ) श्रीरामचन्द्र जी बड़े प्यार से उन लोगों से वैसे ही बोले जैसे पिता अपने पुत्रों से बोलता है ॥ ५ ॥

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।

मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा निवेश्यताम् ॥ ६ ॥

हे अथेऽध्यावासियो ! तुम लोगों की जैसी प्रीति मुझमें है और जैसा आदर तुम लोग मेरा करते हो, मेरी प्रसन्नता के लिये, इससे मी अधिक प्रीति और आदर तुम लोग भरत के प्रति प्रदर्शित करना ॥ ६ ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।

करिष्यति यथावद्वः प्रियाणि च हितानि च ॥ ७ ॥

कैकेयीनन्दन भरत जी चरित्रवान् हैं, वे अवश्य ही तुम्हारे लिये यथोचित हितकर और प्रिय कार्य करेंगे ॥ ७ ॥

ज्ञानवृद्धो वयोबालो मृदुर्बीर्यगुणान्वितः ।

अनुरूपः स वो भर्ता भविष्यति भयापहः ॥ ८ ॥

भरत जी अवस्था में छोटे होने पर भी बड़े ज्ञानवान हैं । वे बड़े कोमल चित्त के हैं, साथ ही बड़े पराक्रमी भी हैं । इनके अतिरिक्त उनमें वात्सव्यादि और भी अनेक सद्गुण हैं । वे सब प्रकार से योग्य हैं । उनके राजा होने पर तुम्हें किसी बात का खटका नहीं रहैगा ॥ ८ ॥

स हि राजगुणैर्युक्तो युवराजः समीक्षितः<sup>१</sup> ।

अपि चैव मया शिष्टैः<sup>२</sup> कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥९॥

उनको राज्ञाचित् गुणों से युक्त देख कर, महाराज ने उनको युवराज पद देना निश्चित किया है । अतः हम सब को राजा के आक्षानुसार चलना चाहिये ॥ ६ ॥

न च तप्येद्यथा चासौ वनवासं गते मयि ।

महाराजस्तथा कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥ १० ॥

मेरे वन जाने पर मेरी प्रसन्नता के लिये तुम लोगों को वह काम करना चाहिये, जिससे महाराज को कष्ट न हो अथवा यदि तुम मेरे प्रिय बनना चाहो, तो पेश करना जिससे मेरी अनुपस्थिति में महाराज को कष्ट न हो ॥ १० ॥

[ सो सब भाँति मोर दितकारी ।

जाते हैं भुवाल सुखारी ॥

तुलसीदास जो की यह चौपाई इसी श्लोक का भाव लेकर लिखा गयी है । ]

यथा यथा दाशरथिर्धर्मं एव स्थितोऽभवत् ।

तथा तथा प्रकृतयो रामं पतिमकामयन् ॥ ११ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र ज्यों ज्यों पितृ-वचन-पालन-रूपी धर्म में दृढ़ता प्रदर्शित करते थे, त्यों त्यों पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी ही को अपना राजा होने की इच्छा करते थे ॥ ११ ॥

वाष्पेण पिहितं दीनं रामः सौमित्रिणा सह ।

चकर्षेव गुणैर्बध्वा जनं पुरनिवासिनम् ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> समीक्षितः—निश्चितः । ( शि० ) <sup>२</sup> शिष्टैः—अवशिष्टैः लक्ष्मण शसुन्नादिभिः । ( गो० )

उस समय लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र जी ने रुदन करते हुए दुःखो पुरवासियों को पानों डोरी में बाँध, अपनी ओर खींच लिया अथवा अपने अधीन कर लिया ॥ १२ ॥

ते द्विजास्त्रिविधं वृद्धा ज्ञानेन वयसौजसा<sup>१</sup> ।

वयःप्रकम्पशिरसो दूरादूचुरिदं वचः ॥ १३ ॥

उन लोगों में तीन प्रकार के वृद्ध ब्राह्मण थे, अर्थात् उनमें से कोई तो वयोवृद्ध, कोई ज्ञानवृद्ध, और कोई तपोवृद्ध था । इनमें से जो वयोवृद्ध थे और वृद्धावस्था के कारण जिनका सिर कांप रहा था, वे दूर से यह वचन बोले ॥ १३ ॥

वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरङ्गमाः ।

निवर्त्तध्वं न गन्तव्यं हिता भवत भर्तरि ॥ १४ ॥

हे वेगवान् एवं अच्छ्री जाति के घोड़ो ! लौटो लौटो, अब आगे मत बढ़ो और श्रीरामचन्द्र का हित करो ( अर्थात् हम बूढ़ों की आज्ञा का उल्लङ्घन करने से श्रीरामचन्द्र जी का अहित होगा । ) ॥ १४ ॥

कर्णवन्ति हि भूतानि विशेषेण तुरङ्गमाः ।

यूयं तस्मान्निवर्त्तध्वं याचनां प्रतिवेदिताः ॥ १५ ॥

जीवधारी मात्र के कान होते हैं ( अर्थात् उनमें सुनने की शक्ति होती है ) किन्तु घोड़े सब से अधिक सुनते हैं, अतः तुम हमारी यह प्रार्थना सुनो और लौट आओ ॥ १५ ॥

धर्मतः स विशुद्धात्मा वीरः शुभदृढव्रतः ।

उपवास्तु वो भर्ता नापवास्तः पुराद्वनम् ॥ १६ ॥

१ ओजसा — तपोबलेन । ( गो० ) २ जात्या — उसमजातीयाः । ( गा० )

हम लोग जानते हैं कि, तुम्हारे स्वामी का मन सरल एवं कोमल है, वे बीर हैं और शुभ एवं दृढ़ व्रतधारी हैं। इसलिये इनको अयोध्या पहुँचाना चाहिये, न कि अयोध्या से वन को ले जाना चाहिये ॥ १६ ॥

एवमार्तप्रलापांस्तान्वद्धान्प्रलपतो द्विजान् ।

अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह ॥ १७ ॥

जब उन बूढ़े ब्राह्मणों के, जो बड़े कातर हो रहे थे, ऐसे वचन सुनें और उन्हें पीड़ित देखा, तब श्रीरामचन्द्र जी रथ खड़ा करवा कर, उससे झट उतर पड़े ॥ १७ ॥

पद्मयामेव जगामाथ ससीतः सहलक्ष्मणः ।

सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायणः ॥ १८ ॥

और सीता लक्ष्मण सहित पैदल वन की ओर चलने लगे और जब तक वे जब लोग समीप न पहुँच गये, तब तक ये तीनों धीरे धीरे चलते रहे ॥ १८ ॥

द्विजातींस्तु पदातींस्तान्नरामश्चारित्रवत्सलः ।

न शशाक ॑घृणाचक्षुः परिमोक्तुं रथेन सः ॥ १९ ॥

क्योंकि सदाचार युक्त एवं दयालु श्रीरामचन्द्र को उन पैदल चले आते हुए ब्राह्मणों को रथ से दूर रखना इष्ट न था ॥ १९ ॥

गच्छन्तमेव तं दृष्ट्वा रामं संभ्रान्तचेतसः ।

ऊचुः परमसन्तसा रामं वाक्यमिदं द्विजाः ॥ २० ॥

<sup>१</sup> घृणाचक्षुः—दयासूचक दृष्टिमान् । (रा०) दयाद्र्वचक्षुरित्यर्थः । (गो०)

जब ब्राह्मणों ने देखा कि, प्रार्थना करने पर भी श्रीरामचन्द्र नहीं लौटे और वन को चले ही जाते हैं, तब तो वे अत्यन्त विकल और शोकसन्तप्त हो श्रीरामचन्द्र से यह बोले ॥ २० ॥

**ब्रह्मण्यं कुत्सनमेतत्वां ब्रह्मण्यमनुगच्छति ।**

**द्विजस्कन्धाधिरूढाऽस्त्वामग्रयोऽप्यनुयान्त्यमी ॥ २१ ॥**

हे राम ! तुम ब्राह्मणों के हितकारी हो । इसीसे तुम्हारे पीछे यह अखिल ब्राह्मण समूह ही बँवल नहीं आ रहा, प्रत्युत उनके कंधों पर चढ़े हुए अग्निदेव भी तुम्हारे पीछे आ रहे हैं । ( अर्थात् ब्राह्मण लोग तुम्हारे साथ चलने का निश्चय कर, घर से अग्निहोत्र का सामान अरणि आदि ले कर चले हैं । “अग्निदेव” से अभिप्राय उन अरणि लकड़ियों से है जिनको आपस में घिसने से यज्ञाग्नि उत्पन्न होता है ) ॥ २१ ॥

**वाजपेयसमुत्थानिः छत्राण्येतानि पश्य नः ।**

**पृष्ठोऽनुप्रयातानि मेघानिव जलात्यये ॥ २२ ॥**

देखिये, वाजपेय यज्ञ करने से जो कङ्क्र प्राप्त हुए हैं, ( अर्थात् वाजपेय यज्ञ करने से जिन छत्रों को लगाने का हमको अधिकार प्राप्त हुआ है । ) और जो शरत्कालीन मेघ के समान हैं, वे सब भी आपके पीछे चले आ रहे हैं ॥ २२ ॥

**अनवासातपत्रस्य रश्मिसन्तापितस्य ते ।**

**एभिश्छायां करिष्यामः स्वैश्छत्रैर्वाजपेयिकैः ॥२३॥**

१ ब्रह्मण्य—ब्राह्मण समूहः । ( गो० ) २ ब्रह्मण्य—ब्रह्महितं । ( रा० )

३ द्विजस्कन्धाधिरूढाः—पात्रारणितद्वारेणतिशेषः । ( रा० ) ४ वाजपेय-समुत्थानि—वाजपेयानुष्ठानि संभूतानि । ( गो० )

वाजपेय यज्ञ से प्राप्त हुए इन क्रत्वों से हम लोग तुम्हारे ऊपर द्वाया करेंगे, जिससे क्रत्र रहित तुमको धाम से कष्ट न हो ॥ २३ ॥

या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी ।

त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी ॥ २४ ॥

हे वत्स ! हमारा मन अभी तक केवल वेद के स्वाध्याय ही की ओर लगा रहता था, किन्तु अब उस ओर न लग, आपकी वनयात्रा की ओर लगा हुआ है । ( श्रीरामचन्द्र जी से यह कह ब्राह्मण लोग उन पर बड़ा दबाव डालते हैं, अर्थात् तुम्हारे पीछे हमने स्वाध्याय त्याग दिया है ) । यदि तुम कहो कि तुम लोग घर का क्षमा प्रवन्ध कर आये हो और तुम्हारी खियाँ कैसे रहेंगी, तो ब्राह्मण इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं ) ॥ २४ ॥

हृदयेष्वेव तिष्ठुन्ति वेदा ये नः परे धनम् ।

वत्स्यन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २५ ॥

हमारा परम धन जो वेद है, वह तो हमारे हृदय में है ( अर्थात् हमारे पीछे चोरी होने का हमें भय नहीं है ) और हमारी खियाँ अपने अपने पातिव्रत्य से अपनी रक्षा करती हुई, घरों में रहेंगी ( अर्थात् घर की रक्षा खियाँ करती रहेंगी ) ॥ २५ ॥

न पुनर्निश्चयः कार्यस्त्वद्गतौ सुकृता मतिः ।

त्वयि धर्मव्यपेक्षे तु किं स्याद्धर्ममपेक्षितुम् ॥ २६ ॥

हमें अब और किसी बात का निश्चय नहीं करना ; क्योंकि हम तो तुम्हारे साथ बलना निश्चित कर चुके हैं । ( अर्थात् हम तो घर का सब प्रवन्ध कर, यह छढ़ निश्चय कर के चले हैं कि, हम तुम्हारे साथ रहेंगे ) किन्तु जब तुम हमारी आज्ञा का उलझन कर

धर्म की उपेक्षा करोगे, तब धर्ममार्ग पर चलना क्या कहलावेगा ? ( अर्थात् तुम्हारी देखादेखी और लोग भी ब्राह्मणों का कहना न मानेंगे और ब्राह्मणों का कथन न मानने से अधर्म होगा ) ॥ २६ ॥

**याचितो नो निवर्तस्व हंसशुक्लशिरोरुहैः<sup>१</sup> ।**

**शिरोभिर्निभृताचार महीपतनपांसुलैः<sup>२</sup> ॥ २७ ॥**

हे राम ! अब हम अधिक क्या कहै, हम हंस के समान सफेद बालों वाले ( अर्थात् अत्यन्त बूढ़े हो कर भी ) तुमको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं कि, तुम वन की न जाओ । ( ब्राह्मण हो कर क्षत्रिय राजकुमार को साष्टाङ्ग प्रणाम करना, केवल विशेष रूप से दबाव डालना मात्र है । किन्तु भूषणटीकाकार का मत है कि, ब्राह्मण दिव्य दृष्टि वाले थे, अतः श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार समझ कर नहीं, किन्तु उनको साक्षात् परमेश्वरावतार समझ कर उन लोगों ने प्रणाम किया था । रामाभिरामी टीकाकार का मत है कि— “राज्ञो विष्णवूंशत्वेन न तौ न दोष इत्याहुः । ” ) ॥ २७ ॥

**बहूनां वितता यज्ञा द्विजानां य इहागताः ।**

**तेषां समाप्तिरायत्ता तव वत्स निवर्तने ॥ २८ ॥**

इन ब्राह्मणों में ऐसे भी कई एक हैं जो आरम्भ किये हुए यज्ञों को अधूरा ढोड़ कर तुम्हारे साथ चले आये हैं, अतः हे वत्स ! उन यज्ञों को समाप्त तुम्हारे लौटने पर निर्भर करती है ( अर्थात् यदि न लौटे तो इन यज्ञों में विष्णु डालने का दोष तुम्हारे माथे पड़ेगा ) ॥ २८ ॥

१ हंसशुक्लशिरोरुहैः—पलितकेशैः । ( गो० ) २ महीपतनपांसुलैः—

कृतसाष्टाङ्गप्रणामैः । ( गो० )

'भक्तिमन्ति हि भूतानि जङ्गमाजङ्गमानि च ।  
याचमानेषु राम त्वं भक्तिं' भक्तेषु दर्शय ॥ २९ ॥

केवल हम लोग ही यह नहीं कहते कि, तुम लौट चलो, किन्तु पशु पक्षी वृक्ष आदि भी प्रार्थना कर रहे हैं, सो तुम इन भक्तों के प्रति तो स्नेह प्रदर्शित करो । अथवा अपने भक्तों के इस स्नेह को सफल करो ॥ २६ ॥

अनुगन्तुमशक्तास्त्वां मूलैरुद्धतवेगिनः ।  
उन्नता वायुवेगेन विक्रोशन्तीव पादपाः ॥ ३० ॥

ये बड़े ऊँचे ऊँचे पेड़ भी तुम्हारे साथ जाना चाहते हैं, किन्तु इनकी जड़े भूमि में गहरी गड़ी होने से साथ चलने में असमर्थ हो कर, वायु के वेग से हिलती हुई अपनी शाखाओं से, तुमको बन जाने का निषेध कर, ये चिल्हा रहे हैं ॥ ३० ॥

निश्चेष्टाहारसञ्चारा वृक्षैकस्थानविष्टिताः ।  
पक्षिणोऽपि प्रयाचन्ते सर्वभूतानुकम्पिनम् ॥ ३१ ॥

देखो, पक्षियों ने भी उड़ना और चुगना बंद कर दिया है । ये वृक्ष रूपी गृहों में बैठे हुए, तुमको प्राणिमात्र पर दया करने वाला जान, बन न जाने के लिये प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

एवं विक्रोशतां तेषां द्विजातीनां निवर्तने ।  
ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये चिल्हाते हुए उन ब्राह्मणों को चलते चलते तमसा नदी देख पड़ी, जो मानों मार्ग

रोक कर, श्रीरामचन्द्र जी से आगे जाने का निषेध कर रही थी ॥ ३२ ॥

ततः सुमन्त्रोऽपि रथाद्विमुच्य  
श्रान्तान्हयान्सम्परिवर्त्य शीघ्रम् ।  
पीतोदकांस्तोयपरिप्लुताङ्गा-  
नचारयद्वै तमसाविदूरे ॥ ३२ ॥  
इति पञ्चत्वारिंशः सर्गः ॥

तब सुमंत्र ने थके हुए घोड़ों को रथ से खोल दिया और उनकी थकावट मिटाने को उनको ज़मीन पर लुटाया । फिर वे उनको पानी पिला और स्नान करा के तमसा के तट के समीप चराने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैतालीसर्ग सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

### षट् चत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः ।  
सीतामुद्दीक्ष्य सौमित्रिमिदं बचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी रमणीय तमसा नदी के तट पर पहुँच, सीता की ओर देख लहमण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

इयमद्य निशा पूर्वा<sup>१</sup> सौमित्रे प्रस्थिताऽ\* बनम् ।  
बनवासस्य भद्रं ते स नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

<sup>१</sup> पूर्वा—प्रथमा । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“ प्रहिता ” ।

हे लक्ष्मण ! हम लोगों की वनयात्रा की आज यह पहली रात है । घबड़ाने की कोई बात नहीं ॥ २ ॥

पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।  
यथानिलयमायद्विर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥ ३ ॥

ये वन चारों ओर से शून्य और रोते हुए से देख पड़ते हैं, क्योंकि यहाँ के पशु और पक्षी बसेरा ले चुके हैं ॥ ३ ॥

अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।

सख्तिपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥ ४ ॥

आज मेरे पिता की राजधानी अद्योध्या नगरी के नरनारी हम लोगों के चले आने से निस्सन्देह बहुत दुःखी होते होंगे ॥ ४ ॥

अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।

त्वां च मां च नरव्याघ शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥ ५ ॥

क्योंकि हम लोगों में अनेक गुणों का देख, प्रजाजन, पुरुषसिंह महाराज को, तुम्हें, मुझे और भरत शत्रुघ्न को बहुत चाहते हैं ॥ ५ ॥

पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।

अपि वाऽन्धौ भवेतां तु रुदन्तौ तावभीक्षणशः ॥ ६ ॥

मुझको, ( अपने ) पिता और ( अपनी ) यशस्विनी माता की बड़ी चिन्ता है कि, कहीं वे हम लोगों के लिये रोते रोते अंधे न हो जाय ॥ ६ ॥

भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।

धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥ ७ ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत धर्मस्तमा हैं, वे अचश्य ही धर्म, अर्थ और काम युक वचनों से पिता माता की धीरज बँधावेंगे, ( तो भी मेरा मन विकल होता है ) ॥ ७ ॥

भरतस्यानृशंसत्वं विचिन्त्याहं पुनः पुनः ।

नानुशोचामि पितरं मातरं चापि लक्ष्मण ॥ ८ ॥

हे महाबाहु लक्ष्मण ! भरत के दयालु स्वभाव को जब मैं भली भाँति विचारता हूँ, तब मैं पिता और माता की ओर से निश्चिन्त हो जाता हूँ ॥ ८ ॥

त्वया कार्यं नरव्याघ्रं मामनुव्रजता कृतम् ।

अन्वेष्टव्या हि वैदेश्या रक्षणार्थं सहायता ॥ ९ ॥

हे पुष्पसिंह ! मेरे साथ आ कर तुमने बड़ा काम किया । क्योंकि यदि तुम साथ न होते तो सोता की रखवाली के लिये मुझे कोई दूसरा सहायक छढ़ना ही पड़ता ॥ ९ ॥

अद्विरेव तु सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।

एतद्वि रोचते महां वन्येऽपि विविधे सति ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यद्यपि वन में अनेक प्रकार के कन्दमूल फल मौजूद हैं, तथापि मेरी इच्छा है कि, आज की रात जल पी कर ही बिता दी जाय ॥ १० ॥

एवमुक्त्वा तु सौमित्रिं सुमन्त्रमपि राघवः ।

अप्रमत्तस्त्वमश्वेषु भव सौम्येत्युवाच ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार के वचन लक्ष्मण से कह कर, श्रीरामचन्द्र जी सुमंत्र से भी बोले—हे सौम्य ! धोड़ों को सावधानी से रखना ॥ ११ ॥

सोऽश्वान्सुमन्त्रः संयम्य सूर्येऽस्तं समुपागते ।

प्रभूतयवसान्कृत्वा बभूव प्रत्यनन्तरः ॥ १२ ॥

जब सूर्य अस्ताचलगामी हुए, तब सुमन्त्र ने घोड़ों को बांधा और उनके सामने बहुत सी धास डाल कर, उनके ऊपर दृष्टि रखी ॥ १२ ॥

उपास्य<sup>१</sup> तु शिवां सन्ध्यां द्वष्टा रात्रिमुपस्थिताम् ।

रामस्य शयनं चक्रे सूतः सौमित्रिणा सह ॥ १३ ॥

तदनन्तर सायंकालीन उपासना का समय उपस्थित होने पर, सूत सुमन्त्र ने वर्णोचित उपासना ( अर्थात् भगवन्नामोचारण पूर्वक नमस्कार किया ) की और रात्रि हुई देख, सुमन्त्र ने लक्ष्मण जी की सहायता से, श्रीरामचन्द्र जी के लिये सोने का प्रवंध किया ॥ १३ ॥

तां शश्यां तमसातीरे वीक्ष्य वृक्षदलैः कृताम् ।

रामः सौमित्रिणा सार्थं सभार्यः संविवेश ह ॥ १४ ॥

तमसा के तट पर वृक्षों के ( कोमल ) पत्तों से बनी हुई शैश्वा देख, श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण और सीता सहित उस पर लेट कर आराम किया ॥ १४ ॥

सभार्यं सम्पुर्सं तं भ्रातरं वीक्ष्य लक्ष्मणः ।

कथयामास सूताय रामस्य विविधानगुणान् ॥ १५ ॥

श्रीरामचन्द्र और सीता को निन्द्रित देख, लक्ष्मण जी ( उठ बैठे और ) सूत से श्रीरामचन्द्र जी के विविध गुणों का बखान करने लगे ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> उपासनं—नमस्कारः । सूतजातेरपिनमस्कारमात्रं सम्भवति । ( गो० )

जाग्रतो ह्येव तां रात्रिं सौमित्रेषु दितो रविः ।

सूतस्य तमसातीरे रामस्य ब्रुवतो गुणान् ॥ १६ ॥

लक्ष्मण जी ने सुमंत्र से श्रीरामचन्द्र जी के गुणों का बखान करने ही में सारी रात बिता दी और सूर्य उदय हुए ॥ १६ ॥

गोकुलाकुलतीरायास्तमसाया विदूरतः ।

अवसत्तत्र तां रात्रिं रामः प्रकृतिभिः सह ॥ १७ ॥

तमसा नदी के तट से कुक्र हो हट कर गौश्रों की हड्डी थी—  
वहीं साथ आये हुए लोगों सहित श्रीरामचन्द्र जी उस रात में  
रहे ॥ १७ ॥

उत्थाय तु महातेजाः प्रकृतीस्ता निशाम्य च ।

अब्रवीद्भ्रातरं रामो लक्ष्मणं पुण्यलक्षणम् ॥ १८ ॥

श्रीरामचन्द्र जो प्रातःकाल उठे और उन प्रजाजनों को सेते  
हुए देख, शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १८ ॥

अस्मद्वयपेक्षान्सौमित्रे निरपेक्षान्गृहेष्वपि ।

वृक्षमूलेषु संसुप्तान्पश्य लक्ष्मण साम्रतम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ये लोग अपने घर द्वारों को छोड़, हम लोगों को  
पछिया रहे हैं । देखो तो, वृक्षों के नीचे पढ़े कैसे सो रहे हैं ।  
( अर्थात् हमारे पीछे सब सुखों को तिलाञ्जलि दे, दुःख सह रहे हैं  
और आब तक उनको विश्वास है कि, हमें वे लौटा ले जायगे ) ॥ १९ ॥

यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्विवर्तने ।

अपि प्राणानसिष्यन्ति<sup>१</sup> न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥ २० ॥

<sup>१</sup> असिष्यन्ति—त्यक्ष्यन्ति । ( गो० )

इससे जान पड़ता है कि, ये लोग जो हम लोगों का लौटाने के लिये बड़ी चेष्टा कर रहे हैं, अपने प्राण गँवा देंगे, किन्तु अपना निश्चय ( हमें बनवास से लौटने का निश्चय ) न त्यागेंगे ॥ २० ॥

**यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघुः ।**

**रथमारुह्य गच्छाम पन्थानमकुतोभयम् ॥ २१ ॥**

अतः जब तक ये सब सो रहे हैं, तब तक हम सब रथ पर सवार हो, तुरन्त यहाँ से रवाना हो जाय । फिर कुछ भी भय नहीं है । ( क्योंकि तमसा के आगे कुछ दूर तक रास्ता भी नहीं है, सो ये लोग आवेंगे कैसे ) ॥ २१ ॥

**अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्षवाकुपुरवासिनः ।**

**स्वपेयुरनुरक्ता मां वृक्षमूलानि संश्रिताः ॥ २२ ॥**

हमारे चुपचाप चल देने से महाराज इद्वाकु की राजधानी में बसने वाले इन लोगों को, फिर हमारे साथ वृक्षों की जड़ों में न सोना पड़ेगा ॥ २२ ॥

[ नोट — नगरनिवासी और विशेष कर राजधानी जैसे बड़े नगरों के रहने वाले सुकुमार और भारामतलब होते हैं—अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन लोगों को यहाँ पर राजधानी के बसने वाले बतला कर, उनका वृक्षों के नीचे पड़ना ठीक नहीं समझा, ऐसा जान पड़ता है । ]

**पैरा ह्यात्मकृताहुःखाद्विप्रमोक्ष्या नृपात्मजैः ।**

**न तु\* खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥२३॥**

राजकुमारों का यह कर्तव्य है कि, पुरवासियों के कष्टों को दूर करें, न कि उनको भी ( कष्ट में ) अपना साथी बनावें ॥ २३ ॥

१ लघु—क्षिप्रं । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“ न ते ” ।

अब्रवीलक्ष्मणो रामं साक्षाद्वर्ममिव स्थितम् ।  
रोचते मे तथा प्राज्ञ क्षिप्रमास्त्वतामिति ॥ २४ ॥

ऐसे वचन सुन लक्ष्मण जी ने साक्षात् धर्म की मूर्ति श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, हे प्राज्ञ ! आपने जो कहा वह मुझे भी पसंद आया । अतः भट्टपट रथ पर सवार हो जाइये ॥ २४ ॥

अथ रामोऽब्रवीच्छ्रीमान्सुमन्त्रं युज्यतां रथः ।  
गमिष्यामि ततोऽरण्यं गच्छ शीघ्रमितः प्रभो ॥ २५ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा कि, हे प्रभो ! भट्टपट रथ तैयार कीजिये—मैं वन की ओर चलूँगा, सो यहाँ से अब शीघ्र चल दीजिये ॥ २५ ॥

सूतस्ततः सन्त्वरितः स्यन्दनं तैर्हयोत्तमैः ।  
योजयित्वाऽथ रामाय प्राञ्जलिः प्रत्यवेदयत् ॥ २६ ॥

तब सुमंत्र ने बड़ी जल्दी रथ में घोड़े जाते और हाथ जाड़ कर, श्रीरामचन्द्र से निवेदन किया ॥ २६ ॥

अयं युक्तो महावाहो रथस्ते रथिनांवर ।  
त्वमारोहस्व भद्रं\*ते ससीतः सहलक्ष्मणः ॥ २७ ॥

हे रथियों में श्रेष्ठ ! आपके लिये आपका यह रथ तैयार है, अब आप सीता और लक्ष्मण सहित इस पर बैठ जाइये ; आपका मङ्गल हो ॥ २७ ॥

\* पाठान्तरे—“त्वमारोह सुभद्रं ।”

तं स्यन्दनमधिष्ठाय राघवः सपरिच्छदः<sup>१</sup> ।

शीघ्रगामाकुलावर्तां तमसामतरनदीम् ॥ २८ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी अपने धनुष कवच आदि सामान के साथ रथ पर सवार हुए और उस तेज़ धार वालों एवं भँवरवालों नदी के पार हुए ॥ २८ ॥

स सन्तीर्य महाबाहुः श्रीमाञ्जिशब्दमकण्टकम् ।

प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् ॥ २९ ॥

तमसा नदी के उस पार कुछ दूर तक तो ऊबड़ खाबड़ कण्टकाकीर्ण मार्ग मिला । फिर आगे जा कर बहुत अच्छा मार्ग मिला, जिस पर न तो चलने में कष्ट होता था और न वहाँ किसी अन्य प्रकार का भय था । ( जङ्गली जानवरों का ) ॥ २९ ॥

मोहनार्थं तु पैराणां सूतं रामोऽब्रवीद्वचः ।

उदज्ज्मुखः प्रयाहि त्वं रथमास्थाय सारथे ॥ ३० ॥

पुरजनों को भ्रम में डालने के लिये अथवा बहकाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से कहा—हे पार्थ ! पहिले उत्तर की ओर रथ हाँको ॥ ३० ॥

मूहूर्तं त्वरितं गत्वा निवर्तय रथं पुनः ।

यथा न विद्युः पैरा मां तथा कुरु समाहितः ॥ ३१ ॥

फिर एक मुहूर्त बाद शीघ्र रथ हाँक कर, फिर रथ लौटा ले । सावधानता पूर्वक इस प्रकार रथ हाँको, जिससे पुरवासियों को यह न मालूम हो पावे कि, हम किस ओर गये ॥ ३१ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा तथा चक्रे स सारथिः ।

प्रत्यागम्य च रामस्य स्यन्दनं प्रत्यवेदयत् ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन वचनों को सुन, सुमंत्र ने तदनुसार ही रथ हाँका और रथ को पुनः लौटा कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने खड़ा कर दिया ॥ ३२ ॥

तौ सम्प्रयुक्तं<sup>१</sup> तु रथं समास्थितौ  
तदा ससीतौ रघुवंशवर्धनौ ।

प्रचोदयामास ततस्तुरङ्गमान्

स सारथिर्येन पथा तपेवनम् ॥ ३३ ॥

जब सुमंत्र जी ने लौटा कर रथ उनके सामने खड़ा किया, तब रघुकुल के बहाने वाले श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता सहित उस पर बैठे और सूत से बोले कि, अब घोड़ों का तपेवन की ओर हाँका ॥ ३३ ॥

ततः समास्थाय रथं महारथः

ससारथिर्दर्शरथिर्वनं ययौ ।

उदङ्गमुखं तं तु रथं चकार स

प्रयाणमाङ्गल्यनिमित्तदर्शनात् ॥ ३४ ॥

इति षट्क्त्वारिंशः सर्गः ॥

यात्रा मङ्गलपूर्वक हो, इसलिये सुमंत्र ने रथ को उत्तर की ओर मुख कर के खड़ा किया । उस रथ पर महारथी श्रीरामचन्द्र जी सवार हो, सुमंत्र सहित वन को रवाना हुए ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का क्रियालिसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—;\*;—

## सप्तचत्वारिंशः सर्गः

—०—

प्रभातायां तु शर्वर्या॑ पौरास्ते राघवं विना ।  
शोकोपहतनिश्चेष्टा बभूवृहतचेतसः ॥ १ ॥

रात बीतने पर जब सबेरा हुआ, तब वे पुरवासी जागे और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी को न देख, मारे शोक के चेष्टारहित हो गये और उनको कुछ भी सुधबुध न रही ॥ १ ॥

शोकजाश्रुपरिद्यूना वीक्षमाणाः समन्ततः\* ।  
'आलोकमपि रामस्य न पश्यन्ति स्म दुःखिताः ॥२॥

शोकाश्रुओं से तर, इधर उधर खोज करने पर भी जब वे श्रीरामचन्द्र जी के जाने के मार्ग का कुछ भी निशान न पा सके, तब तो वे सब बहुत दुःखित हुए ॥ २ ॥

ते विषादार्तवदना रहितास्तेन धीमता ।

कृपणाः करुणा वाचो वदन्ति स्म मनस्विनः ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के विना व्याकुल, आर्त और दीन हो, वे करुणयुक्त वचन कहने लगे ॥ ३ ॥

धिगस्तु खलु निद्रां तां ययापहृतचेतसः ।

नाद्य पश्यामहे रामं पृथूरस्कं महाभुजम् ॥ ४ ॥

धिकार है हमारी नींद को, जिसने हमें पेसा अचेत कर दिया कि, हम विशालवक्षःस्थल और महाभुज श्रीरामचन्द्र को अब नहीं देख सकोगे ॥ ४ ॥

कथं नाम महावाहुः स तथावितथक्रियः<sup>१</sup> ।

भक्तं जनं परित्यज्य प्रवासं राघवो गतः ॥ ५ ॥

देखो, श्रीरामचन्द्र जी कैसे निष्फल करने वाले ( अर्थात् भक्तों की कामनाओं को निष्फल करने वाले ) काम करते हैं, जो हम जैसे अपने अनुरागियों को यहाँ क्लोड कर बन को चल दिये ॥ ५ ॥

यो नः सदा पालयति पिता पुत्रानिवैरसान् ।

कथं रघूणां स श्रेष्ठस्त्यक्त्वा नो विपिनं गतः ॥ ६ ॥

जो हम लोगों को अपने निज सन्तानवत् पालते थे, वे रघु-कुलश्रेष्ठ क्यों हमें क्लोड बन को चले गये ॥ ६ ॥

इहैव निधनं यामो <sup>२</sup>महाप्रस्थानमेव वा ।

रामेण रहितानां हि किमर्थं जीवितं हि नः ॥ ७ ॥

या तो अब हम लोग यहीं प्राण दे देंगे अथवा हिमालय पर जा वर्फ़ में गल कर मर जायेंगे । क्योंकि बिना श्रीराम के हमारे जीने से क्या प्रयोजन है ॥ ७ ॥

सन्ति शुष्काणि काष्ठानि प्रभूतानि महान्ति च ।

तैः प्रज्वाल्य चितां सर्वे प्रविशामोऽथ पावकम् ॥ ८ ॥

यहाँ सूखी और बड़ी बड़ी बहुत सी लकड़ियाँ पड़ी हैं, इनको एकत्र कर और चिता बना जलतो आग में गिर, हम सब भस्म हो जाय ॥ ८ ॥

१ अवितथक्रियः—भस्माधानुवृत्तिः । ( गो० ) २ महाप्रस्थानं—भरणदीक्षापूर्वक मुत्तराभिमुखगमनं । ( गो० )

किं वक्ष्यामो महावाहुरनसूयः प्रियंवदः ।

नीतः स राघवेऽस्माभिरिति वक्तुं कथं क्षमम् ॥ ९ ॥

हम लौट कर लोगों से क्या कहेंगे ? क्या हमारा उनसे यह कहना उचित होगा कि, हम लोग महावाहु, ईर्ष्यारहित और प्रियवादी श्रीरामचन्द्र को वन में छोड़ आये । ऐसा तो हमसे न कहा जायगा ॥ ६ ॥

सा नूनं नगरी दीना दृष्टास्मान्राघवं विना ।

भविष्यति निरानन्दा सखीवालवयोधिका ॥ १० ॥

वह दोन अयोध्यापुरी, श्रीरामचन्द्र विना हमको लौटा हुआ देख, स्त्री बालक, और बूढ़े लोगों के सहित उदास हो जायगी ॥ १० ॥

निर्यातास्तेन वीरेण सह नित्यं जितात्मना ।

\*रहितास्तेन च पुनः कथं पश्याम तां पुरीम् ॥ ११ ॥

हम लोग तो उस तीर पवं जितेन्द्रिय के साथ सदैव चलने के लिये घर से निकले थे । अब हम उनको छोड़ किस प्रकार फिर पुरी को देखें ( अर्थात् पुरी में अपना मुँह क्योंकर दिखलाएँ ) ॥ ११ ॥

इतीव बहुधा वाचो वाहुमुद्यम्य ते जनाः ।

विलपन्ति स्म दुःखार्ता विवत्सा इव धेनवः ॥ १२ ॥

इस प्रकार वे सब लोग अपनी भुजाओं को ऊँचा कर, शोकाकुल हो, विदिध प्रकार से विलाप करने लगे । वे लोग उस समय उसी प्रकार दुःखी थे, जिस प्रकार बचा पास न होने पर, गौ दुःखी होती है ॥ १२ ॥

\* पाठान्तरे—“विहीनास्तेन” ।

ततो मार्गनुसारेण गत्वा किञ्चित्क्षणं पुनः ।  
मार्गनाशाद्विषादेन महता समभिप्लुताः ॥ १३ ॥

वे लोग रथ के पहियों की लकीर के सहारे कुक्र दूर तक गये भी, किन्तु आगे रथ के जाने का कुक्र भी चिन्ह न पा, वे और भी अधिक दुखी हुए । ( जान पड़ता है पहले तो रास्ता रेतीला था जिस पर रथ के पहियों के चिन्ह ही गये थे, किन्तु आगे को रास्ते पर घास आदि उगी होगा जिससे वहाँ पहियों का निशान नहीं बन सका होगा ) ॥ १३ ॥

रथस्य मार्गनाशेन न्यवर्तन्त मनस्विनः ।  
किमिदं किं करिष्यामो दैवेनोपहता इति ॥ १४ ॥

जब रथ के आगे जाने का रास्ता न मिला, तब वे सब दृढ़ चित्त वाले लोग लौट आये और आपस में कहने लगे कि, यह क्या हुआ—अब हम क्या करें, हमारा भाष्य ही खोया है ॥ १४ ॥

ततो यथागतेनैव मार्गेण क्वान्तचेतसः ।  
अयोध्यामगमन्सर्वे पुरीं व्यथितसज्जनाम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर वे सब के सब अत्यन्त उदास हो, जिस मार्ग से आये थे, उसीसे फिर अयोध्या को लौट गये । श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं न लौट कर, अयोध्यापुरीवासी सज्जनों को व्यथित किया ॥ १५ ॥

आलोक्य नगरीं तां च 'क्षयव्याकुलमानसाः ।  
अवर्त्यन्त तेऽश्रूणि नयनैः शोकपीडितैः ॥ १६ ॥

१ क्षयो—हर्षक्षयस्तेनव्याकुलमानसाः । ( १० )

वहाँ जा कर वे लोग पुरी को देख, हर्षरहित विकल मन और शोक पीड़ित हो नेत्रों से आँख बहाने लगे ॥ १६ ॥

एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते ।

आपगा गरुडेनेव हदादुद्धूतपञ्चगा ॥ १७ ॥

वे आपस में कहने लगे कि, देखो श्रीरामचन्द्र जी के न होने से इस नगरी की शोभा भी नहीं रही। यह तो अब उस नदी के दह के समान दीख पड़ती है, जिसके सर्प गरुड ने हरण कर लिये हैं ॥ १७ ॥

चन्द्रहीनमिवाकाशं तेयहीनमिवार्णवम् ।

अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः ॥ १८ ॥

चन्द्रहीन आकाश, अथवा जलहीन समुद्र की तरह वे लोग आनन्दशून्य नगरी को देख अचेत से हो गये ॥ १८ ॥

ते तानि वेश्मानि महाधनानि

दुःखेन दुःखोपहता विशन्तः ।

नैव प्रज्ञुः स्वजनं जनं वा

निरीक्षमाणाः प्रविनष्टहर्षाः ॥ १९ ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

वे लोग अपने उत्तमात्म घरों में, अत्यन्त दुःखित हो कर गये। उन दुःखपीड़ितों को इस समय इतनी भी सुध न रह गयी थी कि, वे देख कर, अपने और पराये को पहचान सकें ॥ १९ ॥

श्रयोद्याकागड का सैंतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

## अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—:०:—

तेषामेवं विषष्णानां पीडितानामतीव च ।

बाष्पविप्लुतनेत्राणां सशोकानां मुमूर्षया ॥ १ ॥

अब वे पुरवासी जन, विषादयुक्त, अत्यन्त दुःखी होने के कारण आसुओं से नेत्र भरे हुए थे और शोकाकुल थे तथा मरना चाहते थे ॥ १ ॥

अनुगम्य निवृत्तानां रामं नगरवासिनाम् ।

उद्गतानीव सत्त्वानि॑ वभूवुरमनस्विनाम् ॥ २ ॥

जब वे श्रीरामचन्द्र को बन भेज कर आये, तब वे बड़े खिल्ली, और मृतप्रायः हो गये थे ॥ २ ॥

स्वं स्वं निलयमागम्य पुत्रदारैः समावृताः ।

अश्रूणि मुमुक्षुः सर्वे बाष्पेण पिहिताननाः ॥ ३ ॥

वे अपने अपने घरों में आ कर, पुत्रों और खिल्लियों सहित रोने लगे और रोते रोते उनके मुख आसुओं से भींग गये ॥ ३ ॥

न चाहृष्यन्न चामोदन्वणिजो न प्रसारयन् ।

न चाशोभन्त पुण्यानि॒ नापचन्गृहमेधिनः ॥ ४ ॥

उस समय पुरवासियों में न तो कोई प्रसन्न और न कोई अमोदित होता था । वनियों ने अपनी दुकानें बंद कर रखी थीं । अर्थात्

१ सत्त्वानि—प्राणाः । २ पुण्यानि—पुण्यफलभूतपुत्रकलन्त्रादीनि । ( गो० )

बाज़ार बंद था । घरों में किसी ने न तो अपने लड़के लड़कियों को सजाया और न स्त्रियों ने अपना शृङ्खार किया । यहाँ तक कि, गृहस्थों के घर चूल्हा ही न जला अर्थात् रसोई न हुई—सब लोग भूखे प्यासे रहे ॥ ४ ॥

नष्टं दृष्टा नाभ्यनन्दन्विपुलं वा धनागमम् ।

पुत्रं प्रथमजं लब्ध्वा जननी नाभ्यनन्दत ॥ ५ ॥

न तो कोई अपने नष्ट हुए धन को पा कर और न कोई विपुल धन पा कर ही हर्षित होता था । उयेष्टपुत्र को पा कर माता प्रसन्न न होती थी ॥ ५ ॥

गृहे गृहे रुदन्त्यश्च भर्तारं गृहमागतम् ।

व्यगर्हयन्त दुःखार्ता वाग्भस्तोत्रैरिव द्विपान् ॥ ६ ॥

घर घर रोना पीटना हो रहा था और ( बन से खाली लौट कर ) घर में आये हुए पतियों के हृदय को, उनकी स्त्रियाँ शोकार्त हो, वचन रूपो वाणों से उसी प्रकार वेधती थीं, जिस प्रकार महावत हाथी को अङ्कुश से गोदता है ॥ ६ ॥

किन्न तेषां गृहैः कार्यं किं दारैः किं धनेन वा ।

पुत्रैर्वा किं सुखैर्वाऽपि ये न पश्यन्ति राघवम् ॥ ७ ॥

सब पुरवासी यही कह रहे थे कि, जब वे लोग श्रीरामचन्द्र जी ही को नहीं देख पाते, तब उन्हें घर, स्त्री, धन दौलत, पुत्र अथवा सुख का प्रयोजन ही क्या है ॥ ७ ॥

एकः सत्पुरुषो लोके लक्ष्मणः सह सीतया ।

योऽनुगच्छति काकुत्स्थं रामं परिचरन्वने ॥ ८ ॥

इस लोक में एकमात्र लक्ष्मण ही सज्जन हैं, जो सीता के साथ श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने वन में चले गये ॥ ५ ॥

आपगाः कृतपुण्यास्ताः पविन्यश्च सरांसि च ।

येषु स्नास्यति काकुत्स्थो विगाह्य सलिलं शुचि ॥९॥

उन नदियों और कमलयुक्त सरोवरों ने बड़ा पुण्य किया है, जिनके पवित्र जल में श्रीरामचन्द्र जी धुस कर स्नान करेंगे ॥ ६ ॥

शोभयिष्यन्ति काकुत्स्थमट्ट्यो रम्यकाननाः ।

आपगाश्च महानूपाः सानुमन्तश्च पर्वताः ॥ १० ॥

रमणीय वन, सुन्दर तट वाली नदियाँ और सुन्दर शिखर वाले पर्वत काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र जी की शोभा बढ़ावेंगे ॥ १० ॥

काननं वाऽपि शैलं वा यं रामोऽभिगमिष्यति ।

प्रियातिथिमिव प्राप्तं नैनं शक्यन्त्यनर्चितुम् ॥ ११ ॥

वन अथवा पहाड़—जहाँ कहों श्रीरामचन्द्र जी जायेंगे, उनको अपना प्रिय पाहुना समझ, वे सब आदर सत्कार करने में कसर न करेंगे ॥ ११ ॥

विचित्रकुसुमापीडा बहुमञ्जरिधारिणः ।

राघवं दर्शयिष्यन्ति नगा<sup>१</sup> भ्रमरशालिनः ॥ १२ ॥

वे पेड़ भी, जिनको फुनगियाँ फूलों से शोभित हैं और अनेक मंजरी धारण किये हुए हैं और जिन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं, अपना सुन्दर स्वरूप श्रीरामचन्द्र को दिखलावेंगे ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> नगा:—वृक्षाः । ( गो० )

अकाले चापि मुख्यानि पुष्पाणि च फलानि च ।

दर्शयिष्यन्त्यनुक्रोशाद॑गिरयो राममागतम् ॥ १३ ॥

वहाँ के पर्वत श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न करने के लिये, फूलने फलने की ऋतु न होने पर भी, उत्तम उत्तम फूलों फलों से श्रीरामचन्द्र जी का सन्मान करेंगे ॥ १३ ॥

प्रस्त्रविष्यन्ति तोयानि विमलानि महीधराः ।

विदर्शयन्तो विविधान्भूयश्चित्रांश्च निर्भरान् ॥ १४ ॥

पर्वत निर्मल जल चुआयेंगे और अनेक विचित्र भरनों को श्रीरामचन्द्र जी के लिये प्रकट करेंगे ॥ १४ ॥

पादपाः पर्वताग्रेषु रमयिष्यन्ति राघवम् ।

यत्र रामो भयं नात्र नास्ति तत्र पराभवः ॥ १५ ॥

पहाड़ों पर के पेड़ श्रीरामचन्द्र जी का मनोरञ्जन करेंगे । जहाँ श्रीरामचन्द्र जी होंगे वहाँ न तो उनको किसी का भय ही होगा और न उनकी कभी हार ही होगी ॥ १५ ॥

स हि शूरो महावाहुः पुत्रो दशरथस्य च ।

पुरा भवति नो दूरादनुगच्छाम राघवम् ॥ १६ ॥

वे महावाहु और शूर दशरथनन्दन अभी बहुत दूर नहीं गये होंगे, अतः चलो हम सब श्रीरामचन्द्र जी के पास चलें ॥ १६ ॥

पादच्छायाः<sup>१</sup> सुखा भर्तुस्तादृशस्य महात्मनः ।

स हि नाथो जनस्यास्य स गतिः स परायणम्<sup>२</sup> ॥ १७ ॥

१ अनुक्रोशात्—आद्रात् । ( गो० ) २ पादच्छायेति पादसेवा लक्ष्यते । ( गो० ) ३ परायणम्—परमयनं, सर्वप्रकारेणभाधारभूत इत्यर्थः । ( गो० )

क्योंकि वैसे महात्मा और स्वामी की चरणसेवा भी हमको  
छुच्छ देगी। वे ही इस अखिल संसार के स्वामी गति और  
आधार हैं ॥ १७ ॥

वयं परिचरिष्यामः सीतां यूयं तु राघवम् ।

इति पौराणियो भर्तृन्दुःखार्तास्तत्तदब्रुवन् ॥ १८ ॥

हम सब सीता की और तुम सब श्रीरामचन्द्र जी की सेवा ठहल  
करना। इस प्रकार पुरजनों की स्थिर्यां दुःख से विकल हो, अपने  
पतियों से कह कर, फिर कहने लगें ॥ १९ ॥

युध्माकं राघवोऽरण्ये 'योगक्षेमं विधास्यति ।

सीता नारीजनस्यास्य योगक्षेमं करिष्यति ॥ १९ ॥

देखो वन में श्रीरामचन्द्र सब प्रकार तुम्हारा भरणपोषण करेंगे  
और सीता जी हम स्थिरों का भरणपोषण करेंगी ॥ २० ॥

[ योगक्षेम—जो वस्तु प्राप्त नहीं उसको दिलाना योग और प्राप्तवस्तु  
का 'रक्षण क्षेम कहलाता है । ]

को न्वनेनाप्रतीतेन<sup>१</sup> सेत्कण्ठितजनेन च ।

सम्प्रीयेतामनोङ्गेन वासेन हृतचेतसा ॥ २० ॥

ऐसी बुरी जगह जहाँ चित्त उद्धिश हो और मन न लगे, वहाँ  
रहने से क्या प्रयोजन ॥ २० ॥

कैकेय्या यदि चेद्राज्यं स्यादधर्म्यमनाथवत् ।

न हि नो जीवितेनार्थः कुतः पुत्रै कुतो धनैः ॥ २१ ॥

१ योगक्षेम—अप्राप्त प्राप्तियोगः, प्राप्तस्य रक्षण क्षेमं । ( रा० ) २ अप्र-  
तीतेन—अप्रशस्तेन । ( गो० )

यदि यह राज्य धर्मविरुद्ध (ज्येष्ठ को ढोड़ ढोटे को राज्य मिलना धर्मविरुद्ध है।) और अनाथ की तरह कैकेयी के अधीन हुआ, तो धन और पौत्रादि की बात कौन चलावे, जोवित रहने ही से हमको क्या प्रयोजन है ॥ २१ ॥

यथा पुत्रश्च भर्ता च त्यक्तावैश्वर्यकारणात् ।  
कं सा परिहरेदन्यं कैकेयी कुलपांसनी ॥ २२ ॥

हा ! यह कुलकलड़िनो कैकेयी जिसने राज्यप्राप्ति के लोभ में पड़, अपने पति महाराज दशरथ और पुत्र श्रीरामबन्द तक को त्याग दिया, वह भला दूसरों को क्यों न त्याग देगी ॥ २२ ॥

कैकेया न वयं राज्ये भृतका निवसेमहि ।  
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे ॥ २३ ॥

हम अपने पुत्रों की शपथ खा कर कहती हैं कि, प्राण रहते हम कैकेयी के राज्य में उसकी दासी बन कर न रहेंगी ॥ २३ ॥

या पुत्रं पार्थिवेन्द्रस्य प्रवासयति निर्घृणा ।  
कस्तां प्राप्य सुखं जीवेदधर्म्यं दुष्टचारिणीम् ॥ २४ ॥

क्योंकि जिस निर्लज्जा ने महाराज दशरथ के पुत्र को घर से निकलवा दिया उस अर्थमें और दुष्ट के राज्य में बस कौन सुखपूर्वक जोता रह सकता ॥ २४ ॥

उपद्रुतमिदं सर्वमनालम्बमनायकम् ।  
कैकेया हि कृते सर्वं विनाशमुपयास्यति ॥ २५ ॥

यह समूचा राज्य, उपद्रवों से युक्त, निराधार और अनाथ हो, केवल कैकेयी की करतूत से नष्ट हो जायगा ॥ २५ ॥

न हि प्रव्रजिते रामे जीविष्यति महीपतिः ।

मृते दशरथे व्यक्तं विलापः<sup>१</sup> तदनन्तरम् ॥ २६ ॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के वन जाने के कारण महाराज का बचना असम्भव है और जब महाराज न रहेंगे तब यह राज्य भी नष्ट हो जायगा ॥ २६ ॥

ते विषं पिबतालोऽय क्षीणपुण्याः सुदुर्गताः ।

राघवं वाऽनुगच्छध्वमश्रुतिं वापि गच्छत ॥ २७ ॥

अब हम लोगों का सुकृत सिरा चुका है। इसीसे हमारी यह दुर्गति हुई है। सो लाञ्छो अब विष धोल कर पी लें, अथवा श्रीरामचन्द्र जी के पास चले चलें अथवा किसी ऐसे स्थान में चले चलें जहाँ से हमारा नाम भी कोई न सुन पावे ॥ २७ ॥

मिथ्या<sup>२</sup> प्रव्राजितो रामः ससीतः सहलक्ष्मणः ।

भरते सन्निसृष्टाः<sup>३</sup> स्मः सौनिकेऽ पश्वो यथा ॥ २८ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र को कपड़ से वन भेज कर, हमें भरत को उसी प्रकार सौंप दिया है जिस प्रकार कसाई को पशु सौंप दिया जाता है ॥ २८ ॥

पूर्णचन्द्राननः श्यामो गृहजत्रुरर्निन्दमः ।

आजानुबाहुः पद्माक्षो रामो लक्ष्मणपूर्वजः ॥ २९ ॥

पूर्वाभिभाषी मधुरः सत्यवादी महाबलः ।

सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत्प्रियदर्शनः ॥ ३० ॥

<sup>१</sup> विलापो—विनाशः । ( गो० ) <sup>२</sup> मिथ्यां—कपटेन । ( गो० )

<sup>३</sup> सन्निसृष्टाः—निक्षिपाः । ( गो० ) <sup>४</sup> सौनिके—पशुमारके । ( गो० )

नूनं पुरुषशार्दूलो मत्तमातङ्गविक्रमः ।

शोभयिष्यत्यरण्यानि विचरन्स महारथः ॥ ३१ ॥

वह श्रीरामचन्द्र तो पृणिमा के चन्द्र के समान मुख वाले, श्यामवर्ण, माँसल हुँ तुली वाले, शत्रुघ्नों को नाश करने वाले, अजानुवाहु, कमल के समान नेत्र वाले लक्ष्मण के बड़े भाई, पहले बोलने वाले, मधुरमापी, सत्यशारी, महावतो, सीधे और सब लोगों को चन्द्रमा को तरह प्रिय, पुरुषसिंह, मत्तगत जैसो चात चलने वाले और महारथी हैं, वे जहाँ विचर्ते वहाँ के बन को भी निश्चय ही शोभायुक्त कर देंगे ॥ २६ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

तास्तथा विलपन्त्यस्तु नगरे नागरत्नियः ।

चुकुशुर्दुःखसन्तसा मृत्योरिव भयागमे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार अयोध्या की बसने वाली लियाँ घरों में विलाप कर रही चिल्हाती थीं, जैसे किसी के मरते समय उसके इथमित्र और आत्मायज्ञन विलाप कर रहे चिल्हाते हैं ॥ ३२ ॥

इत्येवं विलपन्तीनां स्त्रीणां वेशमसु राघवम् ।

जगामास्तं दिनकरो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वियोग में इस प्रकार उन लियों के अपने घरों में रोते ही रोते दिन द्वूष गया और रात हो गयी ॥ ३३ ॥

नष्टज्वलन॑सम्पाता प्रशान्ताध्याय॒सत्कथा॑ ।

तिमिरेणाभिलिमेव सा तदा नगरी बभौ ॥ ३४ ॥

१ ज्वलनस्य —आहवनीयाग्नेः ऊःमाय॑या॒ सा प्रशान्ता । (गी०)

२ अध्यायो —वेदः । (गो०) ३ सत्कथा —पुराणादिः । (गो०)

उस दिन अग्निहोत्र की आग की गर्मी नष्ट हो गयी, स्वाध्याय-निरत ब्राह्मणों ने वेद का स्वाध्याय नहीं किया, न कहीं पुराणों की कथा वार्ता हुई। सब नगरो में अँधेरा सा छा गया। (अर्थात् लोगों के घरों में दीपक भी नहीं जलाये गये।) ॥ ३४ ॥

उपशान्तवणिकपण्या नष्टहर्षा निराश्रया ।

अयोध्या नगरी चासीनष्टतारमिवाम्बरम् ॥ ३५ ॥

बनियों की मरणदृश्याँ बंद रहीं। सब ही लोग निराश और अनाथ हो गये। जिस प्रकार तारागण से हीन आकाश शोभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी शोभा हीन हो गयी ॥ ३५ ॥

तथा ख्रियो रामनिमित्तमातुरा

यथा सुते भ्रातरि वा विवासिते ।

विलप्य दीना रुदुर्विचेतसः

सुतैर्हि तासामधिको हि सोऽभवत् ॥ ३६ ॥

अयोध्या की सब ख्रियाँ श्रीरामचन्द्र के लिये ऐसी आतुर हो रही थीं, मानों उनके पुत्र या भाई ही वन को भेज दिये गये हों। वे विलाप कर रोती रोती अचेत सी हो गयीं। उनकी इस चेष्टा से ऐसा बोध होता था मानों वे श्रीरामचन्द्र जी को अपने पुत्रों से भी अधिक मानती थीं ॥ ३६ ॥

प्रसान्तगीतोत्सवनृत्तवादना

व्यपास्तहर्षा पिहिताषणोदया ।

तदा द्वयोध्या नगरी बभूव सा

महार्णवः संक्षपितोदको यथा ॥ ३७ ॥

इति अष्टुचत्वारिंशः सर्गः ॥

गाना, बजाना, नाचनाकूदना आदि उत्सवसूचक सब काम बंद थे । बाज़ारों में जहाँ देखो वहीं उदास हो दूकानदार अपनी दूकानें बंद किये बुपचाप बैठे हुए थे । इस प्रकार अयोध्यापुरी जल रहित समुद्र की तरह उजाड़ सी हो गयी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकाण्ड का अडितालिसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

## एकोनपञ्चाशः सर्गः

— : \* : —

रामोऽपि रात्रिशेषेण तेनैव महदन्तरम् ।

जगाम पुरुषव्याघ्रः पितुराङ्गामनुस्मरन् ॥ १ ॥

( पिछले सर्ग में, अयोध्यावासियों के पुरी में लौटने पर उनकी तथा उनके कारण अयोध्यापुरी की जो दशा दिखलाई पड़ती थी उसका वर्णन किया गया । अगले सर्ग में आदि कवि पुनः श्रीरामचन्द्र के बनगमन का वृत्तान्त आरम्भ करते हैं । ) उस रात के बीतते बीतते श्रीरामचन्द्र जो अपने पिता की आङ्गा का स्मरण करते हुए, बहुत दूर निकल गये ॥ १ ॥

तथैव गच्छतस्तस्य व्यपायाद्रजनी शिवा ।

उपास्य स शिवां सन्ध्यां विषयान्तं<sup>१</sup> व्यगाहत ॥ २ ॥

चलते ही चलते सबेरा हो गया और रात बीत गयी । तब उन्होंने प्रातः सन्ध्यापासन किया । तदनन्तर फिर चलने लगे और चल कर उत्तर कोशल की दक्षिण सीमा पर पहुँच गये ॥ २ ॥

<sup>१</sup> विषयान्तं—उत्तरकोशलदक्षिणावधिं । ( गो० )

ग्रामान्विकृष्टसीमान्तान्पुष्पितानि बनानि च ।

पश्यन्नतिययौ शीघ्रं शनैरिव<sup>१</sup> हयोत्तमैः ॥ ३ ॥

गांवों के सिवानों पर खेती के लिये जुते हुए खेतों और अनेक प्रकार के पुष्पित वृक्षों से युक्त बनों के देखने में श्रीरामचन्द्रादि ऐसे मन्न थे कि, उन उत्तम घोड़ों को तेज़ चाल भी उनको धीमी चाल जैसी जान पड़ती थी ॥ ३ ॥

शृण्वन्वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।

राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थिम् ॥ ४ ॥

जाते जाते श्रीरामचन्द्र जी उन क्रोटे बड़े ग्रामों के निवासियों की बातचीत सुनते जाते थे । वे कहते थे कि, कामवशवर्ती महाराज दशरथ को धिक्कार है ॥ ४ ॥

हा नृशंसाद्य कैकेयी पापा पापानुबन्धिनी ।

तीक्ष्णाऽ सम्भन्नमर्यादा तीक्ष्णकर्मणि वर्तते ॥ ५ ॥

हाय ! पापिनी कैकेयी का स्वभाव कैसा कड़ुआ है और उसका व्यवहार कैसा कूर है कि, उसने मर्यादा को तोड़, ऐसा बुरा काम कर ही डाला ॥ ५ ॥

या पुत्रमीदृशं राज्ञः प्रवासयति धार्मिकम् ।

वनवासे महाप्राज्ञं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

उसने ऐसे धार्मिक राजपुत्र को वनवास दिया है, जो महाविद्वान्, दयालु और जितेन्द्रिय है ॥ ६ ॥

१ कैतेरिदययौ—उत्तमाइवानांगतिचातुर्यात् पुष्पितवनरामजीयकदर्शन पारवश्याक्षातिशीघ्रं अपि गमनं शनैरिवज्ञानम् । (गो०) २ ग्रामाः—महाग्रामाः । (गो०) ३ संवासा—अवश्यामाः । (गो०) ४ तीक्ष्णा—कूरा । (गो०)

कथं नाम महाभागा सीता जनकनन्दिनी ।  
सदा सुखेष्वभिरता दुःखान्यतुभविष्यति ॥ ७ ॥

जनकनन्दिनो महाभागा सीता, जो घर में सदा सुख ही सुख में रही है, किस प्रकार वन के कष्ट सह सकेगी ॥ ७ ॥

अहो दशरथो राजा निःस्नेहः स्वसुतं प्रियम् ।  
प्रजानामनधं<sup>१</sup> रामं परित्यक्तुमिहेच्छति ॥ ८ ॥

हा ! महाराज दशरथ को अपने प्यारे पुत्र में ज़रा भी मोह ममता नहीं है । नहीं तो वे प्रजा के पापों को दूर करने वाले अथवा निर्देव पुत्र को क्यों त्यागते ॥ ८ ॥

एता वाचो मनुष्याणां ग्रामसंवासवासिनाम् ।  
शृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान्कोसलेश्वरः ॥ ९ ॥

इस प्रकार उन बड़े झोटे ग्रामों के रहने वालों के अनेक प्रकार की वातचीत सुनते हुए कोशलेश्वर श्रीरामचन्द्र कोशलदेश की सीमा को उल्हड़ून कर आगे चले ॥ ९ ॥

ततो वेदश्रुतिं नाम शिववारिवहां नदीम् ।

उत्तीर्णाभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषितां दिशम् ॥ १० ॥

तदनन्तर वे वेदश्रुति नामक निर्मल जल से भरी हुई नदी के पार हो, दक्षिण दिशा की ओर चले ॥ १० ॥

गत्वा तु सुचिरं कालं ततः शिवजलां नदीम् ।

गोमतीं गोयुतानूपामतरत्सागरंगमाम् ॥ ११ ॥

१ प्रजानामनधं—अघनिवर्तकम् । ( शि० ) २ अगस्त्याध्युषितांदिशं—दक्षिणांदिशं । ( गा० ) ३ गोयुतानपां—गोयुकरच्छपदेशां । ( गो० )

फिर बहुत देर तक मार्ग चल, शीतल जल वाली और सागरगामिनी गोमती नदा के तट पर पहुँचे। उसके कछार में बहुत सी गौण चर रही थीं ॥ ११ ॥

**गोमतीं चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयैः ।**

**मयूरहंसाभिरुतां ततार स्यन्दिकां नदीम् ॥ १२ ॥**

शीघ्र चलने वाले घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर बैठे हुए श्रीरामचन्द्र जी, गोमती को पार कर, स्यन्दिका नाम नदी के, जिसके किनारों पर मयूर और हँस बोल रहे थे, पार उतरे ॥ १२ ॥

**स महीं मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा ।**

**स्फीतां राष्ट्राद्वितां रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ १३ ॥**

वह भूमि, जिसे राजा मनु ने पहिले इक्ष्वाकु को दिया था और जो बहुत विस्तृत थी तथा जिस पर अनेक राष्ट्र बसे हुए थे, श्रीरामचन्द्र जी ने सीता को दिखलायी ॥ १३ ॥

**सूत इत्येव चाभाष्य सारथि तमभीक्षणशः<sup>१</sup> ।**

**मत्तहंसस्वरः श्रीमानुवाच पुरुषर्षभः ॥ १४ ॥**

तदनन्तर सुमंत्र को सम्बोधन कर पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी मत्तहंस जैसी वाणी से बोले ॥ १४ ॥

**कदाऽहं पुनरागम्य सरया पुष्पिते वनेः ।**

**मृगयां पर्यटिष्यामि मात्रा पित्रा च सङ्गतः ॥ १५ ॥**

हे सारथे ! वह दिन कब आवेगा जब मैं वन से लौट कर माता पिता से मिल कर सरयू के पुष्पित वनों में शिकार के लिये घूमा फिरा करूँगा ॥ १५ ॥

<sup>१</sup> अभीक्षणशः आभाष्य सम्बोधय । ( शि० )

राजर्षीणां हि लोकेऽस्मिन्नरत्यर्थं मृगया बने ।

काले<sup>१</sup> वृतां<sup>२</sup> तां मनुजैः<sup>३</sup> धन्विनामभिकाङ्क्षिताम् ॥१६॥

इस संसार में यह पुरानी चाल चली आती है कि राजर्षि, लोग आवश्यकता पड़ने पर बनों में शिकार खेला करते हैं। सदा-चारी लोगों को भी श्राद्ध आदि करने के लिये धनुषबाण की आवश्यकता होती है ॥ १६ ॥

नात्यर्थमभिकाङ्क्षामि मृगयां सरयूवने ।

रतिर्हेषाऽतुला लोके राजर्षिगणसम्मता ॥ १७ ॥

यद्यपि बहुत शिकार खेलना मुझे पसंद नहीं, तथापि राजा लोग इसे अच्छा बतलाते हैं और लोगों की भी प्रवृत्ति इस ओर अधिक है। अतः मैं इसे बुरा भी नहीं समझता और सरयू के तट पर शिकार खेलना चाहता हूँ ॥ १७ ॥

स तमध्वानमैक्ष्वाकः सूतं मधुरया गिरा ।

तं<sup>४</sup> तमर्थमभिप्रेत्य<sup>५</sup> ययौ वाक्यमुदीरयन् ॥ १८ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जो प्रयोजन के अनुसार सूमंत्र जो को मधुरवाणी से समझा कर, उनसे वर्तालाप करते हुए चले जाते थे ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:\*:—

<sup>१</sup> काले—श्राद्धादिकाले । ( गो० ) <sup>२</sup> वृतां—स्वीकृता । ( गो० )

<sup>३</sup> मनुजैः—सदाचारपरैः । ( गो० ) <sup>४</sup> तं तमर्थं—राजगुणादिरूपं । ( गो० ) <sup>५</sup> अभिप्रेत्य—हृदये कृत्वा । ( गो० )

## पञ्चाशः सर्गः

—१०—

विशालान्कोसलानरम्यान्यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः ।

अयोध्याभिमुखो धीमान्प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विशाल कोशल राज्य के देशों को सीमा से निकल, अयोध्या को ओर मुख कर और हाथ जोड़ कर यह बाले ॥ १ ॥

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते ।

दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थवंशीय नृपतियों से पालित पुरियों में श्रेष्ठ अर्योध्ये !  
तुझसे तथा तुझमें रहने वाले उन दैवताओं से जो तेरा पालन करते हैं, मैं चिदा होने के लिये अनुज्ञा माँगता हूँ ॥ २ ॥

निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः ।

पुनर्दक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह सङ्घंतः ॥ ३ ॥

बनवास से लौट कर और महाराज से उन्मृण हो, मैं फिर तेरे दर्शन करूँगा और माता पिता से मिलूँगा ॥ ३ ॥

ततो रुधिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम् ।

अश्रुपूर्णमुखो दीनोऽब्रवीज्जानपदं जनम् ॥ ४ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने इतिण भुजा उठा नेत्रों में आँसू भर और दीन हो, उन जनपदवासियों से (जो रथ को धेरे चले जाते थे) कहा ॥ ४ ॥

अनुक्रोशो<sup>१</sup> दया<sup>२</sup> चैव यथाहै<sup>३</sup> मयि वः कृतः ।

चिरं दुःखस्य पापीयो<sup>४</sup> गम्यतामर्थसिद्धये<sup>५</sup> ॥ ५ ॥

आपने मेरा बैसा ही आदर सत्कार किया है और अनुकर्म्मा प्रदर्शित की है, जैसी मालिक के प्रति करनी उचित थी। बहुत देर तक मेरे साथ आपका रहना शोभा नहीं देता, अतः अब आप लोग अपने अपने घरों को लौट जाइये और जा कर घर के कामों को कीजिये ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।

विलपन्तो नरा घोरं व्यतिष्ठन्त क्वचित्क्वचित् ॥ ६ ॥

तब वे श्रीरामचन्द्र जी को प्रणाम कर और उनकी परिक्रमा कर, अपने अपने घरों को चल तो दिये, किन्तु रास्ते में बीच बीच में जाते जाते रुक जाते और रुद्दन कर घोर विलाप करने लगते थे ॥ ६ ॥

तथा विलपतां तेषामतृप्तानां च राघवः ।

अचक्षुर्विषयं प्रायाद्यथार्कः क्षणदामुखे<sup>६</sup> ॥ ७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको विलाप करते देख तथा अपने दर्शन से अतृप्त जान, रथ तेज़ी से हँकवाया और उनके नेत्रों की ओट वैसे ही हो गये, जैसे सूर्य सन्ध्या को नेत्रों की ओट हो जाते हैं ॥ ७ ॥

ततो धान्यधनोपेतान्दानशीलजनाञ्जुभान्<sup>७</sup> ।

अकुतश्चिद्धयानरम्यांशैत्यैयूपसमावृतान् ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> अनुक्रोशः आदरः । (गो०) <sup>२</sup> दया—अनुकर्म्मा । (गो०) <sup>३</sup> यथाहै—स्वामित्वानुगुणं । (गो०) <sup>४</sup> पापीयः—अशोभन् । (गो०) <sup>५</sup> अर्थसिद्धये—गृहकृत्यादि करणाय । (गो०) <sup>६</sup> चैत्यानि—देवतायतनानि ॥ \* पाठान्तरे—“शिवाम्” ।

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने जाते हुए देखा कि, रास्ते में जो गांव या नगर हैं, वे धनधार्य से भरे पूरे हैं। वहाँ के लोग बड़े दानी और धार्मिक हैं और निर्भीक हैं। यह बात उन नगरों के रथ देव-मन्दिरों तथा जहाँ तहाँ खड़े यज्ञस्तम्भ के देखने से चिदित होती थी ॥ ८ ॥

उद्यानाम्रवणोपेतान्सम्पन्नसलिलाशयान् ।

तुष्टपुष्टजनाकीर्णन्गोकुलकुलसेवितान् ॥ ९ ॥

वहाँ के बाग आमों के बृक्षों से परिपूर्ण थे, तालाबों में जल भरा हुआ था, सब लोग प्रसन्नवदन और हृष्टपुष्ट थे और जगह जगह गौओं की हेड़े खड़ी थीं ॥ ९ ॥

लक्षणीयान्नरेन्द्राणां ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।

रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ १० ॥

राज्य की ओर से उन जनपदों को रक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। उनमें वेद की ध्वनि सदा हुआ करती थी। पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी रथ पर चढ़े और ये सब देखते भालते कोशल देश की सीमा के पार हुए ॥ १० ॥

मध्येन मुदितं स्फीतं रम्योद्यानसमाकुलम् ।

राज्यं भोग्यं नरेन्द्राणां ययौ धृतिमतांवरः ॥ ११ ॥

धृतिमतांवर श्रीरामचन्द्र बीच बीच में छोटे छोटे राज्यों को, जो हर्षित और सम्पन्न लोगों से भरे और रमणीय उपवनों से युक्त थे, देखते चले जाते थे। (ये सब छोटे राज्य महाराज दशरथ के करद राज्य थे) ॥ ११ ॥

तत्र<sup>१</sup> त्रिपथगां दिव्यां शिवतोयामशैवलाम् ।

ददर्श राघवो गङ्गां पुण्यामृषिनिषेविताम् ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> तत्र—कोसलाहक्षिणदेश । (गो०) ।

चलते चलते श्रीरामचन्द्र ने कोशलराज्य की दक्षिण सीमा पर स्थित, पवित्र तथा शीतल तोया और ऋषियों से सेवित त्रिपथगा गङ्गा को देखा ॥ १२ ॥

**आश्रमैरविदूरस्थैः श्रीमद्भिः समलंकृताम् ।**

**\*कालेऽप्सरोभिर्हृषाभिः सेविताम्भोहदां शिवाम् ॥ १३ ॥**

गङ्गा के तट से कुछ ही हट कर, ऋषियों के रमणीक आश्रम देखे, जिनके कुण्डों के निर्मल जल में स्वर्गोंय अप्सरायें जलक्रीड़ा करने को उचित समय पर आया करती हैं ॥ १३ ॥

**देवदानवगन्धवैः किञ्चरैरूपशोभिताम् ।**

**\*नागगन्धर्वपत्रीभिः सेवितां सततं शिवाम् ॥ १४ ॥**

जो गङ्गा देव, दानव, गन्धर्व, किञ्चर, नागपत्री और गन्धर्व-पत्री द्वारा सदा सेवित हैं ॥ १४ ॥

**देवाक्रीडशताकीर्णं देवोद्यानशतायुताम् ।**

**देवार्थमाकाशगमां विख्यातां देवपद्मिनीम् ॥ १५ ॥**

उन गङ्गा के तट पर देवताओं की जलक्रीड़ा के लिये सैकड़ों स्थान और वाटिकाएँ बनी हुई हैं। गङ्गा ने आकाशमार्ग से गमन किया है और वहाँ वह देवपद्मिनी श्रथात् उवर्ण कमलबाली के नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ १५ ॥

[ गङ्गा का खी का रूपक बाँधा है ] ।

**जलाघाताद्वहासेाग्रां फेननिर्मलहासिनीम् ।**

**कचिद्वेणीकृतजलां कचिदावर्तशोभिताम् ॥ १६ ॥**

काले—क्रीड़ा काले उचित काले वा । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“नाना” ।

गङ्गा का जल जहाँ टकराता है, वहाँ ऐसा शब्द होता है मानों  
गङ्गा अद्वाहास कर रही है, कहीं पर धार बड़े वेग से वह रही है  
और कहीं वह निर्मल फेन से भूषित हो मानों हँस रही है। ऊँची  
नीची चट्टानों पर जल के गिरने से ऐसा जान पड़ता है, मानों  
किसी युवती की वेणी ( चोटी ) हो और कहीं कहीं पर भँवरों  
के पड़ने से गङ्गा सुशोभित हो रही है ॥ १६ ॥

**कचित्स्तमितगम्भीरां कचिद्गजलाकुलाम् ।**

**कचिदगम्भीरनिर्घेषां कचिद्द्रैवनिस्वनाम् ॥ १७ ॥**

कहीं स्थिर, कहीं बहुत गहरा जल है और कहीं जल के गंभीर  
नाद से और कहीं भयङ्कर शब्द से श्रीगङ्गा जी घोषित हो रही  
है ॥ १७ ॥

**देवसङ्घाल्पुतजलां निर्मलोत्पलशोभिताम् ।**

**कचिदाभोगपुलिनां कचिन्निर्मलवालुकाम् ॥ १८ ॥**

कहीं देवता लोग स्नान करते हैं, और कहीं पर वह श्वेत कमलों  
से सुशोभित है। कहीं कहीं तट पर ऊँचे करारे हैं और कहीं निर्मल  
बालुका बिढ़ी है ॥ १८ ॥

**हंससारससंधुष्टां चक्रवाकोपकूजिताम् ।**

**सदा मत्तैश्च विहगैरभिसन्नादितान्तराम् ॥ १९ ॥**

कहीं हंस और सारस बोल रहे हैं और कहीं तट पर  
चक्रवा चक्रई कुहुक रहे हैं। गङ्गा का तट मत्त पक्षियों के शब्द से  
सदा कूजित ही रहता है ॥ १९ ॥

**कचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालाभिरूपशोभिताम् ।**

**कचित्फुल्लोत्पलच्छन्नां कचित्पद्मवनाकुलाम् ॥ २० ॥**

कहीं तटों पर वृक्षों की पंकियाँ माला की तरह शोभाय-  
मान हैं, कहीं खिली हुई कुई जल को ढके हुए हैं और कहीं  
कमल के फूलों के बन भरे पड़े हैं ॥ २० ॥

**कचित्कुमुदषण्डैश्च कुड्यलैरुपशोभिताम् ।**

**नानापुष्परजोध्वस्तां॑ समदामिव॒ च क्वचित् ॥२१॥**

कहीं कुई की कलियाँ शोभायमान हैं, और कहीं अनेक प्रकार  
के पुष्पों के पराग से जल का रंग बदला हुआ है अर्थात् लाल हो  
गया है । वह लाल रंग का उहरा हुआ जल ऐसा जान पड़ता है,  
मानों कोई स्त्री लाल रंग की साड़ी पहने हुए खड़ी है ॥ २१ ॥

**व्यपेतमलसङ्गातां॑ मणिनिर्मलदर्शनाम् ।**

**दिशागर्जैर्वनगर्जैर्मत्तैश्च वरवारणैः३ ॥ २२ ॥**

गङ्गा जो का जल वैद्यर्यमणि की तरह चमक रहा है । दिशग  
मत्त वनैले हाथी तथा राजाओं के हाथी स्नान कर रहे हैं ॥ २२ ॥

**देवोपवाह्यैश्च मुहुः सन्नादितवनान्तराम् ।**

**प्रमदामिव यत्रेन भूषितां॑ भूषणोत्तमैः ॥ २३ ॥**

देवताओं के वाहन मत्तगजों से सेवित और जल की धार के  
हर हर प्राच्छ से बनों को गुंजाती गङ्गा ऐसी सुशोभित हो रही है  
मानों कोई स्त्री बड़े यत्र से उत्तम आभूषणों से अपना शृङ्गार किये  
हुए हो ॥ २३ ॥

१ नानापुष्परजोध्वस्तां—वर्णान्तरप्राप्तां । ( गो० ) २ समदामिव—  
प्रमदामिवस्थिताम् । ( रा० ) एवं रक्तवर्णत्वात् समदामिवस्थिताम् । ( गो० )  
३ वरवारणैः—राजगजैः । ( गो० )

फलैः पुष्पैः किसलयैर्वृतां गुलमैद्विजैः स्तथा ।  
शिशुमारैश्च नक्रैश्च भुजङ्गैश्च निषेविताम् ॥ २४ ॥

( गङ्गा ) फल, पुष्प, पत्र, पुष्पगुच्छ और नाना पक्षियों रूपी आभूषणों से भूषित खीं को तरह सुशोभित है। सूंस, ( अथवा जलमानुस-जलकपि ) घडियाल और भुजङ्गों से सेवित है ( अर्थात् ये सब उसके जल के भीतर रहते हैं ) ॥ २४ ॥

विष्णुपादच्युतां दिव्यामपापां पापनाशनीम् ।  
तां शङ्करजटाजूटद्व्रष्टां सागरतेजसा॑ ॥ २५ ॥

गङ्गा भगवान् विष्णु के चरण से निकली हैं, दिव्य हैं, स्वयं पाप रहित हैं और दूसरों के पाप को नाश करने वाली हैं। शिव जी के जटाजूट से निकल कर, भगीरथ की तपस्या से पृथिवी पर आयी हैं ॥ २५ ॥

समुद्रमहिषीं गङ्गां सारसक्रौञ्चनादिताम् ।

आससाद महाबाहुः शृङ्गवेरपुरं प्रति ॥ २६ ॥

समुद्र की पटरानी और सारस पतं क्रौञ्च पक्षियों से कूजित गङ्गा के निकट, शृङ्गवेरपुर की जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी पहुँचे ॥ २६ ॥

तामूर्मिकलिलावर्तामन्वेक्ष्य महारथः ।

सुमन्त्रमब्रवीत्सूतमिहैवाद्य वसामहे ॥ २७ ॥

तरंगों पर तरंगे जिनमें छठ रही हैं, ऐसी श्रीगङ्गा जी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सुमन्त्र से कहा, हे सूत ! आज मैं यहीं निवास करूँगा ॥ २७ ॥

१ द्विजैः—पक्षिभिः । (ग०) २ सागरतेजसा—भगीरथतपसा । (रा०)

अविदूरादयं नद्या वहुपुष्पप्रवालवान् ।

सुमहानिङ्गुदीवृक्षो वसामोऽत्रैव सारथे ॥ २८ ॥

हे सारथे ! यहाँ से निकट ही पत्तों और फूलों से सुशोभित जो इंगुदी का वृक्ष है, उसीके नीचे ठिकने की मेरी इच्छा है ॥ २८ ॥

द्रक्ष्यामः सरितां श्रेष्ठां सम्मान्यसलिलां शिवाम् ।

देवदानवगन्धर्वमृगमानुषपक्षिणाम् ॥ २९ ॥

इसी श्रेष्ठ नदी गङ्गा को, जो मनोहर जलयुक्त है और देव, दानव, गन्धर्व, मृग, नाग और पक्षियों से सेवित हैं, ( हम लोग ) देखें और उसका ( यहाँ ठहर कर ) सन्मान करें ॥ २९ ॥

लक्ष्मणश्च सुमन्त्रश्च वाढमित्येव राघवम् ।

उक्त्वा तमिङ्गुदीवृक्षं तदोपययतुर्हयैः ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण और सुमंत्र ने कहा “ बहुत अच्छा ” और वे इंगुदी वृक्ष के पास रथ ले गये ॥ ३० ॥

रामोऽभियाय तं रम्यं वृक्षमिक्ष्वाकुनन्दनः ।

रथादवातरत्समात्सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ३१ ॥

ईद्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र उस रमणीक वृक्ष के पास पहुँच, सीता और लक्ष्मण सहित रथ से उतर पड़े ॥ ३१ ॥

सुमन्त्रोऽप्यवतीर्यास्मान्मोचयित्वा हयोत्तमान् ।

वृक्षमूलगतं राममुपतस्थे कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥

सुमंत्र भी रथ से उतर पड़े और उन उत्तम घोड़ों को खोल दिया और स्वयं हाथ जोड़े हुए उस वृक्ष के नीचे श्रीरामचन्द्र जी के पास जा उपस्थित हुआ ॥ ३२ ॥

तत्र राजा गुहो नाम रामस्यात्मसमः<sup>१</sup> सखा ।

निषादजात्यो वलवान्स्थपतिःश्चेति विश्रुतः ॥ ३३ ॥

उस देश का गुह नाम का राजा था, वह श्रीरामचन्द्र का प्राणों के समान मित्र था और जाति का केवट था, तथा उसके पास चतुर्भिंशी सेना थी और वह निषादों का राजा कहलाता था ॥ ३३ ॥

स श्रुत्वा पुरुषव्याघ्रं रामं विषयमागतम् ।

वृद्धैः परिवृतोऽमात्यैर्जातिभिश्चाप्युपागतः ॥ ३४ ॥

उसने जब सुना कि श्रीरामचन्द्र जी उसके देश में आये हैं, तब वह अपने बूढ़े मंत्रियों और जाति विरादरी के बड़े बड़े लोगों को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी से मिलने चला ॥ ३४ ॥

[ नोट—गुह, जाति का केवट हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी का मित्र था, इस पर कुछ लोग आपत्ति कर सकते हैं—क्योंकि मैत्री “ समानशील व्यसनेषु सख्यम् ” होना चाहिये—सो कहाँ क्षत्रियकुलोऽव राजकुमार श्रीरामचन्द्र और कहाँ केवटों का राजा गुह ! गुह केवटों का चौधरी न था, बल्कि राजा था—यह बात उसके साथ बूढ़े मंत्रियों के आने से प्रकट होती है । एक राजा का दूसरे राजा के साथ समानव्यसन होने से मैत्री होना आश्वर्य की बात नहा । गुह “ स्थपति ” कहलाता था । वैजयन्ती कोष के अनुसार “ स्थापत्येभिपतेताक्षणं ” गुह बहर्ह भी था अतः ;

“ हीनप्रेष्यं हीनसस्यं होनगेह निवेषणं ” का दोष महाकुलप्रसूत श्रीरामचन्द्र के ऊपर इसलिये नहीं आता कि, ‘‘ स्थपति ” होने से गुह यज्ञ में जा सकता था, “ निषादस्थपतियाजयेत ” इति श्रुत्या ॥ । फिर जब श्रीरामचन्द्र भक्तवत्सल भगवान के अवतार थे तत्र,

१ आत्मसमः—प्राणसमः । ( गो० ) २ वलवान्—चतुरंग वलवान् । ( गो० ) ३ स्थपतिः—निषादाभिपतिः । ( गो० )

“ न शूद्र भगवदक्ता विप्रा भगवताः स्मृताः  
सर्ववर्णेषु ते शूद्रा येष्यमक्ता जनार्दने ॥ ”

अर्थात् भगवद्कृत भले ही शूद्र जाति में उत्पन्न हुआ हो, किन्तु वह शूद्र नहीं, भगवद्कृत होने के कारण उसको विप्र संज्ञा हो जाती है। प्रत्युत सब वर्णों में शूद्र तो वह है जो भगवान् का भक्त नहीं है। ]

ततो निषादाधिपतिं दृष्ट्वा दूरादुपस्थितम् ।

सह सौमित्रिणा रामः समागच्छदृगुहेन सः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र गुह को दूर से आते देख लक्ष्मण सहित कुछ दूर आगे जा, गुह से मिले ॥ ३५ ॥

तमार्तः<sup>१</sup> सम्परिष्वज्य गुहो राघवमब्रवीत् ।

यथाऽयोध्या तथेयं ते राम किं करवाणि ते ॥ ३६ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र जी को सुनि भेष धारण किये देख, गुह बड़ा दुःखी हुआ और श्रीरामचन्द्र जी से मिल, यह बोला—हे श्रीरामचन्द्र ! अयोध्या की तरह यह राज्य भी आप ही का है, सो आज्ञा दीजिये मैं आपको क्या सेवा करूँ ॥ ३६ ॥

[ गुह का श्रीराम को तपसी भेष में देख कर दुःखी होना यह सूचित करता है कि गुह का और श्रीरामचन्द्र का शिकार आदि में पहले भी कई बार समागम हो चुका था। इसीसे वह राजकुमार का परम सखा भी हो गया था। (गो०) ]

ईदृशं हि महाबाहो कः प्राप्स्यत्यतिथिं प्रियम् ।

ततो गुणवदन्नाद्यम्<sup>२</sup> उपादाय पृथग्विधम्<sup>३</sup> ॥ ३७ ॥

१ आर्तः—धृत बलक्ल दर्शनेन सन्तसः (गो०) । २ गुणवत्—स्वादु शीत्र परिपाकादि गुण विशिष्टम् । (शि०) ३ आद्य शब्देन पेयादिकमुच्यते । (गो०) ४ पृथग्विधम्—मांसादिभेदेन बहुविधं । (गो०)

हे महाबाहो ! आप जैसे प्रिय अतिथि का आना साधारण बात नहीं है । यह कह अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ ॥३७॥

अर्ध्यं चोपानयत्क्षिप्रं वाक्यं चेदमुवाच ह ।

स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ॥ ३८ ॥

और अर्ध्य की सामग्री तुरन्त ला कर, गुह बोला, हे महाबाहो ! मैं आपका स्वागत करता हूँ, यह सारा राज्य आप ही का है ॥३८॥

वयं प्रेष्या भवान्भर्ता साधु राज्यं प्रशाधि नः ।

भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चेदमुपस्थितम् ॥ ३९ ॥

हम सब आपके ठहल्लुप हैं, आप हम लोगों के प्रभु हैं । अब आप इस राज्य को ले कर शासन कीजिये । ये भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य ( अर्थात् खाने पीने के लिये ) पदार्थ उपस्थित हैं ॥ ३९ ॥

शयनानि च मुख्यानि वाजिनां खादनं<sup>१</sup> च ते ।

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह ॥ ४० ॥

सोने के लिये अच्छे अच्छे पलंग और आपके घोड़ों के लिये दाना घात भी ला कर रखा है । गुह के इन प्रकार कह चुकने पर श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ ४० ॥

अर्चिताश्वैव हृष्टाश्व भवता सर्वथा वयम् ।

पद्मचामभिगमाच्चैव स्नेहसन्दर्शनेन च ॥ ४१ ॥

आपने मेरे निकट पैदल आ कर जो इतना स्नेह जनाया, सो मेरा सब प्रकार से आदर सकार हो चुका । मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ४१ ॥

<sup>१</sup> खादनं—घासः । (गो०)

भुजाभ्यां साधु<sup>१</sup> पीनाभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत् ।

दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः ॥४२॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी गुह को अच्छी तरह अपने हृदय से लगा कर, प्रसन्न हो बैले—हे गुह ! आपको बन्धु बान्धवों सहित नीरोग देख मैं बहुत प्रसन्न हुआ ॥ ४२ ॥

अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च धनेषु च ।

\*यदेतद्वता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पितम् ॥ ४३ ॥

अब आप अपने राज्य, मित्र और धन का देम कुशल बतलाइये । मेरे लिये बड़े प्रेम से जो ये सब वस्तुएँ आप लाये हैं ॥ ४३ ॥

सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे<sup>२</sup> ।

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशिनं च माम् ॥ ४४ ॥

इनमें से कोई भी वस्तु मैं नहीं ले सकता, क्योंकि मैंने दान का त्याग कर रखा है । मैं तो कुशचीर और मृगचर्म धारण करता हूँ और फल तथा कन्दमूल खाता हूँ ॥ ४४ ॥

विद्धि प्रणिहितं धर्मं तापसं वनगोचरम् ।

अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित् ॥ ४५ ॥

आप मुझे पिता की आङ्गा से धर्मपालन में सावधान एवं वन में चिचरने वाला तपस्वी समझें । आप इन वस्तुओं में से बोड़ों के लिये धास तो रहने दें अन्य सब पदार्थ मुझे नहीं चाहिये ॥ ४५ ॥

<sup>१</sup> साधुपीडयन्—सम्यक्ष आलिङ्गन् । (गो०) <sup>२</sup> प्रतिग्रहे न वर्ते—प्रतिग्रह धर्मं नाश्रितवान् । (गो०) \* पाठान्तरे—“यत्त्विदं ममता॥” ।

एतावताऽन्नभवता भविष्यामि सुपूजितः ।

एते हि दयिता राज्ञा पितुर्दशरथस्य मे ॥ ४६ ॥

बस इसीसे मानें आपने मेरा अचक्ष्री तरह से सत्कार कर दिया । क्योंकि वे धोड़े मेरे पिता महाराज दशरथ की अत्यन्त प्रिय हैं ॥ ४६ ॥

एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः ।

अश्वानां प्रतिपानं च खादनं चैव सोऽन्वशात् ॥ ४७ ॥

अतः इनको जय अचक्ष्री तरह से दाना धास जल मिल गया तब मानो मेरा ही भली भाँति आदर सत्कार हो चुका ॥ ४७ ॥

गुहस्तत्रैव पुरुषांस्त्वरितं दीयतामिति ।

ततश्चीरोत्तरासङ्गः सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।

जलमेवाददे भोज्यं लक्ष्मणेनाहृतं स्वयम् ॥ ४८ ॥

यह सुन गुह ने अपने नौकरों को तुरन्त आज्ञा दी कि, धोड़ों को दाना धास दो और इनको पानी पिलाओ । तदनन्तर लक्ष्मण का डुपट्ठा धोड़े हुए श्रीरामचन्द्र जी ने, साथं सन्ध्योपासन किया और स्वयं लक्ष्मण का लाया हुआ जल मात्र पिया ॥ ४८ ॥

तस्य भूमौ शयानस्य पादौ प्रक्षाल्य लक्ष्मणः ।

सभार्यस्य ततोऽभ्येत्य तस्थौ वृक्षमुपाश्रितः ॥ ४९ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी और सीता इंगुदी वृक्ष के नीचे भूमि पर लेट गये, तब लक्ष्मण जी ने जल ला कर उन दोनों के पैर धोये । और वहीं पेड़ के समीप वे बैठे रहे ॥ ४९ ॥

[ नोट—सोने के पूर्व पैर धोना आयुर्वेद की दृष्टि से आवश्यक है । यह तो प्रत्यक्ष अनुभव की बात है कि, पैर धो कर और पौछ कर सोने से स्वस्थ या स्वसदोष नहीं होता । ]

गुहोऽपि सह सूतेन सौमित्रिमनुभाषयन् ।

अन्वजाग्रत्ततो राममप्रमत्तो धनुर्धरः ॥ ५० ॥

गुह, सुमंत्र और सावधानतापूर्वक धनुषबाण धारण करने वाले लक्ष्मण, आपस में बातचीत करते हुए रात भर जागते रहे ॥ ५० ॥

तथा शयानस्य ततोऽस्य धीमतो

यशस्विनो दाशरथेर्महात्मनः ।

अदृष्टदुःखस्य सुखोचितस्य सा

तदा व्यतीयाय चिरेण शर्वरी ॥ ५१ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

धीमान एवं यशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, जो सदा सुख भोगने योग्य थे, किन्तु दुर्भाग्यवश इस समय दुःख पा रहे थे, सो गये और सोते सोते उन्हें यह भी न मालूम पड़ा कि, रात कब बीत गयी ॥ ५१ ॥

[ नोट—इस श्लोक का भावार्थ यह है कि, जो श्रीरामचन्द्र जी चक्रवर्ती के पुत्र थे और जिन्होंने कष्ट का नाम भी कभी नहीं सुना था—वे इस वनयात्रा के कष्टों से परिश्रान्त तथा कुछ भी न खाने से क्लान्त होने के कारण ऐसे सोये कि, उन्हें यह न जान पड़ा कि, रात कब बीत गयी । ]

अयोध्याकाण्ड का पचासवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

## एकपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

तं जाग्रतमदम्भेन भ्रातुरर्थाय लक्ष्मणम् ।

गुहः सन्तापसन्तसो राघवं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

लक्ष्मण जी से—जो भाई की रखवाली करते हुए, बड़ी सावधानी से जाग रहे थे, गुह सन्तस हो बोला ॥ १ ॥

इयं तात सुखा शश्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।

प्रत्याश्वसिहि साध्वस्यां राजपुत्रं यथासुखम् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम्हारे सोने के लिये यह विक्रीना तैयार है इस पर हे राजकुमार ! तुम सुखपूर्वक विश्राम करो ॥ २ ॥

उचितोऽयं जनः सर्वं क्लेशानां त्वं सुखोचितः ।

गुप्त्यर्थं जागरिष्यामः काकुत्स्थस्य वर्यं निशाम् ॥३॥

हम लोग जो बन में रहा करते हैं, कष्ट सहने के आदी हैं, और तुम सदा सुख भोगते रहे हो, अतः तुमको सुख मिलना उचित है । श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली के लिये, हम लोग रात भर जागते रहेंगे । अतः तुम लेट रहो और सोओ ॥ ३ ॥

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।

ब्रवीम्येतदहं सत्यं सत्येनैव च ते शपे ॥ ४ ॥

( कदाचित् लक्ष्मण का यह सन्देह हो कि, गुह रात भर न जागेगा और लक्ष्मण को सुलाने को वह बात कहता है इस पर गुह

कहता है ) इस संसार में श्रीरामचन्द्र से बढ़ कर मेरा प्यारा दूसरा कोई नहीं है । यह बात मैं सत्य की शपथ खा कर तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ ४ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।

धर्मावासि च विपुलामर्थावासि च केवलाम् ॥ ५ ॥

क्योंकि इन्हीं ( श्रीरामचन्द्र जी ) की प्रसन्नता से मैं बड़ा यश, धर्म, बहुत सा धन, और काम चाहता हूँ, ( अर्थात् इनके प्रसन्न होने से मुझे अर्थ धर्म काम मोक्ष सभी कुछ मिल सकता है, अतः मैं रात भर जाग कर और रखवाली कर इनको प्रसन्न रखूँगा ) ॥ ५ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वतो ज्ञातिभिः सह ॥ ६ ॥

अतः मैं हाथ में धनुष ले कर अपने परिवार के लोगों के साथ सीता सहित सोये हुए अपने प्रिय मित्र श्रीरामचन्द्र जी की हर तरह से रखवाली करूँगा ॥ ६ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्वनेऽस्मिंश्चरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यपि बलं सुमहत्प्रसहेमहि ॥ ७ ॥

इस वन में मेरा विना जाना हुआ कुछ भी नहीं है ( अर्थात् मुझे इस वन का रक्षा रक्षा हाल मालूम है । ) क्योंकि मैं तो इस वन में सदा विनाए ही करता हूँ । यदि चतुरङ्गीणी सेना भी मेरे ऊपर शाक्षमण करे, तो मैं (इस वन को जानकार होने के कारण) उसका भी सामना करने को समर्थ हूँ ॥ ७ ॥

लक्ष्मणस्तं तदोवाच रक्ष्यमाणास्त्वयानऽघ ।

नात्र भीता वयं सर्वे धर्मेवानुपश्यता ॥ ८ ॥

यह सुन, लक्ष्मण जो ने गुह से कहा, हे पुण्यात्मन् ! तुम्हारी खखवाली का तो हमें पूरा भरोसा है। मुझे डर किसी बात का नहीं है, किन्तु अपने कर्तव्यपालन का मुझे पूरा ध्यान है ॥ ८ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।

शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ ९ ॥

जब चक्रवर्ती महाराज दशरथ के कुमार, राजा जनक की बेटी सीता जी के सहित, भूमि पर पड़े सो रहे हैं, तब मेरा यह कर्तव्य नहीं कि, मैं पड़ कर सुख से सोऊँ अथवा अपने जीते रहने या अपने आराम के लिये प्रयत्न करूँ ॥ ९ ॥

ये न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।

तं पश्य सुखसंविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ १० ॥

युद्ध में जिन श्रीरामचन्द्र जी का सब देवता और असुर मिल कर भी सामना नहीं कर सकते, देखो, आज वे ही सीता सहित घास फूस के ऊपर सो रहे हैं ॥ १० ॥

ये मन्त्रतपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः<sup>१</sup> ।

एको<sup>२</sup> दशरथस्येष्टः पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ ११ ॥

अनेक जप तप और यज्ञानुष्ठान के बाद महाराज के उन जैसे लक्षणों वाले यही तो एक प्रिय पुत्र हुए हैं ॥ ११ ॥

अस्मिन्प्रवाजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।

विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १२ ॥

<sup>१</sup> परिश्रमैः—यज्ञादिभिः । (गो०) <sup>२</sup> एकः—मुख्यः । (गो०)

सो इनके अयोध्या से चले आने पर महाराज बहुत दिनों तक न ठहर ( जीवित रह ) सकेंगे । अतः यह पृथिवी बहुत शीघ्र विघ्वा हो जायगी ॥ १२ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।

निर्धोषोपरतं चातो मन्ये राजनिवेशनम् ॥ १३ ॥

मैं समझता हूँ, जो स्त्रियाँ हमारे आने पर रोती पीटती थीं, वे अब शान्त हो गयी होंगी और राजभवन में भी सज्जाठा ढा गया होगा ॥ १३ ॥

कौसल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।

नाशंसे यदि जीवन्ति सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १४ ॥

कौशल्या, महाराज दशरथ और मेरी जननी सुमित्रा ये सब इस रात में जीते जागते बब जायगे मुझे इसमें सन्देह है ॥ १४ ॥

जीवेदपि हि मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।

तदुःखं यत्तु कौसल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १५ ॥

शत्रुघ्न का मुख देखती हुई मेरी माता तो जीतो भी रहै, किन्तु यह बड़ा दुःख है कि, वोरजननी कौशल्या जो विना श्रीराम के अवश्य शरीर त्याग देंगी ॥ १५ ॥

अनुरक्तजनाकीर्णा सुखालोकप्रियावहा ।

राजव्यसनसंसृष्टा सा पुरी विनशिष्यति ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जो मैं अनुराग रखने वाले प्रजाजनों से भरी हुई सुख सनृद्धि वाली, लोकप्रिय अयोध्यापुरी, हाय ! महाराज के मरने के शोक से नष्ट हो जायगी ॥ १६ ॥

कथं पुत्रं महात्मानं ज्येष्ठं प्रियमपश्यतः ।

शरीरं धारयिष्यन्ति प्राणा राज्ञो महात्मनः ॥ १७ ॥

क्योंकि अपने महात्मा प्यारे ज्येष्ठ पुत्र को देखे बिना महाराज दशरथ जी के प्राण शरोर में कैसे ठहर सकेंगे ॥ १७ ॥

विनष्टे नृपतौ पश्चात्कौसल्या विनशिष्यति ।

अनन्तरं च माताऽपि मम नाशमुपैष्यति ॥ १८ ॥

महाराज के मरते ही महारानी कौशल्या भी मर जायगी और कौशल्या के बाद मेरी माता भी नाश को प्राप्त होगी ॥ १८ ॥

‘अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।

राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १९ ॥

हाय ! सब बना बनाया खेल ही बिगड़ जायगा जब कि, महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र जी के राज्याभिषेक का मनोरथ अपने मन में लिये हुए ही इस संसार से चल देंगे ॥ १९ ॥

सिद्धार्थः पितरं वृत्तं तस्मिन्कालेऽप्युपस्थिते ।

प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ २० ॥

अब तो भाग्यवान वही है, जो महाराज के पास उनके अंत समय में उपस्थित रह कर, उनके सब और्द्धदेहिक कृत्य करेगा ॥ २० ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम् ॥ २१ ॥

वे लोग धन्य होंगे जो रमणीय चबूतरों, और बैठकों से युक्त उस नगरी में विचरेंगे, जिसमें सङ्कें अच्छे प्रकार से नगरी का विभाग कर बनाई गयी हैं, जिसमें वडे ऊँचे ऊँचे भवन अटारियों से युक्त हैं तथा जो सुन्दरी वेश्याओं से सुशोभित है ॥ २१ ॥

**रथाश्वगजसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।**

**सर्वकल्याणसम्पूर्णां हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २२ ॥**

जिसमें बहुत से रथ, घोड़े और हाथी मौजूद हैं और जिसमें सदा तुरही बजा करती हैं और जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ हैं, और जो हृष्टपुष्ट जनों से भरी हुई है ॥ २२ ॥

**आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।**

**सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २३ ॥**

जो वाटिकाओं और उद्यानों से सम्पन्न है; जहाँ नित्य सामाजिक उत्सव, ( विवाह, यज्ञोपवीत कनकेदन, मूँड़न अथवा सार्वजनिक देवोत्सव आदि ) हुआ ही करते हैं, अथवा जहाँ सदा जातीय सभाएँ हुआ करती हैं । ऐसी पिता की राजधानी में, वन से लौट कर कब हम प्रसन्न होते हुए घूमेंगे ॥ २३ ॥

**अपि जीवेद्वशरथो वनवासात्पुनर्वयम् ।**

**प्रत्यागम्य महात्मानमपि पश्येम सुत्रतम् ॥ २४ ॥**

महाराज दशरथ जीवित रहें । जिससे हम लोग वनवास से लौट कर, उन महात्मा सुवत के दर्शन फिर पावें ॥ २४ ॥

**अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्थं कुशलिना वयम् ।**

**निवृत्ते\* वनवासेऽस्मिन्नयोध्यां प्रविशेमहि ॥ २५ ॥**

\* पाठान्तरे—“निवृत्त” ।

और सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक वन से लौट कर, फिर अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ २५ ॥

परिदेवयमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।

तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २६ ॥

महात्मा राजकुमार लक्ष्मण ने दुःखपूरित हृदय से इस प्रकार विजाप करते करते और खड़े खड़े सारी रात बिता दी ॥ २६ ॥

तथा हि सत्यं ब्रुवति प्रजाहिते

३नरेन्द्रपुत्रे ३गुरुसौहृदादगुहः ।

मुमोच बाष्पं व्यसनाभिपीडितो

ज्वरातुरो नाग इव व्यथातुरः ॥ २७ ॥

इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

महाराजकुमार लक्ष्मण ने जो वातें माता पितादि गुरुजनों के स्नेह के बश, प्रजा के सम्बन्ध में गुह से कहीं, वे सब वास्तव में ठीक ही थीं । उनको सुन गुह बहुत दुःखी हुआ और उसके नेत्रों से आँसू बहने लगे । वह उसी प्रकार व्यथातुर हुआ, जिस प्रकार ज्वर आने से हाथी व्यथातुर होता है ॥ २७ ॥

[ नोट—हाथी को ऐसे तो ज्वर कभी आता नहीं और जब आता है, तब उसे बड़ा भारी क्लेश होता है । यहाँ तक कि उसके इस क्लेश की समाप्ति बहुधा मृत्यु ही से होती है । ]

अयोध्याकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—१०—

१ सत्यं—वास्तवं । ( गो० ) २ नरेन्द्रपुत्रे—लक्ष्मणे । ( गो० )

३ गुरुसौहृदात्—गुरुषुपित्रादिषुल्नेहात् ॥

## द्विपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

प्रभातायां तु शर्वर्यां पृथुवक्षा महायशाः ।

उवाच रामः सौमित्रि लक्ष्मणं शुभक्षणम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर जब सबेरा हुआ तब बड़े बक्षःस्थल बाले  
महायस्वी श्रीरामचन्द्र जी शुभलक्षणयुक्त लक्ष्मण जी से बोले ॥१॥

भास्करोदयकालोऽयं गता भगवती निशा ।

असौ सुकृष्णो विहगः कोकिलस्तात् कूजति ॥ २ ॥

देखो, भगवती रात बीत गई, अब सूर्य भगवान् उदय होना ही  
चाहते हैं । देखो न, यह अत्यन्त काली कोयल कूकने लगी ॥ २ ॥

बहिणात्रां च निर्घाषः श्रूयते नदतां वने ।

तराम जाह्वर्णि सौम्य शीघ्रगां सागरङ्गमाम् ॥ ३ ॥

उधर वन में मयूरों का नाद भी सुन पड़ता है, अतः चलो,  
अब इस तेज़ वहने वाली सागरगामिनी भागीरथी गङ्गा जी के  
पार उतर चलें ॥ ३ ॥

विज्ञाय रामस्य वचः सौमित्रिर्मित्रनन्दनः ।

गुह्यमन्त्य सूतं च सोऽतिष्ठद्भ्रातुरग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीराम जी के सामने खड़े हुए सुमित्रानन्दन लक्ष्मण जी ने  
श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन कर, गुह श्रौर सुमंत्र जी को  
बुलाया ॥ ४ ॥

स तु रामस्य वचनं निशम्य प्रतिगृह्ण च ।

स्थपतिस्तूर्णमाहूय सचिवानिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

गुह ने श्रीरामचन्द्र जी के अभिप्राय को जान, तदनुसार उसी समय मंत्रियों को बुला कर, यह आङ्गा दी कि, ॥ ५ ॥

अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवर्तीं शुभाम् ।

सुप्रतारां द्वां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चढ़ने योग्य अच्छे डाँड़ो वाली, मय माझियों के घाट पर शीघ्र एक ऐसी नाव लगवाओ, जो मज़बूत हो और जिसमें बैठ आराम से श्रीरामचन्द्र जी पार जा सकें ॥ ६ ॥

तं निशम्य\* समादेशं गुहामात्यगणो महान् ।

उपेहा रुचिरां नावं गुहाय प्रत्यवेदयत् ॥ ७ ॥

गुह की आङ्गा पा कर, उसके मंत्री ने एक सुन्दर नाव मँगवा ली और गुह से जा कर निवेदन किया कि नाव उपस्थित है ॥ ७ ॥

ततः स प्राञ्जलिर्भूत्वा गुहो राघवमब्रवीत् ।

उपस्थितेयं नौदेव भूयः किं करवाणि ते ॥ ८ ॥

तब हाथ ज्ञाड कर गुह ने श्रीरामचन्द्रजी से कहा कि, हे देव ! नाव तैयार है । आङ्गा दीजिये आपकी और क्या सेवा करूँ ॥ ८ ॥

तवामरसुतप्रख्य तर्तुं सागरगां नदीम् ।

नैरियं पुरुषव्याघ्रं तां त्वमारोह सुव्रत ॥ ९ ॥

हे सुव्रत ! हे पुरुषसिंह ! सागरगामिनो गङ्गा के पार जाने के लिये नाव आ गयी है, अब आप शीघ्र इस पर सवार हूँजिये ॥ ९ ॥

\* पाठान्तरे—“गुहादेशं” ।

अथेवाच महातेजा रामो गुहमिदं वचः ।

कृत कामोऽस्मि भवता शीघ्रमारोप्यतामिति ॥ १० ॥

तब महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने गुह से कहा, आपने हमारे सब काम किये । अब तुरन्त इस पर हमारा सब सामान चढ़वा दो ॥ १० ॥

ततः कलापान्सन्निख्य खड्डौ बद्धा च धन्विनौ ।

जग्मतुर्येन तौ गङ्गां सीतया सह राघवौ ॥ ११ ॥

ऐसा कह दोनों भाई कवच पहिन तरकम और तजवार बांध, सीता सहित तट की ओर चले, जहाँ नाव थी ॥ ११ ॥

राममेवं तु धर्मज्ञमुपगम्य विनीतवत् ।

किमहं करवाणीति सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ १२ ॥

तब सुमंत्र धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास आ कर, सिर नीचा कर और हाथ जोड़ कर बोले—अब मुझे क्या आङ्गा होती है ॥ १२ ॥

ततोऽब्रवीदाशरथिः सुमन्त्रं

स्पृशन्करेणोत्तमदक्षिणेन ।

सुमन्त्र शीघ्रं पुनरेव याहि

राङ्गः सकाशे भव चाप्रमत्तः ॥ १३ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने दहिने हाथ से सुमंत्र को स्पर्श कर कहा कि, हे श्रेष्ठ सुमंत्र ! तुम महाराज के पास लौट कर जाओ और उनके पास बड़ी सावधानी से रहो ॥ १३ ॥

निर्वर्तस्वेत्युवाचैनमेतावद्धि कृतं मम ।

रथं विहाय पदभ्यां तु गमिष्यामो महावनम् ॥ १४ ॥

तुम अब यहाँ से लौट आओ—क्योंकि हमें इतनी ही आवश्यकता थी—अब हम रथ पर सवार न हो, पैदल ही वन को जायगे ॥ १४ ॥

आत्मानं त्वभ्यनुज्ञातमवेक्ष्यार्तः स सारथिः ।

सुमन्त्रः पुरुषव्याघ्रैक्ष्वाकमिदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब सुमन्त्र, जिन्हें श्रीरामचन्द्र जी ने लौटने की आज्ञा दी, आपने को श्रीरामचन्द्र से बिछुड़ा जान, अतः दुःखी हो, उनसे बोले ॥ १५ ॥

नातिक्रान्तमिदं लोके पुरुषेणोह केनचित् ।

तव सञ्चातुभार्यस्य वासः प्राकृतवद्वने ॥ १६ ॥

एक मामूली मनुष्य की तरह, लक्ष्मण और सीता सहित आपके वनवास के सम्बन्ध में, किसी की भी सम्मति नहीं है ॥ १६ ॥

न मन्ये ब्रह्मचर्येऽस्ति स्वधीते वा फलोदयः<sup>१</sup> ।

३मार्द्वार्जवैयोर्वाङ्पि त्वां चेद्वयसनमागतम् ॥ १७ ॥

जब आप जैसे दयालु और सरल सीधे मनुष्य को भी ऐसे दुःख का सामना करना पड़ता है; तब मैं तो यही मानूँगा कि, न तो ब्रह्मचर्य धारण करने से, न वेदाध्ययन से, न दयालुता से और न सरलता से कुछ भी फल होता है। क्योंकि आपने तो ब्रह्मचर्य भी धारण किया, वेदाध्ययन भी किया और आप दयालु तथा सरल भी हैं ॥ १७ ॥

१ फलोदयः—फलसिद्धिर्नास्तीतिमन्ये । २ मार्दवे—दयालुत्व इति यावत् । ३ आर्जवे अकौटिल्ये । (गो०)

सह राघव वैदेहा भ्रात्रा चैव वने वसन् ।

त्वं गतिं<sup>१</sup> प्राप्स्यसे वीर त्रीलोकांस्तु जयन्निव ॥ १८ ॥

हे राघव ! लक्ष्मण और सोता सहित वन में वास करने से आपकी वैसी ही कीर्ति होगी, जैसी कि, तीनों लोकों को जीतने से किसी की हो सकती है ( अर्थात् इस लोक में आपको बड़ी ख्याति होगी ) ॥ १८ ॥

वयं खलु हता राम ये त्वयाप्युपवश्चिताः<sup>२</sup> ।

कैकेया वशमेष्यामः पापाया दुःखभागिनः ॥ १९ ॥

हे राम ! आपसे अलग होते हो हमें अब उस पापिन कैकेयी के अधीन हो रहना पड़ेगा । अतः हम लोगों का तो अब निससन्देह मरण ही है ॥ १९ ॥

इति ब्रुवन्नात्मसमं<sup>३</sup> सुमन्त्रः सारथिस्तदा ।

द्वाष्टा दूरगतं<sup>४</sup> रामं दुःखातों रुद्दे चिरम् ॥ २० ॥

यह कहते हुए अति उद्धिमान सुमंत्र, श्रीरामचन्द्र जी का दूर देश जाना निश्चित जान, दुःखो हो बहुत देर तक रुदन करते रहे ॥ २० ॥

ततस्तु विगते वाष्णे सूतं स्पृष्टोदकंशुचिम्<sup>५</sup> ।

रामस्तु मधुरं वाक्यं पुनः पुनरुवाच तम् ॥ २१ ॥

<sup>१</sup> गतिः—कीर्तिः । ( गो० ) <sup>२</sup> उपवश्चिताः—लक्ताः । ( रा० )

<sup>३</sup> आत्मसमं—अतिबुद्धिमन्मन्त्रियोग्यं । ( रा० ) <sup>४</sup> दूरगतं—दूरदेशा वस्थानवेत्त निश्चित्य । ( रा० ) <sup>५</sup> स्पृष्टोदकंशुचिम्—रोदनस्थाशुचिता हेतुत्वात् स्पृष्टोदकं भाचाम्तं अतएव शुचिं । ( गो० )

कुद्र देर तक रोते रहने के अनन्तर सुमंत्र आचमन कर पवित्र हुए ( रोने से अपवित्रता होती है, उसकी निवृत्ति के लिये आचमन किया ) । तब श्रीरामचन्द्र जी ने मधुरवाणी से बार बार सुमंत्र से कहा ॥ २१ ॥

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये ।

यथा दशरथो राजा मां न शोचेत्तथा कुरु ॥ २२ ॥

( मंत्रियों में ) तुम्हारे समान इक्ष्वाकुवंश का हितैषी मित्र, दूसरा मुझे कोई नहीं देख पड़ता । सो अब तुम ऐसा करना जिससे महाराज मेरे लिये दुःखी न हों ॥ २२ ॥

शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः ।

कामभारावसन्नश्च<sup>१</sup> तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ २३ ॥

क्योंकि महाराज एक तो वृद्ध हैं, दूसरे काम के वेग से सताये हुए हैं । इसीलिये यह बात मैं तुमसे कहता हूँ ॥ २३ ॥

यद्यदाज्ञापयेत्किञ्चित्स महात्मा महीपतिः ।

कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्ग्याः ॥२४॥

वे महात्मा महाराज, कैकेयी की प्रसन्नता के लिये जो जो और जिस तरह से करने को कहें, उसको आदर सहित करना ॥ २४ ॥

एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नरेश्वराः ।

यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते ॥ २५ ॥

<sup>१</sup> कामभारावसङ्गः—कामवेगेन पीडितः । ( रा० ) २ विकाङ्ग्या—

अनादरः तदभावेन आदरेण्यर्थः । ( गो० )

राजा लोग इसी लिये शासन करते हैं कि, सब काम उनकी इच्छानुकूल ही हों ॥ २५ ॥

यद्यथा स महाराजो नालीक॑मधिगच्छति ।

न च ताम्यति॒ दुःखेन सुमन्त्र कुरु तत्था ॥ २६ ॥

हे सुमन्त्र ! महाराज किसी बात से अप्रसन्न न हों और उनके मन में दुःख से ग्लानि उत्पन्न न हो, तुम वैसा ही काम करना ॥ २६ ॥

अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम् ।

ब्रुयास्त्वमभिवाद्यैव मम॑ हेतोरिदं वचः ॥ २७ ॥

जिन महाराज ने कभी दुःख नहीं सहा, उनसे मेरी ओर से प्रणाम कर, यह बात कहना कि, ॥ २७ ॥

नैवाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च मैथिली ।

अयोध्यायाशन्युताश्वेति वने वत्सामहेति च ॥ २८ ॥

राम, लक्ष्मण तथा सीता ने कहा है कि, हमें न तो अयोध्या छूटने का और न वनवास ही का कुछ दुःख है ॥ २८ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः ।

लक्ष्मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसि क्षिप्रमागतान् ॥ २९ ॥

चौदह वर्ष बीतने पर आप लक्ष्मण और सीता सहित मुझे शीघ्र ही फिर अयोध्या में आया हुआ देखेंगे ॥ २९ ॥

१ भलीकं—अप्रियं । ( गो० ) २ ताम्यति—ग्लायति । ( रा० )

३ ममहेताः—मदर्थं, ममप्रतिनिधित्वेनेत्यर्थः । ( गो० )

एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुपन्त्र मे ।

अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः ॥३०॥

इस प्रकार तुम महाराज से, मेरी माता कौशल्या से तथा अन्य रानियों से और कैकेयी से भी बार बार कह देना ॥ ३० ॥

आरोग्यं ब्रूहि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम् ।

सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्षणस्य च ॥ ३१ ॥

माता कौशल्या से प्रणाम पूर्वक मेरी, सीता की और लक्ष्मण की कुशलक्ष्मेम कहना ॥ ३१ ॥

ब्रूयाश्च हि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय ।

आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते॒ पदे॑ ॥ ३२ ॥

महाराज से कहना कि, भरत जी को शीघ्र बुलवा कर और उनके आते ही उनको अपनी इच्छानुसार युवराजपद पर नियुक्त कर दें ॥ ३२ ॥

भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिञ्च च ।

अस्मत्सन्तापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति ॥ ३३ ॥

भरत जी को गोद में बिठा कर और उनको युवराज पद देने से, हमारे वियोग से उत्पन्न सन्ताप का दुःख आपको न होगा ॥ ३३ ॥

भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे ।

तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः ॥ ३४ ॥

१ आर्यस्य—ज्येष्ठस्य । ( रा० ) २ नृपमते—राजेच्छाविषयीभूते ।

( शि० ) ३ पदे—स्थानेस्थाप्य । ( शि० )

भरत से कहना कि, तुम जिस प्रकार महाराज को मानों उसी प्रकार सब माताओं के साथ वरतना और सब को एक दृष्टि से देखना ॥ ३४ ॥

यथा च तव कैकेयी सुमित्रा च विशेषतः ।

तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार तुम्हारी माता कैकेयी है, उसी प्रकार सुमित्रा और विशेष कर मेरी माता कौशल्या को मानना ॥ ३५ ॥

तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता<sup>१</sup> ।

लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्<sup>२</sup> ॥ ३६ ॥

यदि तुम महाराज को प्रसन्न करने के लिये युवराजपद लेना स्वीकार कर लोगे, तो उभयलोक में तुम्हारे लिये सुख की सदा वृद्धि होगी ॥ ३६ ॥

निवर्त्यमानो रामेण सुमन्त्रः शोककर्शितः ।

तत्सर्वं वचनं श्रुत्वा स्नेहात्काङ्क्षस्थमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार जब सुमंत्र को समझा बुझा कर, श्रीरामचन्द्र जी ने बिदा करना चाहा, तब सुमंत्र उनकी बातें सुन, स्नेहवश श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३७ ॥

यदहं नोपचारेण ब्रूयां स्नेहादविक्लवः<sup>३</sup> ।

भक्तिमानिति तत्तावद्वाक्यं त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ३८ ॥

<sup>१</sup> अवेक्षता—स्वीकुर्वता । ( शि० ) <sup>२</sup> एधितु—वर्द्धयितुम् । ( शि० )

<sup>३</sup> विक्लवः—घृष्टः सन् । ( गो० )

हे श्रीरामचन्द्र ! इस समय मैं स्नेहवश जो ढिठाई कर के कहता हुँ, उसे आप बनावट न समझिये, किन्तु भक्ति के आवेश में मेरे मुख से निकली हुई समझ, ( यदि उनमें कोई अनुचित बात भी हो तो ) उसके लिये मुझे ज्ञान कीजिये ॥ ३८ ॥

कथं हि त्वद्विहीनोऽहं प्रतियास्यामि तां पुरीम् ।

तव तावद्वियोगेन पुत्रशोकाकुलामित्र ॥ ३९ ॥

हे श्रीराम ! जो अयोध्यापुरी आपके विक्रोह से, निज पुत्रविक्रोह की तरह शोकाकुल है, उसमें मैं आपके बिना कैसे जाऊँ ॥ ४० ॥

स राममपि तावन्मे रथं दृष्टा तदा जनः ।

बिना रामं रथं दृष्टा विदीर्येतापि सा पुरी ॥ ४० ॥

जो लोग आपको इस रथ में बैठ कर आते हुए देख चुके हैं, वे ही जब इस रथ को आपके बिना खाली देखेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी । वह पुरी ही फट जायगी ॥ ४० ॥

दैन्यं हि नगरी गच्छेदृष्टा शून्यमिमं रथम् ।

सूतावशेषं स्वं सैन्यं हतवीरमिवाहवे ॥ ४१ ॥

इस रथ को खाली देख, अयोध्यावासियों की बैसे ही दीन दशा हो जायगी जैसो कि, युद्ध में रथी के मारे जाने पर, रथीहीन रथ पर केवल सारथी को देख सेना की हो जाती है ॥ ४१ ॥

दूरेऽपि निवसन्तं त्वां मानसेनाग्रतः स्थितम् ।

चिन्तयन्तोऽद्य नूनं त्वां निराहाराः कृताः प्रजाः ॥ ४२ ॥

यद्यपि अयोध्या से आप इतनी दूर चले आये हैं, तथापि वहाँ खालीं को, आप उनके मन के सामने ही खड़े से देख पड़ते हैं ।

आपके लिये चिन्ता करते हुए उन लोगों ने निश्चय ही आज अग्र  
जल तक प्रहण नहीं किया होगा ॥ ४२ ॥

दृष्टं तद्धि त्वया राम यादशं त्वत्प्रवासने ।

प्रजानां सङ्कुलं वृत्तं त्वच्छेकक्लान्तचेतसाम् ॥ ४३ ॥

आप तो वन को प्रस्थान करते समय स्वयं प्रजा की दुर्दशा  
देख चुके हैं कि, लोग किस तरह आपके लिये शोक से छिन्नचित्त  
हो गये थे ॥

आर्तनादो हि यः पौरैर्मुक्तस्त्वद्विप्रवासने ।

सरथं मां निशाम्यैव कुर्युः शतगुणं ततः ॥ ४४ ॥

और किस प्रकार आर्तनाद करते हुए लोग उच्चस्वर से रो  
रहे थे । वे ही लोग जब रथ सूना देखेंगे, तब सौ गुना अधिक रोदन  
करेंगे और दुःखी होंगे ॥ ४४ ॥

अहं कि चापि वक्ष्यामि देवीं तव सुतो मया ।

नीतोऽसौ मातुलकुलं सन्तापं मा कृथा इति ॥ ४५ ॥

फिर मैं अयोध्या जा कर देवी कौशल्या से क्या यह कहँ कि,  
मैं तुम्हारे पुत्र को मामा के घर पहुँचा आया, अब आप दुःखी मत  
हों ॥ ४५ ॥

असत्यमपि नैवाहं ब्रूयां वचनमीदृशम् ।

कथमप्रियमेवाहं ब्रूयां सत्यमिदं वचः ॥ ४६ ॥

मैं ऐसी भूठी बात भी तो नहीं कह सकता । और यदि सत्य  
बोलूँ तो ऐसी अप्रिय बात मुझसे कैसे कही जायगी ॥ ४६ ॥

मम तावन्नियोगस्थास्त्वद्वन्धुजनवाहिनः ।

कथं रथं त्वया हीनं प्रवक्ष्यन्ति हयोत्तमाः ॥ ४७ ॥

मेरे अधीन में रह कर, जिन उत्तम धोड़ों ने आपको तथा  
लक्ष्मण और सीता को अपनी पीठ पर यहाँ पहुँचाया है—वे आपके  
विना इस रथ को किस प्रकार ले चलेंगे ॥ ४७ ॥

तत्र शक्ष्यामयहं गन्तुमयोध्यां त्वदतेऽनघ ।

वनवासानुयानाय मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४८ ॥

है अनघ ! मुझसे तो आपके विना अयोध्या में जाया न  
जायगा । अतः मुझे भी आप वन में अपने साथ लेते चलिये अथवा  
मुझे अपने साथ चलने की आज्ञा दीजिये ॥ ४८ ॥

यदि मे याचमानस्य त्यागमेव करिष्यसि ।

सरथोऽग्निं प्रवेक्ष्यामि त्यक्तमात्रं इह त्वया ॥ ४९ ॥

यदि आप इतना गिङ्गिङ्गाने पर भी मेरा त्याग ही करेंगे, तो  
त्याग करते ही मैं यहीं ( आपके सामने ही ) रथ सहित अग्नि में  
प्रवेश कर भस्म हो जाऊँगा ॥ ४९ ॥

भविष्यन्ति वने यानि तपोविघ्नकराणि ते ।

रथेनैः प्रतिबाधिष्ये तानि सत्त्वानि राघव ॥ ५० ॥

हे राघव ! वन में आपके तप में विघ्न डालने वालों को रथ  
ही से रोक दिया करूँगा । ( अर्थात् रथी वन कर उनका सामना  
किया करूँगा ) ॥ ५० ॥

त्वत्कृते न मयाऽवासं रथचर्याकृतं सुखम् ।

आशंसे त्वत्कृतेनाहं वनवासकृतं सुखम् ॥ ५१ ॥

१ त्यक्तमात्रः—तत्क्षण एवत्यक्तः । ( गो० ) २ रथेन—रथोभूत्वा  
निवर्त्यिष्यामि । ( गो० )

आप ही के कहने से मैंने इस रथ को हाँकने का सुख पाया है। अब मेरी प्रार्थना यह है कि, आप ही के द्वारा आपके साथ वनवास का भी सुख मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ५१ ॥

प्रसीदेच्छामि तेऽरण्ये भवितुं प्रत्यनन्तरः<sup>१</sup> ।

प्रीत्याभिहितमिच्छामि भव मे प्रत्यनन्तरः ॥ ५२ ॥

अतः आप प्रसन्न हूँजिये और मुझे भी अपना पासवान बना कर, अपने साथ बन ले चलिये। आप प्रसन्न हो कर, मुझे अपना पासवान बनाने की आशा दीजिये ॥ ५२ ॥

इमे चापि हया वीर यदि ते वनवासिनः ।

परिचर्यां करिष्यन्ति प्राप्स्यन्ति परमां गतिम् ॥ ५३ ॥

हे वीर ! यदि ये छोड़े वनवास के समय आपकी सेवा में रहेंगे, तो इनको भी परमगति प्राप्त हो जायगी ॥ ५३ ॥

तव शुश्रूषणं मूर्धना करिष्यामि वने वसन् ।

अयोध्यां देवलोकं वा सर्वथा प्रजहाम्यहम् ॥ ५४ ॥

यदि मैं बन में रह कर सिर के बल भी आपकी सेवा कर सकूँ, तो अयोध्या की तो बात ही क्या, स्वर्ग तक को सर्वथा छोड़ दूँगा ॥ ५४ ॥

न हि शक्या प्रवेष्टुं सा मयाऽयोध्या त्वया विना ।

राजधानी महेन्द्रस्य यथा दुष्कृतकर्मणा ॥ ५५ ॥

मुझमें आपके विना, अयोध्या में प्रवेश करने की उसी प्रकार सामर्थ्य नहीं है, जिस प्रकार पापी इन्द्र को, राजधानी अमरावती में प्रवेश करने की सामर्थ्य नहीं होती ॥ ५५ ॥

वनवासे क्षयं प्राप्ते पर्मैष हि मनोरथः ।

यदनेन रथेनैव त्वां वहेयं पुरीं पुनः ॥ ५६ ॥

मेरा मनोरथ तो यह है कि, वनवास की अवधि पूरी होने पर, मैं ही पुनः इसी रथ में विडा कर, आपको अयोध्या ले चलूँ ॥ ५६ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि सहितस्य त्वया वने ।

क्षणभूतानि यास्यन्ति शतसंख्यान्यतोऽन्यथा ॥ ५७ ॥

आपके साथ वन में रहने से ये चौदह वर्ष एक तीण की तरह बीत जायगे, नहीं तो ये चौदह वर्ष सैकड़ों वर्षों के समान जान पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

भृत्यवत्सल तिष्ठन्तं<sup>१</sup> भर्तुपुत्रगते पथिः<sup>२</sup> ।

भक्तं भृत्यं स्थितं स्थित्यां<sup>३</sup> त्वं न मां हातुर्मर्हसि ॥ ५८ ॥

हे भृत्यवत्सल ! मैं अपने मालिक के पुत्र के साथ वन जाने का निश्चय किये हुए हूँ । अतः अपने इस भक्तभृत्य को, जो अपनी मर्यादा में स्थित है, आप कैसे छोड़ कर जा सकते हैं ॥ ५८ ॥

एवं वहुविधं दीनं याचमानं पुनः पुनः ।

रामो भृत्यानुकम्पी तु सुमन्त्रमिदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

१ तिष्ठन्तं—निश्चितत्वदनुगमनंमां । ( गो० ) २ पथि—वन गमने । ( गो० ) । ३ स्थित्यां—मर्यादायां स्थितं । ( गो० )

इस प्रकार बार बार प्रार्थना करते हुए सुमंत्र को देख, भृत्य-  
वत्सल श्रीरामचन्द्र जी ने सुमंत्र से यह कहा ॥ ५६ ॥

जानामि परमां भक्तिं मयि ते भर्तृवत्सल ।

शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः ॥ ६० ॥

हे भर्तृवत्सल ( स्वामिभक्त ) । मैं जानता हूँ कि, मुझमें तुम्हारा  
बड़ा अनुराग है, किन्तु मैं जिस कारणवश तुम्हें अयोध्या भेजता  
हूँ, उसे सुन लो ॥ ६० ॥

नगरीं त्वां गतं द्वाजा जननी मे यवीयसी ।

कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः ॥ ६१ ॥

जब तुम अयोध्या में जाओगे, तब तुम्हें दंख कर, मेरी छोटी  
माता कैकेयी को यह विश्वास हो जायगा कि, राम वन में गया ॥ ६१ ॥

परितुष्टा हि सा देवी वनवासं गते मयि ।

राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम् ॥ ६२ ॥

मेरे वनवास से वह सन्तुष्ट हो जायगो और महाराज के धार्मिक  
और सत्यवादी होने में को वह फिर शङ्का भी न करेगी ॥ ६२ ॥

एष मे प्रथमः<sup>१</sup> कल्पो यदम्बा मे यवीयसी ।

<sup>२</sup>भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्नुयात् ॥ ६३ ॥

मेरा यह मुख्य कर्त्तव्य या प्रयोजन है कि, मेरी छोटी माता  
कैकेयी अपने पुत्र भरत द्वारा पालित समृद्धशाली राज्य पावे ॥ ६३ ॥

मम प्रियार्थं राज्ञश्च सरथस्त्वं पुरीं व्रज ।

सन्दिष्टश्वासि यानर्थास्तांस्तान्व्रयास्तथा तथा ॥ ६४ ॥

१ प्रथमः कल्पः—कर्त्तव्येषु मुख्यः । ( गो० ) २ भरतारक्षितं—भरतेन  
आसमन्तात रक्षितं पुत्रराज्यं । ( गो० )

अतः मेरो प्रसन्नता के लिये तुम अयोध्या को लौट जाओ और  
मैंने जो जो सन्देश, जिस जिसके लिये तुमसे कहे हैं, वे उस उस के  
पास ज्यों के त्यों पहुँचा दो ॥ ६४ ॥

इत्युक्त्वा वचनं सूतं सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ।

गुहं वचनमङ्गीबोऽ रामो हेतुमदब्रवीत् ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने कह कर, बार बार सुमंत्र को  
समझाया और फिर गुह से उत्साहवर्ढक एवं युक्तियुक्त ये वचन  
कहे ॥ ६५ ॥

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।

अवश्यं ह्याश्रमे वासः कर्तव्यस्तद् गतो विधिः ॥ ६६ ॥

हे गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे बन में जहाँ अपने लोग रहते  
हैं, रहना ठीक नहीं । अतएव हम कहीं पर्णकुटी बना कर,  
तपस्त्रियों की भाँति वास करेंगे । (यह गुह की उस बात का उत्तर है,  
जो उसने अपने राज्य का शासन करने को और वहीं रहने के लिये  
श्रीराम जो से कही थी ॥ ६६ ॥

सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्त्रिजनभूषणम् ।

हितकामः पितुभूयः<sup>१</sup> सीताया लक्ष्मणस्य च ॥ ६७ ॥

जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।

तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥ ६८ ॥

१ अङ्गीवं—कुटीवता निवर्तकं । ( शि० ) २ भूयोहितकामः—अतिशयेन  
परलोकसाधन पुण्यकामः सन् । ( गो० )

इस लिये मैं पिता के तथा सोता और लक्ष्मण के अतिशय परजोक्साधन रूप पुण्य के निमित्त यथानियम तपस्त्वयों की भूषण-रूपी जटा बना कर, बन जाऊँगा । इसलिये तुम वरगद का दूध ले आओ । यह सुन गुह ने तुरन्त ही वरगद का दूध ला दिया ॥६७॥६८॥

लक्ष्मणस्यात्मनश्वैव रामस्तेनाकरोजटाः ।

दीर्घबाहुर्नरव्याघ्रो जटिलत्वमधारयत् ॥ ६९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस वरगद के दूध से अपनी और लक्ष्मण की जटा बनाई । महाबाहु और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जटा रख, तपस्त्री बन गये ॥ ६६ ॥

तौ तदा चीरवसनौ जटामण्डलधारिणौ ।

अशोभेतामृषिसमौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७० ॥

उस समय वे दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण चीरवसन और जटा बांधे ऋषियों की तरह शोभित हुए ॥ ७० ॥

ततो वैखानसं मार्गमास्थितः सहलक्ष्मणः ।

त्रतमादिष्टवान् रामः सहायं गुहमब्रवीत् ॥ ७१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वानप्रस्थ हो और ब्रह्मचर्य ग्रहण कर अपने सहायक रूप गुह से बोले ॥ ७१ ॥

अप्रमत्तो बले कोशे दुर्गे जनपदे तथा ।

भवेथा गुह राज्यं हि दुरारक्षतमं मतम् ॥ ७२ ॥

हे गुह ! तुम सेना, कोश, दुर्ग और राष्ट्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहना, क्योंकि मेरी समझ से राज्य की रक्षा करना बड़ी कठिन वात है ॥ ७२ ॥

ततस्तं समनुज्ञाय गुहमिक्ष्वाकुनन्दनः ।  
जगाम तूर्णमव्यग्रः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ७३ ॥

यह कह कर, इद्वाकुनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने गुह का विदा किया और स्वयं चञ्चल चित्त हो शीघ्रता के साथ सीता और लक्ष्मण सहित चल दिये ॥ ७३ ॥

स तु दृष्ट्वा नदीतीरे नावमिक्ष्वाकुनन्दनः ।  
तितीर्षः शीघ्रगां गङ्गामिदं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ७४ ॥

तदनन्तर तट पर नाव को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने तेज़ धार से वहने वाली गङ्गा के पार जाने की इच्छा से, लक्ष्मण जी से कहा ॥ ७४ ॥

आरोह त्वं नरव्याघ स्थितां नावमिमां शनैः ।  
सीतां चारोपयान्वक्षं<sup>१</sup> परिगृह्य मनस्विनीम् ॥ ७५ ॥

हे पुरुषसिंह ! यह जो नाव खड़ी है, इसे पकड़ कर धोरे से मनस्विनी सीता जी को इस पर चढ़ा दो और तुम भी सवार हो लो ॥ ७५ ॥

स भ्रातुः शासनं श्रुत्वा सर्वमप्रतिकूलयन् ।  
आरोप्य मैथिलीं पूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः ॥ ७६ ॥

भाई की ऐसी आज्ञा सुन, तदनुसार ही लक्ष्मण जी ने सीता जी को पहले नाव पर सवार कराया और पीछे स्वयं भी नाव पर सवार हुए ॥ ७६ ॥

<sup>१</sup> अन्वक्षं—अनुपदंत्वं चारोहेति सम्बन्धः । ( गो० )

अथारुरोह तेजस्वी स्वयं लक्ष्मणपूर्वजः ।

ततो निषादाधिपतिर्गुहो ज्ञातीन्<sup>१</sup>चोदयत् ॥ ७७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी स्वयं नाव पर चढ़े ।  
तब गुह ने अपने भाईबंदों को नाव को खे कर, पार ले जाने को  
आशा दी ॥ ७७ ॥

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तां ततः ।

ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्पनः ॥ ७८ ॥

महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भी, नाव पर बैठ, अपने हित के  
लिये ( अर्थात् जिससे कुशलपूर्वक पार हो जाय ) ब्राह्मण और  
क्षत्रियों के जपने योग्य नावारोहण सम्बन्धी वेदमंत्र जपने  
लगे ॥ ७८ ॥

आचम्य च यथाशास्त्रं नर्दीं तां सह सीतया ।

प्राणमत्प्रीतिसंहृष्टो लक्ष्मणश्चामितप्रभः ॥ ७९ ॥

तदनन्तर शास्त्रविधि के अनुसार सीता सहित उन्होंने आच-  
मन कर, श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया । फिर अमितप्रभ लक्ष्मण  
ने भी परम प्रसन्न हो कर श्रीगङ्गा जी को प्रणाम किया ॥ ७९ ॥

अनुज्ञाय सुमन्त्रं च सबलं चैव तं गुहम् ।

आस्थाय नावं रामस्तु चोदयामास नाविकान् ॥ ८० ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुमन्त्र एवं ससैन्य गुह को विदा कर, नाव में  
बैठे और माझियों से नाव खेने को कहा ॥ ८० ॥

ततस्तैशोदिता सा नौः कर्णधारसमाहिता<sup>१</sup> ।

शुभस्फयवेगाभिहता<sup>२</sup> शीघ्रं सलिलमत्यगात् ॥ ८१ ॥

तब माझियों ने उस नाव को चलाया, पतवार और डाँड़ों के ज़ोर से नाव शीघ्रता से जल पर चलने लगी ॥ ८१ ॥

मध्यं तु समनुप्राप्य भागीरथ्यास्त्वनिन्दिता ।

वैदेही प्राञ्जलिर्भूत्वा तां नदीमिदमब्रवीत् ॥ ८२ ॥

जब नाव बीच धार में पहुँची, तब अनन्दिता सीता जी ने हाथ जोड़ कर, श्रीगङ्गा जी की अधिष्ठात्री देवी से यह कहा ॥ ८२ ॥

पुत्रो दशरथस्यायं महाराजस्य धीमतः ।

निदेशं पारयित्वेमं गङ्गे त्वदभिरक्षितः ॥ ८३ ॥

हे गङ्गे ! बुद्धिमान् राजाधिराज दशरथ जो के यह पुत्र श्रीराम-चन्द्र जी, आपसे रक्षित हो, अपने पिता की आङ्गा पालन करें ॥ ८३ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि समग्राण्युष्य कानने ।

भ्रात्रा सह मया चैव पुनः प्रत्यागमिष्यति ॥ ८४ ॥

यदि ये पूरे चौदह वर्ष वनवास के पूरे कर, अपने भाई लेद्दमण और मेरे साथ लौट आवेंगे ॥ ८४ ॥

ततस्त्वां देवि सुभगे क्षेमेण पुनरागता ।

यक्ष्ये<sup>३</sup> प्रमुदिता गङ्गे सर्वकाम समृद्धिनी ॥ ८५ ॥

१ समाहिता—सज्जीकृता । ( वि० ) २ वेगाभिहता—प्रेरिता । ( वि० )

३ यक्ष्ये—पूजयिष्यामि । ( गो० )

तो हे देवी ! हे सुभगे ! मैं स कुशल लौट कर, आपकी पूजा करूँगी । हे गङ्गे ! आप सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली हैं ॥ ८५ ॥

त्वं हि त्रिपथगा देवि ब्रह्मलोकं समीक्षसे ।

भार्या चोदधिराजस्य लोकेऽस्मिन्सम्पदश्यसे ॥ ८६ ॥

हे त्रिपथगे ! आप तो ब्रह्मलोक तक मैं व्याप्त हैं । आप सागर-राज की भार्या के रूप मैं इस लोक में भी देख पड़ती हैं ॥ ८६ ॥

सा त्वां देवि नमस्यामि प्रशंसामि च शोभने ।

प्रामराज्ये नरव्याघ्रे शिवेन<sup>१</sup> पुनरागते ॥ ८७ ॥

गवां शतसहस्रं चं वस्त्राण्यन्नं च पेशलम्<sup>२</sup> ।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदास्यामि तव प्रियचिकीर्षया<sup>३</sup> ॥ ८८ ॥

अतः हे शोभने ! मैं तुम्हें प्रणाम करतो हूँ और स्तुति करती हूँ । जब श्रीरामचन्द्र सकुशल वन से लौट आवेंगे और इन्हें राज्य मिल जायगा, तब तुम्हारी प्रसन्नता के लिये एक लक्ष गौ, सुन्दर वस्त्र और अन्न, मैं ब्राह्मणों को दान करूँगी ॥ ८७ ॥ ८८ ॥

सुराघटसहस्रेण मांसभूतौदनेन च ।

यक्ष्ये त्वां प्रयता देवि पुरीं पुनरूपागता ॥ ८९ ॥

अयोध्यापुरी में लौट कर मैं एक सहस्र घड़े सुरा के और मांस युक्त भात से तुम्हारे निमित्त वलिदान दे कर, तुम्हारी पूजा करूँगी ॥ ८९ ॥

<sup>१</sup> शिवेन—क्षेमेण । ( गो० ) २ पेशलं—रम्यं । ( गो० ) ३ तवप्रिय विकीर्षया—ब्राह्मणमुखेनहिदेवतानंग्रहणमितिभावः । ( गो० )

यानि त्वत्तीरवासीनि दैवतानि वसन्ति च ।  
तानि सर्वाणि यक्ष्यामि 'तीर्थान्यायतनानि' च ॥९०॥

जो देवता आपके तट पर रहते हैं तथा प्रयागादि जो जो तीर्थ और काशी आदिक प्रसिद्ध देवस्थान हैं—उन सब की में पूजा करूँगी ॥ ६० ॥

पुनरेव महावाहुर्मया भ्रात्रा च सङ्गतः ।  
अयोध्यां वनवासात् प्रविशत्वनघोऽनघे ॥ ९१ ॥

हे अनघे ! अतः आप ऐसा आशीर्वाद दें कि; जिससे हमारे और लक्ष्मण के सहित निर्देष महावाहु श्रीरामचन्द्र जी वनवास से निवृत्त हो, अयोध्यापुरी में प्रवेश करें ॥ ६१ ॥

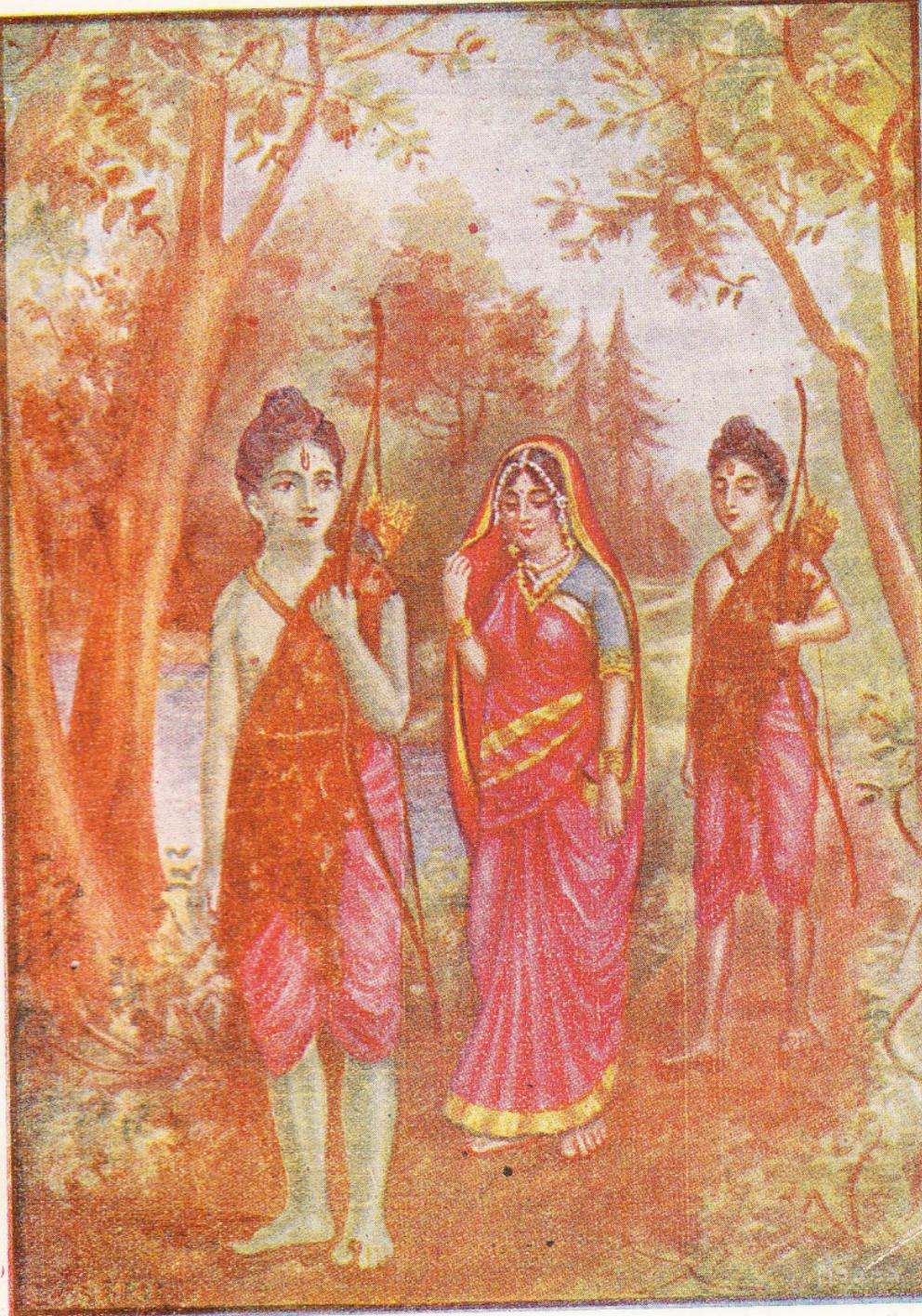
तथा सम्भाषमाणा सा सीता गङ्गामनिन्दिता ।  
दक्षिणा दक्षिणं तीरं क्षिप्रमेवाभ्युपागमत् ॥ ९२ ॥

इस प्रकार अनन्दिता जानकी जी श्रीगङ्गा जी की प्रार्थना कर रही थीं कि, इतने में नाव गङ्गा जी के दक्षिणतट पर शीघ्रता से जा लगी ॥ ६२ ॥

तीरं तु समनुप्राप्य नावं हित्वा नर्षभः ।  
प्रातिष्ठृत सह भ्रात्रा वैदेह्या च परन्तपः ॥ ९३ ॥

तब परन्तप एवं पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने दक्षिण तट पर पहुँच कर और नाव को ढोड़ और लक्ष्मण और जानकी सहित वहाँ से प्रस्थान किया ॥ ६३ ॥

१ तीर्थानि—प्रयागादीनि । (रा०) २ आयतनानि—काइयादीनि । (रा०)



राम वनगमन



अथाब्रवीन्महाबाहुः सुमित्रानन्दवर्धनम् ।

भव संरक्षणार्थाय सजने विजनेऽपि वा ॥ ९४ ॥

और लक्ष्मण जी से कहा कि देखो, चाहे निर्जन स्थान हो चाहे सजन स्थान हो, तुम सीता जी की रखवाली में चौकसी रखना ॥ ६४ ॥

अवश्यं रक्षणं कार्यमद्धेऽपि विजने वने ।

अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु ॥ ९५ ॥

हमको इस अनदेखे विजन बन में अवश्य रक्षा करनी उचित है । अतः हे लक्ष्मण ! तुम तो आगे चलो और तुम्हारे पीछे सीता जी चलें ॥ ६५ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि त्वां च सीतां च पालयन् ।

अन्योन्यस्येह नोऽपि रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ॥ ९६ ॥

तुम्हारे दोनों के पीछे, तुम्हारी रक्षा करता हुआ मैं चलूँगा । हे पुरुषश्रेष्ठ ! अब हमको परस्पर एक दूसरे की रक्षा करनी चाहिये ॥ ६६ ॥

न हि तावदतिक्रान्ताऽपि सुकराऽकाचन क्रिया ।

अद्य दुखं तु वैदेही वनवासस्य वेत्स्यति ॥ ९७ ॥

जिन जानकी जी को आज्ञ तक कोई ऐसा काम नहीं करना पड़ा, जिसके करने में उन्हें बड़ा परिश्रम उठाना पड़ा हो, उन्हीं जानकी जी को आज्ञ वनवास के दुःख जान पड़ेंगे ॥ ६७ ॥

१ अद्धेऽ—अद्धृ पूर्वे । (गो०) २ नः—क्षावयोः । (गो०) ३ न अति

क्रान्ता—न कृतेत्यर्थः । (शि०) ४ असुकरा—अतिप्रथमसाध्या । (शि०)

प्रनष्टुजनसम्बाधं क्षेत्रारामविवर्जितम् ।

विषमं<sup>१</sup> च प्रपातं<sup>२</sup> च वनं हृद्य प्रवेक्ष्यति ॥ ९८ ॥

क्योंकि इस वन में—जहाँ न तो कोई मनुष्य देख पड़ता है, और न खेत अथवा वाटिका देख पड़ती है, तथा जहाँ की ज़मीन भी ऊबड़ खाबड़ है और जहाँ बड़े बड़े खार देख पड़ते हैं, आज उसी वन में जानकी प्रवेश करेंगी ॥ ६८ ॥

श्रुत्वा रामस्य वचनं प्रतस्थे लक्ष्मणोऽग्रतः ।

अनन्तरं च सीताया राघवो रघुनन्दनः ॥ ९९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, लक्ष्मण जी आगे, उनके पीछे जानकी जी और जानकी जी के पीछे श्रीरामचन्द्र जी चले ॥ ६६ ॥

गतं तु गङ्गापरपारमाशु

रामं सुमन्त्रः प्रततं<sup>३</sup> निरीक्ष्य ।

अध्वप्रकर्षाद्विनिवृत्तदृष्टि-

मुमोच वाष्पं व्यथितस्तपस्वी<sup>४</sup> ॥ १०० ॥

उधर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्र को शीघ्र गङ्गा के उस पार जाते देख, उस ओर टकटकी बाँध, देखते रहे और उस ओर से अपनी दृष्टि न हटायो तथा सन्तापयुक्त हो रुदन करने लगे ॥ १०० ॥

स लोकपालप्रतिमप्रभाववां-

स्तीत्वा महात्मा वरदा महानदीम् ।

<sup>१</sup> विषम—निष्ठोऽन्तप्रदेशयुक्तं । ( गो० ) <sup>२</sup> प्रपातः—गर्तः । ( गो० )

<sup>३</sup> प्रततंनिरीक्ष्य—अविच्छिन्नंनिरीक्ष्य । ( गो० ) <sup>४</sup> तपस्वी—सन्तापयुक्तः । ( शि० )

ततः समृद्धाञ्जुभसस्यमालिनः

क्रमेण वत्सान्<sup>१</sup>मुदितानुपागमत् ॥ १०१ ॥

लोकपालों के समान प्रभावशाली महात्मा एवं वरद श्रीरामचन्द्र जो, महानदी—श्रीगङ्गा को पार कर, समृद्ध एवं अन्न से परिपूर्ण तथा प्रमुदित वत्सदेश ( गङ्गा यमुना के बीच प्रयाग प्रदेश का नाम वत्सदेश है ) में जा पहुँचे ॥ १०१ ॥

तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्

वराहमृश्यं पृष्ठतं महारुखम् ।

आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ

वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम्<sup>२</sup> ॥ १०२ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण दोनों भाइयों ने ऋष्य, पृष्ठत, वराह और रुह जाति के चार बड़े बड़े बनैले जानवरों की शिकार खेली । तदनन्तर उन लोगों ने भूख लगने पर ऋष्योचित भोजन कन्दमूल फलादि ला कर खाये और जब सन्ध्या हुई तब एक वृक्ष के नीचे जा टिके ॥ १०२ ॥

अयोध्याकाण्ड का बावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—\*—

१ वत्सान्—वत्सदेशान् । गङ्गा यमुनयोर्मध्ये प्रयाग प्रदेशो वत्सदेशः । (गो०) २ वत्स्यदेशेवराहादीश्चतुरोमहामृगान् हत्वा—खेलनार्थं संताङ्ग । बुभुक्षितौ तौ रामलक्ष्मणौ मेध्यं व्रतिभिः भोक्तव्यं फलादिक मित्यर्थः । (शि०)

## त्रिपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

स तं वृक्षं समासाद्य सन्ध्यामन्वास्य पश्चिमाम् ।

रामो रमयतांश्रेष्ठ इति होवाच लक्ष्मणम् ॥ १ ॥

लोकाभिराम श्रीरामचन्द्र उस वृक्ष के नीचे जा और साथं  
सन्ध्यापासन कर, लक्ष्मण जो से बोले ॥ १ ॥

अद्येयं प्रथमा रात्रियाता जनपदाद्वहिः ।

या सुमन्त्रेण रहिता तां नोत्कण्ठितुमर्हसि ॥ २ ॥

बस्ती के बाहर आ कर और सुमंत्र का साथ छोड़ कर,  
आज यह प्रथम रात है, जो हमें वितानी है ; उसके लिये तुम घब-  
डाना मत अथवा उसके लिये तुम चिन्तित मत होना ॥ २ ॥

जागर्तव्यमतन्द्रिभ्यामद्यप्रभृति रात्रिषु ।

योगक्षेमं हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः ॥ ३ ॥

आज से ले कर प्रत्येक रात्रि में हमें नींद त्याग कर, रात भर  
जागना देंगा ; क्योंकि सीता जी का योगक्षेम हम दोनों ही के  
ऊपर निर्भर है अथवा हम दोनों ही के अधीन है ॥ ३ ॥

रात्रिं कथश्चिदेवेमां सौमित्रे वर्तयामहे ।

उपावर्तामहे भूमावास्तीर्य स्वयमर्जितैः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! यह प्रथम रात है, सो आओ किसी तरह इसे तो व्यतीत करें और खर पत्तों को स्वयं बगेर कर और उनका बिद्धाना बना, उस पर लेट रहें ॥ ४ ॥

स तु संविश्य मेदिन्यां महार्हशयनोचितः ।

इमाः सैमित्रिये रामो व्याजहार कथाः शुभः ॥५॥

जो श्रीरामचन्द्र जी बड़े मूल्यवान् विस्तरों पर लेटा करते थे, वे ही श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर पड़े हुए लक्ष्मण जी से बातालिए करने लगे ॥ ५ ॥

ध्रुवमध्य महाराजो दुःखं स्वपिति लक्ष्मण ।

कृतकामा तु कैकेयी तुष्टा भवितुमर्हति ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही आज महाराज दशरथ जी, बड़े दुःख से सोये होंगे ; किन्तु कैकेयी अपना अमीष पा कर और कृतार्थ हो सन्तुष्ट हुई होगी ॥ ६ ॥

सा हि देवी महाराजं कैकेयी राज्यकारणात् ।

अपि न च्यावयेत्प्राणान्दष्टा भरतमागतम् ॥ ७ ॥

किन्तु कहों ऐसा न हो कि कैकेयी भरत के आने पर, राज्य के लोभ से, महाराज दशरथ को मार डाले ॥ ७ ॥

अनाथश्च हि वृद्धश्च मया चैव विनाकृतः ।

किं करिष्यति कामात्मा कैकेयीवशमागतः ॥ ८ ॥

क्योंकि इस समय महाराज अनाथ हैं, वृद्ध हैं तथा कामी होने के कारण कैकेयी के वशवर्ती हैं । फिर मैं भी वहाँ नहीं हूँ । ऐसी दशा में वे बेवारे अपनी रक्षा कैसे कर सकेंगे ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> राज्यकारणात्—राज्यस्थैर्यकारणात् । ( शि० )

इदं व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्<sup>१</sup> ।  
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः ॥ ९ ॥

इस दुःख को और महाराज की अत्यन्त निस्पृहता को देख, मैं तो समझता हूँ कि, अर्थ और धर्म दोनों से काम ही अधिक प्रबल है ॥ ९ ॥

को हविद्वानपि पुमानप्रमदायाः कृते त्यजेत् ।  
च्छन्दानुवर्तिनं पुत्रं ततो मापिव लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! कोई मूर्ख भी ऐसा न करेगा कि, खो के कहने से मुझ जैसे आङ्गाकारी अपने पुत्र को त्याग दे ॥ १० ॥

सुखी बत सभार्यश्च भरतः केकयीसुतः ।  
मुदितान्कोसलानेको यो भोक्ष्यत्यधिराजवत् ॥ ११ ॥

एकमात्र कैकेयी के पुत्र भरत अपनी पत्नी के सहित सुखी होंगे । क्योंकि ये अति प्रमुदित हो, अयोध्यामण्डल के राज्य का महाराजाओं की भाँति अकेले उपभोग करेंगे ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य राज्यस्य मुख्यमेकं<sup>२</sup> भविष्यति ।  
ताते च वयसाऽतीते मयि चारण्यमास्थिते ॥ १२ ॥

अब भरत अखिल राज्य के मुख्य शासक हो जायगे । क्योंकि महाराज की आयु तो समाप्ति पर है ही और मैं यहाँ बन में चला हो आया हूँ ॥ १२ ॥

१ अतिविभ्रम्—अतिनिस्पृहस्वं । २ छन्दानुवर्तिनं—स्वेच्छानुवर्तिनं ।

( गो० ) ३ मुख्यमेकं—अद्वितीयं, प्रधानभूतं । ( गो० )

अर्थधर्मै परित्यज्य यः काममनुवर्तते ।

एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ॥ १३ ॥

जो मनुष्य अर्थ और धर्म को छोड़ केवल काम का अनुगामी बन जाता है, उस पर तुरन्त उसी प्रकार खिपति पड़ती है जैसे महाराज दशरथ पर ॥ १३ ॥

मन्ये दशरथान्ताय मम प्रवजनाय च ।

कैकेयी सौम्य सम्प्राप्ता राज्याय भरतस्य च ॥ १४ ॥

हे सौम्य ! मैं तो समझता हूँ कि, महाराज को मारने, मुझे वन पठाने और भरत को राज्य दिलाने के लिये ही कैकेयी का, हमारे घर में आगमन हुआ ॥ १४ ॥

अपीदानीं न कैकेयी सौभाग्यमद्मोहिता ।

कौसल्यां च सुमित्रां च सम्प्रबाधेत मत्कृते ॥ १५ ॥

मुझे डर है कि, कैकेयी सौभाग्यमद से मोहित हो, मेरा सम्बन्ध होने के कारण कहीं कौशल्या और सुमित्रा को न सताती हो ॥ १५ ॥

मा स्म मत्कारणादेवी सुमित्रा दुःखमावसेत् ।

अयोध्यामित एव त्वं काल्ये प्रविश लक्ष्मण ॥ १६ ॥

मेरे कारण कौशल्या और सुमित्रा कष्ट भोगने न पावें, अतः तुम कल ही अयोध्या जा पहुँचो ॥ १६ ॥

अहमेको गमिष्यामि सीतया सह दण्डकान् ।

अनाथाया हि नाथस्त्वं<sup>१</sup> कौसल्याया भविष्यसि ॥१७॥

सीता जी को ले कर मैं अकेला ही दण्डकवन को चला जाऊँगा । तुम अयोध्या में पहुँच कर, उस अनाथा कौशल्या के रक्षक बनो अर्थात् रक्षा करो ॥ १७ ॥

क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेष्यमन्याद्यमाचरेत् ।

परिद्वाद्धि<sup>२</sup> धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम् ॥ १८ ॥

क्योंकि उस कैकेयी का बड़ा ही ओङ्का स्वभाव है । वह हम लोगों के वैरभाव से अन्याय कर, तुम्हारी और मेरी माताओं को विष दे देगी ॥ १८ ॥

नूनं जात्यन्तरे कस्मिन्खियः पुत्रैर्वियोजिताः ।

जनन्या मम सौमित्रे तस्मादेतदुपस्थितम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! पूर्व जन्म में मेरी माता ने अवश्य खियों को पुत्रहीन किया था, इस जन्म में उसीका यह फल उसके सामने आया है ॥ १९ ॥

मया हि चिरपुष्टेन दुःखसंवर्धितेन च ।

विप्रयुज्यतां कौसल्या फलकाले धिगस्तु माम् ॥२०॥

मुझे धिक्कार है ! जिस माता ने बड़े बड़े दुःख सह कर मेरा इतने दिनों तक लालन पालन कर मुझे इतना बड़ा किया, उसी

<sup>१</sup> नाथः—रक्षकः । ( गो० ) \* पाठान्तरे—“परिद्वा हि धर्मज्ञे भरते मम मातरम् ” ॥ † पाठान्तरे—“विप्रयुज्यत ॥ ” ॥

माता को, जब उसको मुझसे सुख मिलने का समय आया, तब मैंने उसको त्याग दिया ॥ २० ॥

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदशम् ।

सौमित्रे योऽहमम्बाया दद्वि शोकमनन्तकम् ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! कोई भी सौभाग्यवती लड़ी मुझ से पुत्र को, जो माता की अनन्त कष्ट दे रहा हूँ, कभी उत्पन्न न करे ॥ २१ ॥

मन्ये प्रीति विशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण शारिका ।

यस्यास्तच्छ्रूयते वाक्यं शुक पादमर्देश ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, “मुझसे अधिक मेरी माता की प्रीतिपात्रा वह मैना है, जिसकी यह बात कि, हे सुग्गे ! शत्रु के पैर काढ खाओ, मेरी माता सुनती है” ॥ २२ ॥

शोचन्त्या अल्पभाग्याया न किञ्चिदुपकुर्वता ।

पुत्रेण किमपुत्राया मया कार्यमरिन्दम् ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! वह अल्पभाग्या मेरी माता शोकसागर में निमग्न होगी—हाय ! मैं उसका कुक्र भी उपकार नहीं कर सकता । मुझ से पुत्र से तो वह बिना पुत्र ही के अच्छी थी अथवा मुझ से पुत्र को उत्पन्न कर उसे कथा सुख मिला ॥ २३ ॥

अल्पभाग्या हि मे माता कौसल्या रहिता मया ।

शेते परमदुःखार्ता पतिता शोकसागरे ॥ २४ ॥

निश्चय ही मेरी माता कौशल्या अल्पभाग्या है । इस समय वह मेरे विद्रोह के कारण अत्यन्त दुःखी होने के कारण, शोकसागर में निमग्न लेडी होगी ॥ २४ ॥

एको ह्यहमयोध्यां च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।  
तरेयमिषुभिः क्रुद्धो ननु वीर्यमकारणम् ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! क्रुद्ध होने पर मैं अकेला ही अयोध्या क्या—सारी पृथिवी को वाणों से अपने वश में कर सकता हूँ ; किन्तु यह धर्म-सङ्कुट का समय है, ऐसे समय पराक्रम प्रदर्शन उचित नहीं ॥ २५ ॥

अधर्मभयभीतश्च परलोकस्य चानव ।

तेन लक्ष्मण नायाहमात्मानमभिषेचये ॥ २६ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! ऐसा करने से मुझे पाप और परलोक का भय है। इसीसे मैं ( पराक्रम प्रदर्शनपूर्वक ) अपना अभिषेक नहीं करवाता अर्थात् बलपूर्वक राज्य नहीं लेता ॥ २६ ॥

एतदन्यश्च करुणं विलप्य विजने वने ।

अश्रुपूर्णमुखो रामो निशि तृष्णीमुपाविशत् ॥ २७ ॥

उस निर्जन वन में, उस रात्रि को इस प्रकार के अनेक विलाप कर, आँखों में आँसू भर ( गद्गद कण्ठ होने के कारण ) चुप हो बैठ रहे ॥ २७ ॥

विलप्योपरतं रामं गतार्चिषमिवानलम् ।

समुद्रमिव निर्वेगमाश्वासयत लक्ष्मणः ॥ २८ ॥

जब विलाप कर श्रीरामचन्द्र जी चुप हो गये, तब उन्हें ज्वाला-रहित अग्नि और वेगरहित समुद्र के समान शान्त देख, लक्ष्मण जी समझाने लगे ॥ २८ ॥

१ ननुवीर्यमकारणम्—धर्मदानिकरेक्त्यं वीर्यं साधकत्वेननावलम्बनीयं स्वल्वित्यर्थः । ( गो० )

ध्रुवमय पुरी राजन्योध्याऽयुधिनांवर ।

निष्प्रभा त्वयि निष्क्रान्ते गतचन्द्रेव शर्वरी ॥२९॥

हे योद्धाओं में श्रेष्ठ राजन् ! यह बात तो निश्चित है कि, आपके चले आने पर अयोध्यापुरो तो उसो प्रकार निष्प्रभ हो गयो होगी, जिस प्रकार चन्द्रभा के अल्ल तोने पर रात्रि हो जाती है ॥२९॥

नैतदैपयिकं राम यदिदं परितप्यसे ।

विषादयसि सीतां च मां चैव पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

परन्तु हे राम ! आपका इस प्रकार सन्तप्त होना तो उचित नहीं । क्योंकि आपके सन्तप्त होने से मुझको और सीता को भी विषाद होता है ॥ ३० ॥

न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव ।

मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धूतौ ॥ ३१ ॥

हे राघव ! मैं और सीता आपके बिना एक मुहूर्त भी जीवित नहीं रह सकते, जैसे जल के बिना मछली नहीं जी सकती ॥ ३१ ॥

न हि तातं न शत्रुघ्नं न सुमित्रां परन्तप ।

द्रष्टुमिच्छेयमयाहं स्वर्गं वाऽपि त्वया बिना ॥ ३२ ॥

हे शत्रु को ताप देने वाले ! मैं आपके बिना न तो अपने पिता को, न अपने महादर शत्रुघ्न को और न अपनी जननी माता सुमित्रा ही को देखना चाहता हूँ : यही नहीं, किन्तु मुझे तो आपके बिना स्वर्ग को भी देखने की इच्छा नहीं है ॥ ३२ ॥

ततस्तत्र सुखासीनौ नातिदूरे निरीक्ष्य ताम् ।

न्यग्रोधे सुकृतां शश्यां भेजाते धर्मवत्सला ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण जी के इन वचनों का सुन, आराम से बैठे हुए  
धर्मार्था श्रीरामचन्द्र जी, सीता सहित पास हो बट वृक्ष के नीचे  
लक्ष्मण जी की रची पर्णशश्या को देख, उस पर जा लेटे ॥ ३३ ॥

स लक्ष्मणस्योत्तमपुष्कलं? वचो

निशम्य चैवं वनवासमादरात् ।

समाः समस्ता विदधे परन्तपः

प्रपद्य धर्मं सुचिराय राघवः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार लक्ष्मण जी के उत्तम अर्थ से भरे वचनों को बहुत  
देर तक आदरपूर्वक सुन और वानप्रस्थ आश्रमोचित समस्त  
नियमों का लक्ष्मण सहित यथासमय पालन करना निश्चित कर,  
श्रीरामचन्द्र जी चौदह वर्ष विताने की इच्छा करते हुए ॥ ३४ ॥

ततस्तु तस्मिन्विजने वने तदा

महाबलौ राघववंशवर्धनौ ।

न तौ भयं सम्भ्रममभ्युपेयतुः

यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ॥ ३५ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

तदनन्तर उन महाबली रघुवंशवर्धन दोनों भाइयों ने, उस  
निर्जन वन में भय और उद्वेग वर्जित हो,, वैसे वास किया,  
मानों पर्वतशिखर पर रहने वाले दो सिंह निर्भय हो, वास-  
करते हों ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

— : \* : —

पुष्कलं—पूर्णार्थं । ( गो० )

॥ श्रीः ॥

## श्रीमद्भागवतपारायणसमापनक्रमः

### श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—\*—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।  
प्रथ्याहरत विस्तव्यं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लामस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।  
येषामिन्दोवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।  
देशोऽयं क्षेत्रभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।  
श्रीरङ्गनाथा जयतु श्रीरङ्गश्च वैर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां  
न्यायेन मागेण महीं महीशाः ।  
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं  
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनोयगुणावधये ।  
चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेदाय मेघश्यामलमूर्तये ।  
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपतेः ।  
 भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ५ ॥  
 पितृभक्ताय सततं ग्रातृभिः सह सीतया ।  
 नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ६ ॥  
 त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।  
 सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥  
 सौमित्रिणा च जानक्या चापवाणासिधारिणे ।  
 संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥  
 दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।  
 गृध्रराजाय भक्ताय मुकिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥  
 सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।  
 सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिकाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥  
 हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायने ।  
 वालिप्रमथनायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥  
 श्रीमते रघुवीराय सेतूल्ढितसिन्धवे ।  
 जितराज्ञसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥  
 आसाद्य नगरो दिव्यामभिषिकाय सीतया ।  
 राजाधिराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥  
 मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।  
 सत्वैश्च पूर्वोराचार्यैः सलृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

## माधवसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां  
 न्यायेन मार्गेण महीं महीशाः ।  
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं  
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥  
 काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।  
 देशोऽयं त्रोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥  
 लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।  
 येषामिन्दावरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥  
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाधये ।  
 चक्रवतितनुजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥  
 कायेन वाचा मनमेन्द्रियैर्वा  
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।  
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै  
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

---

## स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां  
 न्यायेन मार्गेण महीं महीशाः ।  
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं  
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥  
 काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।  
 देशोऽयं त्रोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥  
 अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।  
 अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।  
 एकैकमङ्गरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥  
 श्रगवन्नामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।  
 स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥  
 रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।  
 रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥  
 यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्तुते ।  
 वृत्रनाशे समभवत्तते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥  
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणाभ्यने ।  
 चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥  
 यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।  
 अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥  
 अमृतोत्पादने दैत्यान्नतो वज्रधरस्य यत् ।  
 अदितिर्मङ्गलं प्रादातत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥  
 श्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।  
 यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥  
 ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।  
 मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥  
 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा  
     बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।  
 करेऽमि यद्यत्सकलं परस्मै  
     नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥